वैदिक विश्व राष्ट्र का इतिहास

पुरुषोत्तम नागेश ओक

वैदिक विश्व राष्ट्र
का
इतिहास

लेखक

पुरुषोत्तम नागेश ओक

अध्यक्ष

भारतीय इतिहास पुनर्लेखन संस्थान्

एन-128, ग्रेटर कैलाश-1, नयी दिल्ली-48

हिन्दी साहित्य सदन

नई दिल्ली-110005, फोन : 3553624

E-mail : indiabook@rediffmail.com

मूल्य : 75.00
प्रकाशक : **हिन्दी साहित्य सदन**
2 बी.डी. चैम्बर्स, 10/54 देश बन्धु गुप्ता रोड, करोल बाग, नई दिल्ली-110005
email : indiabooks@rediffmail.com
फोन : 23553624
संस्करण : 2008
मुद्रक : संजीव ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली-51

विषय-सूची

अर्पण पत्र

लुप्त या अज्ञात इतिहास का दोष प्रायः साधनों या प्रमाणों के अभाव पर लगाया जाता है तथापि मेरा अनुभव भिन्न है। मुख्य दोष है मानव के स्वभाव का। स्वार्थ और कायरता के कारण मनुष्य या तो ऐतिहासिक प्रमाणों को देखता नहीं, समझता नहीं या समझकर भी उन्हें जानबूझकर टालता रहता है। धार्मिक और सांप्रदायिक बंधन, राजनीति के पाश, कामधन्धा, नौकरी या रोजगार की बेडियाँ आदि के कारण उसे ऐतिहासिक सत्य और तथ्य चुभते हैं या असुविधाजनक प्रतीत होते हैं। अपनी दृढ़ मान्यताओं को धक्का देनेवाले प्रमाणों को बेकार और क्षुद्र समझकर उन्हें टालने का यत्न करना मानव की सामान्य प्रवृत्ति बन जाती है।

इस बात का एक प्रत्यक्ष उदाहरण देखें। पुणे नगर में एक तरुण फ्रेंच शिक्षक पॉटझर (Potser) से मेरा परिचय हुआ। मैंने उससे कहा कि ईसापूर्व समय में फ्रांस में वैदिक संस्कृति थी। इसके मुझे प्रमाण मिले हैं। यह सुनते ही वह यकायक क्रोधित हो उठा। मेरे उक्त कथन से उसके गोरे यौरोपीय ईसाई भावनाओं को ठेस पहुंची। निजी धर्मान्धता के कारण उसकी ऐसी पक्की धारणा बन गई थी कि विश्व के प्रारम्भ से यूरोप में ईसाई धर्म के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? उसके क्रोधित अवस्था में उसे इस बात का भी ध्यान नहीं रहा कि ईसाई पंथ जब केवल १९०० वर्ष प्राचीन है तो उससे पूर्व फ्रांस में कोई और सभ्यता रही होगी। किन्तु ऐसी बातों का विचार करने की अवस्था में वह था ही नहीं। मन को जो कटु लगा उसे ठुकरा दिया। बस बात समाप्त हो गई।

अधिकांश मुसलमान भी साम्प्रदायिक वृत्ति के कारण मुहम्मद स्वयं वैदिक परम्परा के व्यक्ति थे इस बात को मानने में आनाकानी करते हैं।

इसी प्रकार पुरातत्त्वविद्, स्थापत्यविशारद, पत्रकार, पर्यटन-

व्यवस्थापक और इतिहासवेत्ता मेरे उस शोध को मानने से इंकार करते हैं जिसमें मैंने यह कहा है कि ताजमहल आदि ऐतिहासिक इमारतें हिन्दुओं द्वारा बनवाई गई हैं यद्यपि उनका श्रेय मुसलमानों को दिया गया है।

इससे पाठक यह जान लें कि प्रचलित धारणाओं को निराधार सिद्ध करने का साहस अनेक पीढ़ियों में इक्का दुक्का ही कर पाता है, बाकी करोड़ों व्यक्ति तो लकीर के फकीर ही होते हैं।

ऐसे ही चन्द साहसी व्यक्तियों को मेरा यह ग्रन्थ समर्पित है। जैसे संगमनेर नगर के रमेशचन्द्र दीक्षित। सन् १९८३ ईसवी में औरंगाबाद के मराठवाड़ा विश्वविद्यालय ने निजी ग्रन्थवृत्ति से एक स्थानीय मुसलमान प्राध्यापक को पी-एच० डी० की उपाधि दे डाली जबकि उस प्राध्यापक के प्रबन्ध में ऐसा निराधार प्रतिपादन है कि औरंगाबाद नगर इस्लामी आक्रामकों ने ही बसाया और उस नगर की दर्शनीय इमारतें, जलवितरण-व्यवस्था आदि सब उन्हीं की देन हैं। आक्रामक नगर बसाने आते हैं या बने बनाए नगरों को उजाड़कर लूटपाट करने आते हैं?

विश्वविद्यालय के उस ग्रन्थ उपाधि-प्रदान के विरुद्ध रमेशचन्द्र दीक्षित जी ने पांच सौ अन्य व्यक्तियों के नामांकन सहित कुलपति को एक आवेदन भेजा। इस पर विश्वविद्यालय ने उस महम्मदी प्राध्यापक का स्पष्टीकरण मांगकर कुलपति को भेजा। इसी तरह भारत का तथा विश्व का झुठलाया इतिहास सुधारने के लिए विविध प्रकार के आन्दोलन आवश्यक हैं। दीक्षित जी का कार्य उसका एक जगमग उदाहरण है।

जिस प्रकार अनेक छोटी धाराएं मिलकर एक गरजती नदी बन जाती है उसी प्रकार प्रत्येक ग्रन्थ ज्ञान के नन्हे-नन्हे बूंदों का समाहार होता है जो दीर्घकाल तक अनेकानेक दृश्य तथा अदृश्य स्रोतों से लेखक के मस्तिष्क में जमा होता रहता है। यद्यपि छपे ग्रन्थ के रूप में पाठक को ऐसा आभास होता है कि जैसे वह ग्रन्थ लेखक की एकाकी प्रतिभा का ही आविष्कार है। किन्तु निकट सम्बन्धियों का प्रेमपूर्ण सहाय्य एवं सेवा द्वारा प्राप्त जीवन-आधार, मित्रों से प्राप्त सुझाव एवं संदर्भ, जिद्दी विरोधियों के मुख से निकले संकेत, विविध प्रदेशों और प्रसंगों में लेखक के मन एवं बुद्धि पर विविध दृश्यों और ध्वनियों की पड़ी गहरी छाप तथा दानी

शुभचिन्तकों द्वारा मुद्रणार्थ प्राप्त आर्थिक सहाय्य आदि सभी के योगदान से ग्रन्थ बनता है। उक्त प्रकार की समस्त सहायता उपलब्ध कराने वाले व्यक्तियों को भी यह ग्रन्थ कृतज्ञतापूर्वक समर्पित है। उनमें सम्मिलित हैं मेरी धर्मपत्नी साधना एवं कई निकट सम्बन्धी और मित्र।

कुछ दैवी सहाय्य भी होता है। जैसे आंग्लभूमि के बेडफोर्ड नगर में रहने वाले मेरे परिचित वासुदेव शंकर गोडबोले जी ने अपने आप A complete History of the Druids पुस्तक की एक पूरी प्रतिलिपि कराकर मुझे भेज दी जबकि इस पुस्तक का नाम भी मुझे ज्ञात नहीं था और ना ही मैंने वैसी कोई पुस्तक मांगी थी। तथापि वह पुस्तक बड़ी उपयुक्त सिद्ध हुई क्योंकि उस पुस्तक के कई उद्धरण मैं इस ग्रन्थ में दे सका हूं।

उसी प्रकार बुलन्दशहर में मैंने योगायोग से सेवानिवृत्त स्क्वाड्रन-लीडर हंसराजसिंह जी का भाषण सुना, जिसका विषय था कि आधुनिक सेना-संगठन प्राचीन वैदिक प्रणाली के सेना-संगठन पर ही आधारित है। उस व्याख्यान से वैदिक संस्कृति के विश्वप्रसार की मुझे एक और मौलिक कड़ी प्राप्त हो गई। अतः उन दोनों का मैं कृतज्ञ हूं और उन जैसे सहायकों को भी यह ग्रन्थ समर्पित है।

विश्व-इतिहास को मलीन, खंडित और विकृत करने वाले असत्य के ढेरों को साफ करने तथा अज्ञान अन्धकार को नष्ट करने के मेरे व्रत को निभाने में कुछ चंद व्यक्तियों ने समय-समय पर मेरा साथ दिया।

मेरे इस ध्येयकार्य में मुझे कई संकट आते रहे हैं। धमकियाँ, निन्दा, उपहास, सरकारी छत्रछाया में विहरने वाले विद्वानों का विरोध, अग्रगण्य समाचार पत्र एवं वार्ता-संघटनों का असहकार, सामाजिक उपेक्षा, ज्ञात-अज्ञात व्यक्तियों का शत्रुभाव, बहिष्कार, तिरस्कार, असूया इत्यादि।

मेरे ऐतिहासिक लेखों पर और ग्रन्थों पर रोक लगाने हेतु कांग्रेसी नेताओं ने मेरे विरुद्ध अभियोग भी चलाया। किन्तु सत्य इतिहास पर न्यायालय कैसे रोक लगाता जब इतिहास-शिक्षा वैध है? अतः उनका वह प्रयत्न भी असफल रहा। किन्तु यह सब करने में मुझे निजी धन बहाना पड़ता था। ऊपर से हंसी और निन्दा भी सहन करनी पड़ती थी।

सार्वजनिक उपेक्षा, उदासीनता और विरोध के फलस्वरूप मेरे अनोखे इतिहास-संशोधन को बीस वर्ष पूरे हो जाने पर भी मुझे ऐसे धनी और पढ़े-लिखे लोग मिलते हैं जो कहते हैं हमने कभी आपके संशोधन के बाबत कुछ वार्ता तक नहीं सुनी। ऐसे अनेकानेक संकटों में मेरा एकमेव जीवन-आधार एक विदेशी दूतावास के सम्पादक पद की मेरी नौकरी भी समाप्त कर दी गई। ऐसे कई संकट मालिकाओं का सामना करते हुए विश्व के झुठलाए इतिहास का भंडाफोड़ करने का मेरा ज्ञानव्रत एवं सत्यव्रत अविरत और अविचलित चलाते रहने की क्षमता और दृढ़निश्चय जिस परमात्मा ने मुझे प्रदान किया उस भगवान् की कृपा में भी यह ग्रन्थ सादर समर्पित है।

—पुरुषोत्तम नागेश ओक

भूमिका

मानव को उसके ज्ञान का बड़ा दंभ होता है। तथापि 'दिया तले अंधेरा' कहावत के अनुसार मानव को कितनी ही बातें अज्ञात रह जाती हैं। और तो और स्वयं के शरीर का पिछला भाग भी मानव जीवन भर देख नहीं पाता। उसी प्रकार स्वयं का जन्म कहां हुआ, माता-पिता कौन थे, किस मां के गर्भ से वह निकला, किस अवस्था में जन्म हुआ इत्यादि लगभग चार-पांच वर्ष की आयु तक का आंखों देखा हाल भी उसे अज्ञात रह जाता है। क्योंकि उस समय उसकी स्मृति सुप्तावस्था में होती है। बचपन का निजी हाल भी उसे निकट के ज्येष्ठ व्यक्तियों से ही जान लेना पड़ता है।

समस्त मनुष्यजाति के निर्माण के इतिहास का वही हाल है। बालक की तरह मानव भी स्वयं के जन्म का आंखों देखा हाल बताने में असमर्थ है। अतः अधिकांश व्यक्ति, चाहे वे उच्चकोटि के विद्वान् भी क्यों न हों मानवीय जन्म और शैशव-सम्बन्धी अटकलें ही अटकलें बांधते रहते हैं।

किन्तु शिशु जैसे स्वयं के जन्म और शैशव की जानकारी निकट के ज्येष्ठ व्यक्तियों के लिखित टिप्पणियों से ज्ञात कर लेता है ठंठ उसी प्रकार मानव को भी सौभाग्यवश मानवीय जन्म, बचपन और भविष्य की टिप्पणियां ब्रह्माण्डपुराण, महाभारत, भगवद्गीता आदि दैवी ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ ब्रह्माण्डपुराण में लिखा है कि जीव सृष्टि का निर्माण और संहार का यह चक्र अखंड घूमता ही रहता है—

> एतेन क्रमयोगेन कल्पमन्वन्तराणि च।
> सप्रजानि व्यतीतानि शतशोऽथ सहस्रशः।
> मन्वन्तरान्ते संहारः संहारान्ते च संभवः॥
>
> —ब्र० पु० १।२।६।२

इस प्रकार मानवी जीवन के वर्तमान युग का इतिहास भी लाखों वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ। तथापि अधिकांश विद्वान् भी लगभग एक या दो सहस्र वर्षों का इतिहास ही कह पाते हैं।

सामान्यतया हिन्दू जनता पारम्परिक मतप्रणाली के अनुसार यह मानती आ रही है कि प्रारम्भिक मानव का निर्माण प्रत्यक्ष भगवान् ने ही किया, तत्पश्चात् प्राकृतिक प्रजोत्पत्ति प्रारम्भ हुई। पाश्चात्यों के ईसाई धर्म-प्रणाली में वही मान्यता है। बाइबल में लिखा है कि God made man ofter his own image यानि भगवान् ने अपनी जैसी ही मानव की मूर्ति घड़ी। वैदिक संस्कृति में भी तो देवी-देवताओं का चेहरा मानवों जैसा ही बनाया जाता है। कहीं-कहीं परमात्मा की मूर्ति में अनेक हाथ या शिर बताए जाते हैं जो भगवान् की अपार शक्ति के द्योतक हैं।

आधुनिक पाश्चात्य इतिहासकारों ने उनके बाइबल के कथन पर अविश्वास बतलाकर बन्दर से मानव बना, इस अटपटे डार्विन के सिद्धांत को ही अपना लिया है। उनके इस कल्पनानुसार अनेक घने वनों में यदृच्छया विविध कपि-समूहों के मानव-समूह यथा तथा, जहां तहां, जैसे-कैसे होते रहे। उसमें न कोई योजना थी और न ही कोई क्रम।

वैदिक संस्कृति के अनुसार ईश्वर ने मानव का निर्माण बड़ा सोच-समझकर योजनाबद्ध रीति से किया। परमेश्वर-निर्मित वे मानव सुर कहलाए। ईश्वर की सन्तान होने के कारण वे ईश्वर जैसे ही सुन्दर, सुदृढ़, सर्वगुणसम्पन्न, कार्यकुशल, शक्तिमान् और बुद्धिमान् थे।

किन्तु कालगति से वस्तुएं पुरानी, दुर्बल और दोषपूर्ण होती रहती हैं। वही नियम मानवी शरीर और समाज पर भी लागू है। प्रारम्भिक दैवी गुणमंडित मानवों में भी शनैः-शनैः मतभेद बढ़ते गये, कलह होने लगे, फूट पड़ती गई। दैवी मानवों के गुणों का लोप होते-होते उस मूल अविभक्त दैवीगुणोंवाले मानवी कुटुंब के विभक्त समूह गंधर्व, यक्ष, किन्नर, नाग आदि कहलाए। अन्य जो क्रोधी, अत्याचारी और दुष्ट बने वे सुर के उलटे असुर, राक्षस, दैत्य और दानव कहलाए। पाश्चात्य ईसाई-परम्परा में भी वह घटना अंकित है। वे सैटन् (Satan) यानि शैतान को fallen angel (फौलन् एंजल) यानि पतित देव ही कहते हैं।

आगे चलकर कौरव कुल में ही फूट पड़कर भीषण संहार वाला महाभारतीय युद्ध लड़ा गया जिसमें गणमान्य व्यक्तियों में केवल पांच पांडव ही बचे। साम्राज्य खंडित हो गया। कौरव (पांडव) ही अंतिम वैदिक विश्वसम्राट् थे, जिनके पश्चात् वह युद्धोत्तर काल में द्वारका प्रदेश में अण्वस्त्रों के (मूसल) विस्फोट के कारण बचे-कुचे यादवों को वह प्रदेश छोड़कर सुर, असुर, (सीरिया, असीरिया), पुलस्तिन् (पॅलेस्टाईन), जनार्दन (जॉर्डन) आदि प्रदेश में जाकर बसना पड़ा। वे ही आजकल के यहूदी लोग हैं।

तत्पश्चात् छल, बल, कपट या प्रलोभन से वैदिक समाज के कुछ लोग अपने आपको ईसाई मानकर अलग हो गये।

सातवीं शताब्दी से उसी प्रकार दहशत और दबाव, प्रलोभन आदि द्वारा वैदिक समाज के कुछ अन्य लोग अपने आपको मुसलमान मानकर दूसरों से शत्रुत्व भाव रखने लगे।

इस प्रकार मूलतः देवतुल्य, देवनिर्मित मानव-समाज की वर्तमान पतित, विभक्त और टूटी-फूटी अवस्था का इतिहास सारांश में जो ऊपर दिया है उसी के सर्वांगीण प्रमाण इस ग्रंथ के अगले पृष्ठों में प्रस्तुत हैं। मानवीय इतिहास की आरम्भ से अंत तक ऐसी अखंडित, सुसूत्र कथा मालूम कराना मानव की ज्ञानप्राप्ति और प्रगति के लिए बड़ा आवश्यक है।

उस इतिहास का आरम्भ लाखों, करोड़ों वर्ष पूर्व हुआ जब ईश्वर ने प्रथमतः प्रजापति नाम के मानव और मातृकाएं नाम की देवियों का निर्माण किया। ब्रह्मा, स्वायंभव मनु, मरीचि, भृगु, पुलस्त्य, दक्ष, कश्यप, अंगिरा, पुलह, क्रतु, अत्रि, वरुण इत्यादि उन मूल प्रजापति पुरुषों के नाम वैदिक परम्परा में ज्ञात हैं। उनमें से कुछ सप्तर्षि कहलाते हैं क्योंकि उन्होंने ऋषिपरम्परा चलाई।

मातृकाएं वे देवियां हैं जो जगन्माता हैं। इसी कारण उन्हें मातृकाएं कहते हैं। वैदिक धार्मिक विधियों में सूप में चावल के स्तर पर उन मातृकाओं की पुण्यस्मृति में २७ पूगीफल (यानि सुपारी) रखकर उनका पूजन किया जाता है। मरियम्मा (यानि Mother Mary), जगदम्बा, भवानी, संतोषी मां, शीतला माता आदि सब उन्हीं मातृकाओं के रूप हैं।

प्रथम दैवी कन्याओं में सोम की २७ कन्याएं, दक्ष प्रजापति की दश कन्याएं, मनु की इला नाम की कन्या के नाम पाए जाते हैं। प्रथम मनुष्य 'मनु' वैवस्वत कहलाता है क्योंकि विवस्वान् यानि सूर्य का पुत्र वैवस्वत। उसी प्रकार प्रारम्भिक दैवी कन्याएं सोम यानि चंद्रमा की संतानें कहलाती हैं। शास्त्र की दृष्टि से यह यथार्थ भी है। क्योंकि महिलाएं चंद्रमा के समान भावुक, सुन्दर और सौम्य स्वभावी होती हैं। उनका मासिक धर्म भी आदर्श अवस्था में चंद्र की एकेक पृथ्वी-प्रदक्षिणा पूर्ण होने पर आता है। माताओं के गर्भ का बालक भी चंद्रमा के दस फेरे पूर्ण होने पर पृथ्वी पर उतरने के लिए तैयार हो जाता है।

पुरुष विवस्वान् यानि सूर्य जैसा प्रखर और शुष्क होता है अतः न तो उसमें स्त्रियों जैसा कोई मासिक धर्म होता है और न ही कोई गर्भ रहता है।

वैदिक संस्कृति में सूर्य और चंद्र द्वारा बताई गई मानव की उत्पत्ति शास्त्रीय दृष्टि से भी ठीक है। क्योंकि पृथ्वी पर उत्पन्न हुई जीवसृष्टि सूर्य-चंद्र की ही क्रीडा है। अतएव 'यावच्चन्द्रदिवाकरौ' सृष्टि की अन्तिम मर्यादा कही जाती है।

मूल युवा स्त्री और पुरुष, बच्चे, बूढ़े आदि प्रथम मानव पीढ़ी या पीढ़ियां ठेठ भगवान् ने ही निर्माण कर इस कालचक्र और जीवोत्पत्ति परम्परा को चलाया, यह वैदिक धारणा मानवी अनुभव से पूर्णतया खरी उतरती है क्योंकि भेड़, बकरी, कुक्कुट आदि पालन का धन्धा करने वाले व्यक्ति भी आरम्भ में नर, मादा और अंडे रखकर पशु-पक्षियों की निजत वर्धिष्णु करते हैं। भगवान् ने वैसे ही किया। मानव अब भगवान् के प्रतिनिधि के नाते वही प्रथा आगे चला रहा है जो परमपिता परमेश्वर ने उसे सिखलाई है।

उसी प्रकार ईश्वर ने आदि मानवों को १६ विद्या और ६४ कलाओं का ज्ञान दिया। अतः शिल्पकला के प्रवर्तक विश्वकर्मा, संगीत कला के मार्गदर्शक गंधर्व, आयुर्वेद के प्रणेता धन्वन्तरी आदि आद्य गुरुजन वैदिक परम्परा में स्मृत हैं। कृत, त्रेता, द्वापर आदि युगों में वेद और अन्य शास्त्र-शास्त्रविद्या का क्रमशः पतन ही होता रहा। वेद घटते गये। विद्याएं कम

होती गईं और गुरुजनों का ज्ञान, आचार-विचार आदि का स्तर भी घटिया होता गया।

तथापि पाश्चात्य संस्कृति में पले वर्तमान विद्वानों की धारणा इससे पूर्णतया विपरीत है। उनका अनुमान है कि वानर से वनमानव बना और वनमानव किसी प्रकार स्व-उन्नति करता गया। यानि उसने पशु-पक्षियों की ध्वनियों का अनुकरण करते-करते भाषा बना ली, सागर-किनारे पर लकीरें खींचते-खींचते लिपि बना ली।

पाश्चात्य विद्वानों की वह सामान्य धारणा मानव के अपने नित्य के अनुभव से पूर्णतया विपरीत है। पढ़ने वाले शिष्य से पढ़ाने वाले गुरु का ज्ञान कई गुना अधिक होता है। तभी वह शिष्यों को ज्ञानी बना सकता है। अतः वानर वनमानस बना और वनमानस अपने आप प्रगति करता गया, यह धारणा पूर्णतया निराधार है।

ऊपर दिये गये विवरणानुसार मानवी जीवन का आरम्भ पशुयोनि और वन्य जीवन से न होकर पूर्ण ज्ञानी और शक्तिमान् दैवी परिवार के रूप में हुआ।

मानव-समाज आरम्भ में प्रपितामहा, पितामह, पिता, पुत्र, पौत्र, भांजे, भतीजे, चाचा, चाची, मामा, मामी, बुआ, फूफा आदि का एक दैवी अविभक्त कुटुंब था। जैसे आजकल भी ऐसे कई कुटुंब होते हैं, किन्तु जैसे-जैसे पुत्रपौत्रप्रपौत्रादि परिवार बढ़ता गया वैसे-वैसे धीरे-धीरे आलस, शिथिलता, असूया, अज्ञान, अविद्या, दुराचार आदि दुर्गुणों का भी प्रवेश और प्रसार होने लगा जैसा कि अपना आज भी नित्य का अनुभव है। उसके कारण अनबन और असमाधान बढ़ते गये। होते-होते दुष्टता, दुरभिमान, दुराचार, अत्याचार, भ्रष्टाचार में ही सार्थक मानने वाले असुर, दैत्य, दानव, राक्षस, निशाचर कहलाने लगे। उनका नेता बलि बड़ा बलिष्ठ हो गया। अविभक्त दैवी वैदिक परिवार से उसे निकाले बिना किसी को चैन नहीं था। अन्त में अन्य सत्प्रवृत्ति के व्यक्तियों ने हिम्मत कर वामनावतारी विष्णु के नेतृत्व में लड़कर बलि को पराजित कर पाताल तक उसका पीछा किया।

यह सारा इतिहास जहां घटा वह कैलास और मानस सरोवर से

सिंधु नदी तक का प्रदेश था। वहां से बलि को पाताल यानि भूमध्य सागर तट, यूरोप, अफ्रीका और अरब प्रदेश आदि में जाकर रहना पड़ा। अतः दैत्य-दानव-राक्षस परिवार का राज्य उन प्रदेशों में स्थापित हुआ। उस प्राचीन 'देवमनुष्य विरुद्ध राक्षस' संघर्ष के चिह्न इतिहास और भूगोल में आज भी विपुल मात्रा में विद्यमान हैं।

यूरोप में डॅन्यूब, डच्, डॉइटस् दानवमर्क (डेन्मार्क), काश्यपीय सागर (Caspian Sea) इत्यादि दैत्यों के प्राचीन बस्तियों के चिह्न आज भी दृग्गोचर हैं। प्राचीन महाकाय क्रूर प्राणियों को यौरोपीय भाषा में Dinosaur कहा जाता है जो दानवासुर का विकृत रूप है।

वैदिक संस्कृति में जो सुतल, वितल, रसातल, पाताल, धरातल आदि प्राचीन परम्परा के शब्द हैं वे आज भी इतली (Italy), तल अवीव (Tel Aviv), तल अमर्ना (Tel Amerna) आदि नामों में टिके हुए हैं। तल का अर्थ था सागर-स्तर (sea level) जहां शुष्क भूमि परिसीमा होती है। जिस प्रदेश में वे शब्द प्रचलित हैं वहां यूरोप भी संस्कृत 'सुरूप' (खंड) का अपभ्रंश है। उसे 'सुरूप' प्रदेश इसलिए कहा जाता था कि वहां के लोग सुरूपवान् होते हैं।

इस प्रकार अनादि काल से आज तक के इतिहास का अखंड, सुसंगत, तर्कशुद्ध विवरण साधार, सप्रमाण प्रस्तुत करने वाला यह ग्रन्थ वैदिक विश्वराष्ट्र का इतिहास या हिन्दू विश्वराष्ट्र का इतिहास कहा जा सकता है।

इतिहास की ऐसी अनेकानेक गुत्थियां सुलझाने वाला और अनादि काल से आज तक का इतिहास अखंडित रूप में प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ सन् १९८२ में मैंने प्रथम मराठी में प्रकाशित किया। उस ६४१ पृष्ठों के ग्रन्थ का शीर्षक है 'हिन्दू विश्व राष्ट्राचा इतिहास'। उसी विषय का आंग्ल संस्करण भरपूर नए ब्यौरे सहित सन् १९८४ में मैंने प्रकाशित किया। उसमें १३१२ से भी अधिक पृष्ठ हैं। नाम है World Vedic Heritage।

उस ग्रन्थ को हिन्दी वाचकों को उपलब्ध कराने के लिए प्रारम्भिक विचार तो यही था कि आंग्ल ग्रन्थ का ही हिन्दी अनुवाद किया जाए। हिन्दी अनुवाद करने का कार्य कटक के मेरे एक मित्र श्री रघुनाथ महापात्र जी ने

स्वयं सम्पन्न कराने की इच्छा प्रकट की। कटक हिन्दी प्रशिक्षण संस्थान के वे प्रधान आचार्य हैं। उनसे मेरा परिचय योगायोग से तब हुआ जब मैं World Vedic Heritage ग्रन्थ मुद्रण के लिए लगभग ११ महीने से भुवनेश्वर में रह रहा था। वहां से कटक कुछ १५ मील दूरी पर है।

एक सम्मेलन में मैंने दो भाषण दिए। उस समय रघुनाथ जी श्रोताओं में थे।

तत्पश्चात् एक अन्य नगर में उन्होंने मेरा भाषण आयोजित किया। उस सम्बन्ध में उनका निवेदन उन्हीं के शब्दों में मैं यहां उद्धृत कर रहा हूं। रघुनाथ जी लिखते हैं कि "World Vedic Heritage ग्रन्थ के प्रणेता श्रीयुत पुरुषोत्तम नागेश ओक जी से मेरा परिचय जनवरी १९८४ को कटक में उनके भारतीय इतिहास एवं वैदिक संस्कृति विषयक दो भाषणों को सुनकर हुआ। उनके नए तथ्यों के ज्ञान का लाभ ब्रह्मपुर (गंजाम) के विद्वज्जनों को मिले इस हेतु हम लोगों ने उनका एक भाषण उस नगर में आयोजित किया। अध्यापक, डॉक्टर, इंजीनियर, शिक्षाविद्, युवक, छात्र, सरकारी अधिकारी, वयोवृद्ध नागरिक आदि श्रोता पांच सौ से अधिक उपस्थित थे। वैदिक संस्कृति एवं संस्कृत भाषा की उत्कृष्टता एवं विश्वव्यापकता के ओक जी के शोध सिद्धान्त तल्लीनता से साढ़े तीन घंटे सारे सुनते रहे। उस विषय का उनका आंग्ल ग्रन्थ उन दिनों भुवनेश्वर में मुद्रणाधीन था। सारे विश्व को ज्ञानान्वित और विशेषतः भारतीयों को गौरवान्वित कराने वाला वह ग्रन्थ हिन्दी भाषा में भी शीघ्रातिशीघ्र उपलब्ध हो, इस भावना से मैंने ओक जी से अनुवाद की अनुमति मांगी। अनुमति मिलते ही मैंने अनुवाद कार्य आरम्भ कर भी दिया।"

तथापि प्रत्यक्ष में जब अनुवाद मेरे हाथ दिल्ली में आया तो वह बारीक हस्ताक्षर में था। उस हस्ताक्षर की लपेट समझने में मुद्रक को कठिनाई होती। और दिल्ली से कटक बहुत दूर होने से लेखक और अनुवादक में जो वार्तांविमर्श समय-समय पर होना चाहिए वह भी नहीं हो सका। अतः दुर्भाग्यवश मुझे अनुवाद की योजना छोड़ मूल रूप में ही यह ग्रन्थ हिन्दी में लिखना पड़ा। हिन्दी मेरी मातृभाषा तो है नहीं। अतः कुछ झिझक के साथ मैंने यह ग्रन्थ हिन्दी में स्वयं लिखने का प्रयास किया

है। उसमें मैं कहां तक सफल हुआ हूं यह वाचक जानें। मुझे थोड़ा-सा आधार इस बात का था कि यद्यपि मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं थी। मेरे जीवन का प्रदीर्घ भाग हिन्दीभाषी प्रदेशों में ही बीता। वहाँ भी हिन्दी साहित्य या समाचार पत्र पढ़ने की कभी आवश्यकता भी नहीं पड़ी। तथापि हिन्दी बोलचाल से मेरा सतत सम्पर्क रहा। उसी के आधार पर मैंने यह ग्रन्थ स्वयं हिन्दी में लिखने का साहस किया। उसके सिवा अन्य कोई चारा नहीं था। क्योंकि विश्वज्ञान और विश्व-इतिहास के लिए इस ग्रन्थ के विषय का अत्यधिक महत्त्व ध्यान में होते हुए किसी प्रकार से यह ग्रन्थ हिन्दी पाठकों को उपलब्ध कराना आवश्यक है, ऐसी मेरी धारणा थी। उसी प्रबल इच्छा के बल पर मैंने यह ग्रन्थ स्वयं हिन्दी में लिखने का प्रयास किया है। यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है, जिसमें आंग्ल संस्करणों से भी अधिक ब्यौरा सम्मिलित है।

लुप्त इतिहास की अनेकानेक कड़ियां जोड़-जोड़कर मानवी इतिहास का सुसंगत विवरण प्रस्तुत करना इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य है। तथापि इस ग्रन्थ का एक और बड़ा लाभ है। वर्तमान समय में मानवी समाज में अपराध, कुव्यवहार, फूट, संघर्ष और तनाव दिन-प्रतिदिन बढ़ते ही जा रहे हैं। उधर ईसाई, इस्लामी आदि पंथ समस्त मानवों को अपने विशिष्ट दायरे में खसोटकर बांध रखने की होड़ में व्यस्त हैं। इसी प्रकार महा-संहारी अणुशक्ति के अनेकानेक शस्त्रास्त्र सुसज्जित कर एक-दूसरे को धमकाने वाले रशिया और अमेरिका जैसे राष्ट्रों की सारी मानव-जाति को सर्वनाशी युद्ध में घसीट ले जाने की शक्यता दिखाई देने लगी है।

ऐसी अवस्था में समस्त मानवों को उनके मूल वैदिक एकता का इतिहास ज्ञात कराना बड़ा आवश्यक हो गया है। किन्तु विविध विद्यालय और विश्वविद्यालयों में पढ़ाने वाले अध्यापक-प्राध्यापकों को सृष्टि-उत्पत्ति समय से आज तक के मानवीय इतिहास की अखंडित रूपरेखा जैसी इस ग्रन्थ में उद्धृत है वैसी ज्ञात नहीं है। अतः उनसे पढ़े हुए शिष्य-जो सरकारी अधिकारी बनकर अमेरिका और इंग्लैंड से लेकर चीन और जापान तक के राष्ट्रों का सरकारी छप्पे का इतिहास प्रस्तुत करते हैं वह आधा-अधूरा, टूटा-फूटा, भ्रमपूर्ण और शत्रुओं द्वारा लिखा गया इतिहास

है। उदाहरणार्थ चीन, जापान ईजिप्त आदि देशों के वर्तमान इतिहास केवल २५००-३००० वर्षों से ही आरम्भ होते हैं। तत्पूर्व विश्व के सारे देशों में जो वैदिक संस्कृति थी उसका इतिहास लुप्त हो गया है। उसी प्रकार ताजमहल आदि ऐतिहासिक इमारतें इस्लाम-निर्मित हैं यह वर्तमान भारत सरकार की धारणा आक्रामक मुसलमान और अंग्रेज जैसे शत्रुओं द्वारा रूढ़ किया हुआ भ्रम है। भारत सरकार के समान अन्य देशों के सरकारी छप्पे के इतिहास भी सारे खंडित और विकृत हुए पड़े हैं।

ऐसी अवस्था में यदि विश्वभर के विद्यालयों और अन्य संस्थाओं द्वारा सारे मानवों को इस ग्रन्थ में दिए विवरण के आधार पर यदि यह जानकारी दिखाई जा सके कि वे एक ही संस्कृतभाषी वैदिक परिवार के सदस्य हैं और उस परिवार के मूल सिद्धान्तानुसार सीधा, सादा, शुद्ध, सरल, सात्त्विक जीवन एकत्र भाव से व्यतीत करने से ही मानवी जीवन सुख और शांति से बीत सकेगा तो कितना अच्छा होगा।

उस ध्येय हेतु एक जागतिक वैदिक संस्कृति विश्वविद्यालय स्थापन कर उसकी शाखाएँ विविध देश-प्रदेशों में खोलना आवश्यक है।

इस ध्येय में श्रद्धा रखने वाले आर्यसमाज, हरेकृष्ण पंथ (Iskcon) प्रजापिता ब्रह्मकुमारी, विश्व हिन्दू परिषद्, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, हवाई द्वीप में प्रस्थापित शैव सिद्धान्त चर्च, तिरुपति देवस्थानम् आदि कई संगठन हैं। कितना ही अच्छा हो यदि ऐसे कुछ संगठन मिलकर जागतिक वैदिक संस्कृति विश्वविद्यालय स्थापन कर सकें। ऐसे जागतिक इतिहास जागृति केन्द्र के लिए लगभग दस करोड़ रुपयों की निधि आवश्यक होगी।

उस विश्वविद्यायल को जागतिक वैदिक संस्कृति के इतिहास का पाठन और संशोधन का महान् कार्य करना होगा। रोम रामनगर होने का इतिहास, व्हॅटिकन् के पोप वैदिक धर्मगुरु होते थे तब का उनका इतिहास, आंग्ल द्वीप स्थित कॅंटरबरी नगर के आर्चबिशप शंकरपुरी के वैदिक धर्म-गुरु होते थे, तब का इतिहास ऐसे कितने ही बड़े रोचक और महत्त्वपूर्ण विषय हैं जिन पर संशोधन कर हजारों नए ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित करने होंगे।

जो व्यक्ति या संस्थाएँ इस विशाल और पवित्र जागतिक ज्ञानकार्य में प्रत्यक्ष सहाय्य देना चाहें वे मेरे से सम्पर्क करें।

—पुरुषोत्तम नागेश ओक

एन-१२८ ग्रेटर कैलास-१
नई दिल्ली-११००४८

१

क्रोध और आरोप

इस ग्रंथ के लेखन में मेरे मन में दो विरोधी भावों का मिश्रण रहा—एक विपुल सात्विक समाधान और दूसरा गम्भीर विषाद।

सात्विक समाधान इसलिए कि इस ग्रन्थ के द्वारा मैं यह प्रतिपादित कर सका हूं कि मानवी इतिहास के प्रारम्भ से ही संस्कृतभाषा एवं वैदिक संस्कृति का विश्व में प्रचलन था। मानव का निर्माण योजनाबद्ध पद्धति से एक केन्द्रीय दैवी स्रोत से हुआ, न कि जहां-तहां, जैसे-कैसे, घने जंगलों में उछल-कूद करने वाले वानरों से—जैसे कि पाश्चात्य विचारधारा से प्रभावित वर्तमान अधिकारी विद्वद्वर्ग की धारणा है।

और विषाद इस कारण कि बड़ी-बड़ी शैक्षणिक उपाधियों से मण्डित, अधिकारपदों पर प्रतिष्ठित विद्वान् तथा समाचार-पत्रों व समाचार-संस्थाओं के कर्ता-धर्ताओं ने अज्ञान, अकर्मण्यता, भय, धार्मिक या साम्प्रदायिक बन्धन, रोजगार की बेड़ियां, सरकार की चापलूसी, या अकारण शत्रुत्व की भावना से इस तथ्य को जनता से छिपा रखा है कि विश्व-भर में वैदिक संस्कृति तथा संस्कृत भाषा का प्रचलन ईसापूर्व काल में था।

उदाहरण बाइबल ने भी ईसापूर्व विश्व के इस तथ्य का उल्लेख किया है कि सम्पूर्ण विश्व में एक ही भाषा बोली जाती थी (The whole earth was of one language and one speech—genesis 11 : 1) वह भाषा थी संस्कृत तथा समूचे विश्व की इकलौती एक संस्कृति थी—वैदिक।

प्रतिष्ठित यौरोपीय ईसाई विद्वानों को—पुरातत्त्वीय, दार्शनिक, ऐतिहासिक, भाषिक आदि अनेक प्रमाणों से यह तथ्य अवगत हो जाना चाहिए था। सर विलियम् जोन्स, मैक्समूलर, विल्सन आदि विद्वान् भली प्रकार जानते थे कि इटली आदि यौरोपीय देशों में कई शिवलिंग पाये गये

हैं। रोमन सभ्यता के अन्तर्गत घर, महल, नगर आदि के द्वारों पर गणेशजी की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की जाती थी। भारत में विद्यमान वैदिक संस्कृति में यदि वही देवताएं विल्सन, मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों को परिचित हो गई थीं तो उन्होंने उससे यह निष्कर्ष क्यों नहीं निकाला कि यूरोप में भी ईसाईधर्मप्रसार से पूर्व वही संस्कृति थी? उन्हीं की पाश्चात्य परिभाषा में ऐसी अकर्मण्यता पर दोषी व्यक्तियों को कहते हैं कि They were either knowes or fools यानि या तो वे कुटिल थे या बुद्धू।

भारत की विद्यमान वैदिक संस्कृति और ईसापूर्व यूरोप की संस्कृति में जब-जब उन्हें ऐसी अनेकानेक समानताएं दृष्टिगोचर हुईं तब-तब वे उन सब समानताओं को दूरान्वेषी, काकतालीय संयोग मानकर उनकी अपनी यौरोपीय ईसाई अकड़ में नगण्य कहकर ठुकराते रहे।

अयोग्य संशोधन-पद्धति

इस प्रकार विश्व-भर के महत्त्वपूर्ण प्रमाणों के ढेर-के-ढेर आज तक के अधिकांश विद्वज्जन एक-एक अलग-अलग करके काटते रहने के कारण उनसे कोई महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष नहीं निकाल पाये हैं। ऐसे सदोष संशोधन-पद्धति के कारण वे प्रमाण भी नगण्य समझकर दुर्लक्षित होते गए और सामान्य लोग भी मौलिक शोध-सिद्धान्तों से वंचित रह गए।

किसी सुकड़ी पर्वतघाटी में खड़े होकर जैसा एक ही सैनिक विरोधी सेना के आगे बढ़ने वाले एक-एक सिपाही को लील या काट सकता है वैसे ही वर्तमान पाश्चात्य प्रणाली के विद्वान् सारे प्रमाणों को एक-एक करके अग्राह्य घोषित कर देते हैं। वस्तुतः सारे प्रमाणों का सर्वंकष संकलित भाव से मूल्यांकन करना आवश्यक होता है।

कल्पना कीजिए कि किसी वध की घटना पर एक आरोपी को न्यायालय में उपस्थित किया है। उसको अपराधी सिद्ध करने के लिए पुलिस अनेकानेक मुद्दे प्रस्तुत करती है। एक यह कि मृतक और आरोपी का परस्पर वैमनस्य था। इस पर बचावपक्ष यह आक्षेप उठाएगा कि शत्रुता तो अनेकों से होती है तथापि अधिकांश शत्रुता में वध कहां होता है? दूसरा मुद्दा यदि पुलिस इस तरह से कहे कि रक्त के दाग लगा एक छुरा आरोपी के हाथ में पाया

बचावपक्ष यह कह सकता है कि रक्त से लथपथ छुरे हर
गया। इस पर बचावपक्ष यह कह सकता है कि रक्त से लथपथ छुरे हर
खटिक के यहां होते हैं तथापि आरोपी अपराधी होने का वह प्रमाण नहीं।
इस प्रकार यदि एक-एक करके सारे प्रमाणों को निकम्मा घोषित कर दिया
जाए तो किसी आरोपी को दोषी ठहराया ही नहीं जा सकेगा। अतः
विविध प्रमाणों में मिलने वाले सत्य के कण-कण एक सूत्र में पिरोकर एक
संकलित निष्कर्ष पर पहुंचने की आवश्यकता होती है।

सत्यान्वेषण के मार्ग की बाधाएं

धर्म, सम्प्रदाय, राष्ट्र, व्यक्तिनिष्ठा, उपकारों का बोझ और प्रत्येक
के मन में स्थानापन्न हुए विविध दुराग्रह आदि कई अदृश्य बन्धनों के
कारण मौलिक प्रमाणों को निकम्मे समझकर फेंक देने की भावना कइयों
के मस्तिष्क में पनपती रहती है। उदाहरण से इस ग्रन्थ में आगे सिद्ध किया
है कि 'ईशस् कृष्ण' का ही अपभ्रंश 'जीझस् क्रस्त' है। तथापि आज जबकि
सारे विश्व में पश्चिमी ईसाई सभ्यता का प्रभाव है तब कौन ईसाई इस
तथ्य की छानबीन करने के लिए सिद्ध होगा कि जीझस् नाम का कोई
व्यक्ति था ही नहीं? कौन मुसलमान ऐसे प्रस्ताव या प्रमाण का कभी
विचार-विमर्श करेगा जिसमें कुरान या मुहम्मद का महत्त्व कम होता हो।
अतः अन्धा मुड़-मुड़के अपने आपको रेवड़ियां बांटे—कहावत के अनुसार
वर्तमान युग के इतिहासवेत्ता संशोधन का केवल ढोंग रचाकर ईसाई और
इस्लामी अधिकारियों द्वारा पढ़ाए-रटाए निष्कर्षों की ही तोतापंची करने
में जीवन गंवा देते हैं।

सूफी परम्परा को वेदान्ती समझने का षड्यन्त्र

सरकारी शासन चलाने वाले व्यक्तियों का मानसिक झुकाव जिस
तरफ हो उसी के अनुकूल झूठ-पर-झूठ मढ़कर एकढोंगी 'राष्ट्रीय' इतिहास
तैयार करने की प्रवृत्ति वर्तमान भारत में प्रदीर्घ परतन्त्रता के कारण बनी
हुई है। इसका पर्दाफाश कर सत्य के आधार पर ही इतिहास लिखने का
आदर्श इतिहासकारों को अपनाना चाहिए। यह आदर्श पाठकों के सम्मुख
प्रस्थापित करने का इस ग्रन्थ का एक प्रमुख उद्देश्य है।

विगत १२३५ वर्षों में (ई० स० ७१२ से १९४७ तक) प्रथम इस्लामी और तत्पश्चात् ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत कितने झूठ इतिहास में ढेर-के-ढेर भरे गये हैं इसके मैं कुछ उदाहरण यहां नीचे प्रस्तुत कर रहा हूं। जैसे—

(१) शेरशाह ने अपने पांच वर्षों (सन् १५४० से १५४५ तक) के शासन में लाहौर से कलकत्ता, लाहौर से उज्जैन—ऐसी कई सड़कें बनवाईं। और शेरशाह आधुनिक डाक-व्यवस्था का जनक था।

(२) अकबर बड़ा श्रेष्ठ और सद्गुणी सम्राट् था जिसने दीने इलाही नाम का धर्म भी चलाया।

(३) औरंगजेब टोपियां सीकर उसी से निजी खर्च चलाता था।

(४) अमीर खुसरो, अब्दुल रहीम खानखाना और दारा संस्कृत के पण्डित थे।

(५) इस्लामी फकीरों की सूफी विचारधारा ठेठ वेदान्त ही थी।

ऐसे-ऐसे निष्कर्षों का वर्णन या मण्डन जो इतिहासज्ञ करते रहते हैं या तो सत्य इतिहास जानते नहीं या उसे जान-बूझकर मरोड़ देते हैं। इस्लामी सुल्तान हिन्दुओं को कत्ल कर जो मन्दिर आदि भवन नष्ट-भ्रष्ट करते थे उसी में इस्लामी सेना के साथ आने वाले मुसलमान फकीर बस जाते थे। अतः बक्तियार काकी, सलीम चिस्ती, निजामुद्दीन, मुईनुद्दीन चिस्ती आदि सबकी कब्रें मन्दिरों में ही बनी हुई हैं। सुल्तान जैसे ही इस्लामी सेना द्वारा हिन्दू राजाओं पर हमले करते थे इस्लामी फकीर भी इस्लामी गुण्डों की झुण्ड के साथ हिन्दू नागरिकों पर हमला कर इनको कत्ल करते, लूटते, स्त्रियों को भगा ले जाते और जो पकड़ में आते उन्हें जबरन मुसलमान बनाते। इस्लामी फकीरों के भी वैसे ही स्त्रियों से भरे विशाल जनानखाने थे जैसे कि मुसलमान सुल्तानों के। उन्हें भी वही दुराचरण करते पाया जाता था जिसके लिए सुल्तान कुख्यात थे। अन्तर केवल इतना ही था कि सुल्तान के पास जितना धन, सेना और शानशौकत थी इतनी फकीरों के पास नहीं होती थी। न तथाकथित फकीरों के सूफी काव्य-पंक्तियों में काफिरों की कत्ल करना और उनके रक्त में गरमागरम इस्लामी तलवारों को ठण्डी करने की बातें दोहराई जाती थीं। ऐसे काव्य करने वाले या गाने वाले फकीरों को अब्दुर रहीम खानखाना और अमीर

खुसरो जैसे दरबारियों को वेदान्त के तोल का सूफीवाद-प्रतिवादक का सम्मान प्रदान करना या तो घोर अज्ञान का लक्षण है या स्वार्थी निर्लज्जता का। ऐसे विद्वान् वे निष्कर्ष अपने आप तक ही सीमित रखते तो विचार-स्वतन्त्रता के बहाने उस भूल को इसे क्षमा की जा सकती है। किन्तु जब ऐसे व्यक्ति सरकारी अधिकारपद या लौकिक सम्मान का दुरुपयोग कर विविध विद्यालयों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों द्वारा अनेकानेक पीढ़ियों के विद्यार्थी वर्ग के मन में वह झूठा इतिहास कूट-कूटकर भरने के माध्यम बनते हैं तो उन्हें कड़ा दण्ड दिया जाना चाहिए। गत घटनाओं को वर्तमान राजनीति की आवश्यकतानुसार तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करना महापाप है। ताजमहल की शाहजहां वाली कथा वैसा ही एक षड्यन्त्र है।

ताजमहल

जहां किसी का कोई स्वार्थ जुड़ा हो वहां सत्य को ढकने की या 'झूठ' कहकर ठुकराने की सामान्य प्रवृत्ति होती है। इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है ताजमहल। विगत २० वर्षों से मेरे अनेकों शोध-प्रबन्ध, लेख, पुस्तकें और व्याख्यानों द्वारा मैंने यह प्रमाणित किया है कि ताजमहल एक प्राचीन शिवमन्दिर है, न कि १७वीं सदी का मकबरा। यदि इस तथ्य को मान लिया जाए तो अनेक इतिहासवेत्ता, पुरातत्त्वविद्, कला एवं स्थापत्य-विशारद, संग्रहालय, विश्वविद्यालय और पर्यटन विभाग के सरकारी अधिकारी और जनता को ताजमहलसम्बन्धी अपनी-अपनी मान्यता त्याग देनी पड़ेगी। अतः वे सारे लोग ताजमहल के मूल निर्मिती के बारे में बहस करना टालते रहते हैं। इतना ही नहीं अपितु वे शाहजहां ही ताजमहल का निर्माता था इसी बात को अभी भी अट्टहास से निराधार निरन्तर दोहराते रहते हैं। उन्हें डर है कि ताजमहल को शाहजहां के पूर्व की निर्मिती मानने से कहीं उनकी शान में बाधा न आए, विद्वत्ता की प्रतिष्ठा को ग्रहण न लगे, अधिकारपद त्यागने न पड़जाएं और उनके लिखे इतिहास ग्रन्थ निकम्मे न सिद्ध हों। ऐसे क्षुद्र, स्वार्थी भावना के कारण विश्वभर के करोड़ों विद्वज्जन सत्य को ही असत्य सिद्ध करने के उद्योग में व्यस्त रहते हैं। अतः पाठकगण इस तथ्य को भली प्रकार जान लें कि सत्यान्वेषण तो एक जटिल

और संकटमय कार्य तो होता ही है किन्तु खोजे हुए सत्य को सरकार और जनता के गले उतरवाना भी एक महान् कठिन कार्य होता है। सत्य जब असुविधाजनक हो तो उसे मानने की ईमानदारी गिने-चुने व्यक्तियों में ही होती है। अन्य सारे सत्य को असत्य और असत्य को कामचलाऊ सत्य मानकर चलने में ही पुरुषार्थ मानते हैं। अतः सत्य इतिहास लिखना-पढ़ना और पढ़ाने में भी साहस की आवश्यकता होती है।

मेरी चुनौती

इसी प्रकार विश्वभर के सारे ऐतिहासिक (तथाकथित) मकबरे और मस्जिदें सारी हथियाई हुई हिन्दू इमारतें हैं यह मेरा शोधसिद्धान्त है। उस पर मान्यवर इतिहासवेत्ता, अध्यापक-प्राध्यापक, 'इस्लामी कला और स्थापत्य के जानकार', दरगाहों के मुजावर, मस्जिदों के इमाम, प्रमुख समाचारपत्रों के सम्पादक, लन्दन, न्यूयार्क तथा दिल्ली के रेडियो तथा दूरदर्शन के कार्यकर्ता, तथा वे सभी जो इस्लामी कला की महत्ता का गान करते रहते हैं—इन सबको मैंने चुनौती दी है कि वे इस पर मुझसे शास्त्रार्थ करें। तथापि न तो मेरे से शास्त्रार्थ करने की किसी ने हिम्मत की और न ही मेरे निष्कर्षों की सराहना करने की उदारता दिखलाई। ऐसे व्यक्तियों से भारत के या विश्व के सत्य इतिहास के शोध की या सत्य इतिहास पढ़ाए जाने की आशा करना व्यर्थ है।

कई व्यक्ति तो अपने अधिकार-पद के मद में किसी नये शोध-सुझावों का विचारविमर्श करने की मनःस्थिति में होते ही नहीं हैं। उदाहरण मैंने ऑक्सफर्ड और वेब्स्टर्स आंग्ल शब्दकोशकारों को निष्कर्ष लिखा कि अन्य सारी भाषाओं की तरह आंग्ल भाषा भी संस्कृत का ही अपभ्रष्ट या विकृत रूप होने का कारण आंग्ल शब्दों की जहां तक बने संस्कृत व्युत्पत्ति बतलाना योग्य होगा। हाल के आंग्ल या अन्य यौरोपीय शब्दकोशों में ऐसा नहीं किया जाता। तथापि अपने उच्च पद, अधिकार और वेतन के नशे में ऐसे मूलगामी सुझावों को सोचने की मनःस्थिति में वे होते ही नहीं।

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक शिक्षा-विभाग में विगत १०००-१५०० वर्षों के ईसाई एवं इस्लामी मतप्रणाली के दबाव से सत्य इतिहास

को डकर नष्ट किया जा रहा है।
वैदिक आदर्शों की कथाओं में सत्यकाम जाबाली का जो महत्त्व आदर्श है वही एक प्रकार से इस ग्रन्थ का इतिहास क्षेत्र में महत्त्व है। चारों ओर, वर्तमान के आगे-पीछे दृष्टिक्षेप करने पर हृदयविदारण करने वाला दृश्य यह दीखता है कि अधिकांश जन भय, लज्जा, झिझक के कारण या स्वार्थ-लोलुपतावश भुठलाए गये इतिहास का ही समर्थन करना निजी कर्तव्य समझते हैं। जो असहाय महिलाएं किसी तरह जीवन बिताने के लिए वेश्या-व्यवसाय करती हैं उनकी विवशता के कारण स्वशरीर-विक्रय पाप नहीं माना जाना चाहिए। किन्तु जो विद्वज्जन नाम, अधिकार, सम्पदा, जीवन की सुख-सुविधाएं या केवल अधिकारारूढ़ कांग्रेसी नेताओं की कृपा-दृष्टि बनी रहे या वक्रदृष्टि न हो या मुसलमानों को बुरा न लगे इसलिए ताजमहल आदि इमारतों को इस्लाम-निर्मित ही कहते रहने का दुराग्रह करते हुए सारे प्रमाणों के प्रति जानबूझकर आंखें मूंद लेते हैं, उनके इस पापाचरण की तो कोई सीमा ही नहीं रहती। जब सारे विश्व के करोड़ों सुशिक्षित जन मौनव्रत धारण कर या अन्य प्रकार से सत्य इतिहास को दबाए रखने में या कुचल डालने में अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं तो उस धृष्टता और स्वार्थाचरण का तो कहना ही क्या है ! ! ऐसी अवस्था में उन सबको ललकारकर, उनकी बेशुमार शासन-शक्ति, संख्या-शक्ति, सुविधाओं की शक्ति, तिरस्कार-शक्ति, बदला लेने की भावना आदि का विरोध कर सत्य इतिहास का ध्वज लहराना बड़ा दुर्गम कार्य होता है। कई बार ऐसे साहस में विश्व के विरोध में छाती तानकर खड़ा होने वाला वीर चकनाचूर और नामशेष हो जाता है। मेरे पर ईश्वर की कृपा रही कि इस सत्यकामी संघर्ष में मेरी आर्थिक हानि तो बहुत हुई तथापि मेरे जीवनाधार के लिए योगायोग से मुझे कभी किसी से लाचार नहीं होना पड़ा। उसी आधार पर मैं सत्य इतिहास को डटकर प्रस्तुत करता रहा हूं। तथापि दो बड़े-अभाव अवश्य मुझे खटकते रहे कि सार्वत्रिक विरोध के कारण मेरी आवाज सामान्य जनों तक पहुंच ही नहीं पाती थी जैसे कोई एकाकी व्यक्ति चिल्लाकर कुछ कहना चाहता हो और उसी समय बड़े जोरों से बैण्ड-बाजा बजता हो। दूसरी खामी यूं रही कि सारे विश्व का करोड़ों वर्षों का लुप्त

इतिहास विश्व को पुनः उपलब्ध कराने के लिए मुझे १०-२० करोड़ रुपयों वाले लागत के एक विश्व इतिहास-संस्थान की नितान्त आवश्यकता थी। इसके लिए जनसमूहों द्वारा निधि इकट्ठा करने का बीड़ा उठाना आवश्यक था। तथापि वह बन नहीं पाया। मेरे कार्य से प्रभावित कुछ दो या तीन सहस्र व्यक्तियों ने कुछ छोटे-मोटे अनुदान भेजे। उस निधि से मैं इस सत्य-इतिहास प्रणाली का केवल वार्षिक शोध अंक, प्रकाशित कर पाया हूं। उस वार्षिक अंक के लिए और इतिहास पुनर्लेखन संघटन चालू रखने के लिए मैंने अपना सारा जीवन निःशुल्क समर्पित कर रखा है।

किन्तु मुझे तो पांच सहस्र नए शोधग्रन्थ लिखकर करोड़ों वर्षों का लुप्त इतिहास जनताजनार्दन को उपलब्ध कराने के लिए अनेक कोटि रुपयों का निधि आवश्यक है। वह प्राप्त न होने के कारण मेरे जीवन के कई मौलिक वर्ष नाकाम रहे। ऐतिहासिक सन्दर्भ ढूंढ़ना, इतिहास पुनर्लेखन संस्थान के कार्य हेतु भिन्न-भिन्न सरकारी कार्यालयों में चक्कर लगाना आदि के लिए मुझे एक या दो निजी सहायकों की परम आवश्यकता थी। तथापि उन्हें जब तक पूरा वेतन न दिया जाए ऐसे सहायक कहां से आते ? मेरे कई मौलिक ग्रन्थ अप्राप्य होते रहे हैं फिर भी उनके पुनर्मुद्रण के लिए निधि इकट्ठी नहीं हो पायी जबकि गत १०० वर्षों में राजनीति के क्षेत्र में भारतीय जनता लाखों रुपयों की थैलियां बार-बार हजारों नेताओं को अर्पण करती रही है। वह सारा रुपया सैरसपाटों में गुटबाजी में, सिगरेट-चाय में और रिश्वतखोरी में, निरर्थक खर्च होता रहा। उससे जनता को कोई लाभ नहीं हुआ।

उसके बजाए यदि वैसी ही धन-राशियां उस विश्व-इतिहास के लेखन-संशोधन में लगायी जाएं तो उनसे विश्व की जनता को इतिहास का ज्ञान दिलवाकर मूल मानवी वैदिक एकता के प्रति जागृत कराने का महत्त्वपूर्ण कार्य कराया जा सकता है। किन्तु इस ध्येय के प्रति न तो वर्तमान शासन का कोई लगाव है न जनता का।

इस देश में हाल में ५५ कोटि से भी अधिक हिन्दू हैं। वैदिक संस्कृति की अनादि काल से विश्वव्याप्ति की यह गाथा पढ़कर कइयों का हृदय गद्‌गद हो उठेगा। वैदिक संस्कृति को ही अपना सर्वस्व मानने वाली कई

संघटन भी भारत में और विश्व में कार्यरत हैं जैसे भारतीय विद्याभवन,
आर्यसमाज, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, विश्व हिन्दूपरिषद्, विवेकानन्द केन्द्र,
हरेकृष्ण पंथ, प्रजापिता ब्रह्मकुमारी आदि। उनके अपने विद्यालय ग्रन्थालय,
प्रकाशन विभाग भी है। सारे विश्व की मूल संस्कृति लाखों वर्ष तक वैदिक
हो रही है—इस सिद्धान्त से इन सब संघटनओं की नींव दृढ़ हो उठती है।
अतः वे यदि सारे अपनी-अपनी संघटनों द्वारा विश्वव्यापक वैदिक संस्कृति
के इतिहास का लेखन, संशोधन पाठन आदि के लिए एक जागतिक संघटन
खड़ा कर देते तो उसके द्वारा यह विशाल लुप्त इतिहास पुनः सर्वविदित
कराने का कार्य सम्पन्न किया जा सकता है। किन्तु खेद और आश्चर्य की
बात है कि उनमें से किसी की भी इस कार्य के प्रति कोई रुचि या सहाय्य
नहीं है। अतः जागतिक इतिहास को पुनः आरम्भ से अन्त तक सुसंगत
लिखने की मेरी क्षमता सुविधाओं के अभाव से बेकाम पड़ी रही है। इसका
मुझे बहुत रंज है। प्रायः ऐसा ही दुर्भाग्य मेरे अतीत के और भी प्रतिभा-
शाली और कर्तृत्ववान् व्यक्तियों के पल्ले पड़ा था। अतः भवभूति के उद्गार
मैं यहां उद्धृत कर रहा हूं—उत्पत्स्यते मम कोऽपि समान धर्मा। कालो
ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथिवी ॥

२

इस अनोखे संशोधन की प्रेरणा मुझे कैसे प्राप्त हुई?

मेरे ग्रन्थ और भाषण, लेख आदि द्वारा मैं जो इतिहास, उसके विविध तथ्य और संशोधन तन्त्र आदि प्रस्तुत करता हूं वे वर्तमान युग के सारे ही इतिहासज्ञों के कथन से पूर्णतया भिन्न हैं। अतः इस अनोखे संशोधन का रहस्य क्या है? ऐसा प्रश्न मुझसे कुछ जागरूक व्यक्ति समय-समय पर पूछते रहे हैं।

मैंने कभी इतिहास का कोई विशेष अध्ययन भी कभी किया नहीं था और नाही मेरा व्यवसाय कभी इतिहास से सम्बन्धित रहा है। फिर भी मैं इतिहास-सम्बन्धी वर्तमान कल्पनाएं आमूलाग्र बदल सका हूं। मैं यह कैसे कर सका? यह प्रश्न मेरे मन में भी उठा। तब मेरे गत जीवन का सिंहावलोकन करने पर मुझे प्रतीत हुआ कि ऐतिहासिक इमारतों का तल्लीनता से निरीक्षण करते-करते मेरी जो चिन्तन-समाधि लग जाया करती थी उसी से मैं इतना अनोखा और विस्तृत संशोधन कर पाया।

महर्षि व्यास जी के कथनानुसार आमूलाग्र परिवर्तन करने वाले संशोधन के सम्बन्ध में एक प्राकृतिक, आध्यात्मिक नियम इस प्रकार है—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् ऐतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा स्वयं आज्ञापिता भुवा ॥

यानि युग के अन्त में जब वेद या इतिहास लुप्त हो जाता है तो किसी महर्षि के तपस्या द्वारा उसके मन में ब्रह्मदेव की प्रेरणा से (वेद और इतिहास) पुनः प्रकट होते हैं। अतः ई० सन् १९४७ ई० में जब भारत की परतन्त्रता युग समाप्त होने के पश्चात् लुप्त सत्य इतिहास का ज्ञान किसी

के मन में पुन: प्रकट होना अटल था—सो वह मेरे मस्तिष्क से हुआ। सभी महान् आविष्कारों में यही नियम लागू है। सारिणीबद्ध कार्य करने वालों से नहीं, वरन् समाधिस्थ आत्माओं से ही ऐसा मूलगामी संशोधन सम्पन्न होता है।

बड़े शोधों में दैवी प्रेरणा की आवश्यकता

इससे लोगों को एक सबक सीखना चाहिए। उच्च विद्या प्राप्त व्यक्तियों को घिसे-पिटे संशोधन प्रणाली में विश्वविद्यालयीन घेरे में रखने के बजाय बाहरी विशाल विश्व में संचार करते-करते अपने-अपने विशिष्ट रुचि के संशोधन सम्पन्न करने का अवसर दिया जाना चाहिए। अपना दैनन्दिन जीवन चलाते हुए जो बचाकुचा सारा समय तल्लीनता से अपने विशिष्ट संशोधन में लगाता हो उसी को सच्चा संशोधक जानकर ऐसी सुविधाएँ उपलब्ध करा दी जानी चाहिए। जिससे उसकी अन्य व्यग्रताएँ समाप्त हो जाएँ और वह अपना सारा समय और ध्यान अपने विशिष्ट संशोधन में लगा सके।

तल्लीन अवस्था

मेरे अपने बारे में ऐसा हुआ कि बचपन से मुझे ऐतिहासिक किले, बाड़े, महल, मंदिर, नगर के कोट, सुरंग आदियों में टहलने की बड़ी रुचि हुआ करती थी। भूख, प्यास आदि सब भूलकर मैं उन खण्डहरों में प्रात: से शाम तक तल्लीन अवस्था में दीवारों के एक सिरे से दूसरे सिरे तक और ऊपर, नीचे, अन्दर, बाहर आदि को बारीकी से देखते हुए वहां के कक्ष, दीवारों की मोटाई, ऊंचाई, चौड़ाई, रंग, प्लास्टर, टूट-फूट आदि पर विचार करता रहता। घर लौटने पर शय्या पर लेटे-लेटे, भोजन करते हुए या कार्यालय में काम करते हुए भी मेरे मस्तिष्क में इतिहास के ही विचार चलते थे।

अनोखे एवं भाराक्रान्त प्रश्न

कोई ३५ वर्षों तक उन विशाल भवनों को और अन्य ऐतिहासिक स्थलों को देखने के उपरान्त एवं अविश्रान्त रूप से उन्हें बार-बार समझने

की चेष्टा से, कुछ अनोखे एवं भाराक्रान्त प्रश्न मेरे मस्तिष्क में उठे। वे थे—

(१) मुझे आश्चर्य इस बात का हुआ कि भारत के अधिकांश ऐतिहासिक भवनों के निर्माण का श्रेय मुस्लिमों को ही दिया जा रहा है, जबकि वे केवल सन् १२०६ से ही यहाँ के शासक हुए थे।

(२) उस समय के पहले के सारे ऐतिहासिक भवनों का क्या हुआ?

(३) पाण्डवों से लेकर पृथ्वीराज तक के ४००० वर्षों में भारत के हिन्दू राजा, महाराजा, सम्राट्, सेठ, साहूकार, जागीरदार आदि सारे रहते कहां थे? क्या उन दिनों कोई विशाल किला, बाड़ा या महल था ही नहीं?

(४) यदि उनके कोई भवन थे ही नहीं तो प्राय मुसलमानों के आक्रमण का उद्देश्य क्या था? क्या वीरान भूमि, खुले मैदान और खेतों पर कब्जा करना ही उनका उद्देश्य था क्या?

(५) यदि आक्रमणकारी मुस्लिमों ने अपने अनिश्चित एवं बदलती राजसत्ता के होते हुए भी, इतने सारे विशाल भवन बनवाए, तब यहां के हिन्दू राजाओं ने वैसे अपना कोई महल क्यों नहीं बनवाया, जबकि वे भारतभूमि के स्वयं स्वामी थे?

(६) फिर यदि विदेशी मुस्लिमों ने ही ऐतिहासिक इमारतें बनवाई तो क्या उन्होंने केवल मकबरे ही मकबरे और मस्जिदें ही मस्जिदें बनवाईं?

(७) क्या यह सम्भव है कि जिनके सिर पर अपनी छत तक नहीं थी, उन्होंने गरीबों के लिए प्रचुर संख्या में मस्जिदें तथा अन्य सभी के लिए प्रचुर संख्या में मकबरे ही बनाए?

(८) और जब मुस्लिम शासक राज्य छीनने के लिए अपने पिता, भाई, गद्दीनशीन सुल्तान या अपने आप्तेष्टों की हत्या किया करते थे, तो क्या यह सम्भव है कि वे उन हत्या किए गये लोगों के शवों के लिए विशाल महल यानि मकबरे बनाते गये, जबकि उनके जीवित होते हुए उनके लिए कोई महल नहीं बनवाए?

(९) मुझे इसका भी बड़ा आश्चर्य हुआ कि किसी सुल्तान ने अपने बीवी-बच्चों के लिए महल बनवाया ही नहीं जबकि मरवाए गये विरोधियों के शवों के लिए वह महल बनवाया गया !!

(१०) यदि मकबरे और मसजिदें वास्तव में बना भी दी हों तो उनके रेखांकन, खर्चे के हिसाबी कागजात आदि कहां लुप्त हो गये ?

(११) वे यदि इतने सधे हुए स्थापत्य-विशारद एवं निर्माणकारी थे तो मुस्लिम स्थापत्यकला के वे ग्रन्थ हैं कहां ?

(१२) गद्दी हड़पने के लिए भाई-भाई, पिता-पुत्र या अन्य इस्लामी सम्बन्धियों में जो लड़ाइयां लड़ी जातीं उनमें राजकोष रिक्त हो जाया करता। तदुपरान्त मृत विरोधियों के शवों के लिए विशाल भवन (मकबरे) बनवाने के लिए धन बचता ही कहां था ?

भारी भूल

दिन-रात इतिहास की विविध शंकाओं से व्याप्त मेरा मन बहुत व्याकुल हो उठा। मेरे मन की शांति डल गई। इतिहास के वे जटिल प्रश्न कांटों जैसे मेरे मन में चुभते रहने के कारण भूख और नींद लगना भी कठिन हो गया। अतः मैं इस्लामी तवारिखें पढ़ने पर विवश हो गया। जैसा कोई धूप में चलने वाला व्यक्ति थका, मांदा, प्यासा घर लौटते ही घटाघट पानी पीने लगता है वैसा मैं अपनी शंकाओं का उत्तर पाकर मनःशांति हेतु इस्लामी इतिहास ग्रन्थ पढ़ने लगा। दो अंग्रेज ईलियट और डाउसन ने अनेकानेक इस्लामी इतिहासों के विस्तृत अवतरणों के अनुवादों का संकलित योग्य टिप्पणियों सहित एक आठ खण्डों का ग्रन्थ प्रकाशित किया है। और भी कई आंग्ल लेखकों ने विशिष्ट इस्लामी तवारिखों के अनुवाद किए हैं।

उनको पढ़ने के पश्चात् मेरा पूर्ण समाधान हुआ। मुझे शांति प्राप्त हुई। कुतुबमीनार, ताजमहल, लालकिला, फतेहपुर सीकरी आदि मसजिद, मकबरे, किले, बाड़े जिन सुल्तान बादशाहों के कहे जाते हैं उनके समय के किसी भी दरबारी कागजातों में या तवारिखों में उन इमारतों का नाम तक नहीं है तो बनवाने का ब्यौरा कहां से होगा ? इस प्रकार मैंने

इतिहास क्षेत्र का सबसे बड़ा शोध यह लगाया कि विश्व में जितनी प्रेक्षणीय इमारतें मुसलमानों की कही जाती हैं, वे सारी कब्जा की गई अन्य लोगों की इमारतें होने के कारण इस्लामी स्थापत्य का सारा सिद्धान्त ही गलत है। इस प्रकार आज तक सारे इतिहासज्ञ, स्थापत्यविशारद और पुरातत्त्वविदों की इस्लामी स्थापत्य-सम्बन्धी सारी पुस्तकें और साहित्य निराधार सिद्ध करने वाला न भूतो न भविष्यति ऐसा मेरा शोध था। स्वयं ईश्वर ने ही मुझे इतिहास पढ़ाने के फलस्वरूप मैं इतना महान् शोध कर सका।

बुद्धिभ्रंश

झूठ इतिहास सिखलाए जाने की परम्परा के कारण वर्तमान विद्वज्जनों का विशाल मात्रा में बुद्धिभ्रंश हुआ है। शत्रुलिखित झुठलाए इतिहास को ही वे सत्य मानकर चल रहे हैं। अतः विश्व के पत्रकार, इतिहासज्ञ पुरातत्त्वविद् तथा संशोधक ताजमहल और अन्य इमारतों को इस्लाम-निर्मित मान बैठने के कारण वे इमारतें इस्लाम-निर्मित नहीं हैं यह मेरा शोध स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं या क्रोधित हो उठते हैं। मेरा शोध मानना वे एक प्रकार की व्यावसायिक मानहानि समझते हैं। जैसे मानो किसी ने उनकी ऐतिहासिक धारणाओं पर उन्हें उल्लू या मूर्ख कह दिया हो। इससे पाठक देखें कि सत्य को ठुकराकर झूठ को ही चिपट बैठने की मानव में कितनी गहरी प्रवृत्ति होती है। किसी नये शोध को न्याय एवं सत्य की निष्पक्ष भूमिका से देखने वाले व्यक्ति अत्यल्प मिलते हैं। अधिकांश तो यह देखते हैं कि कौनसा पक्ष मानने में उनके स्वार्थ की पूर्ति होगी या उन्हें नीचा नहीं देखना पड़े।

आहत इतिहास

ऐतिहासिक इमारतों के निर्माताओं के बाबत फैला हुआ यह विभ्रम इस बात का एक मोटा उदाहरण है कि परतन्त्रता में राष्ट्रीय इतिहास को किस प्रकार क्षति पहुंचती है। भारत पर सन् ७१२ ई० के मुहम्मद बिन कासिम के आक्रमण से पराया शासन आरम्भ हुआ जो सन् १९४७ अंग्रेजी

शासन के समाप्ति तक रहा। उन १२३५ वर्षों के प्रदीर्घ परदास्यता में
भारत का इतिहास अनेकानेक प्रकारों से खंडित तथा विकृत बना पड़ा है।

इतिहास का पुनर्गठन

महर्षि व्यास जी के बाबत 'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्वं' ऐसा कहा जाता है। यानि मानवी जीवन के तमाम विषयों की विवेचना व्यास जी ने की है। मुझे उस उक्ति की सत्यता का अनुभव यह हुआ कि व्यास जी के कथनानुसार परतन्त्रता के युग के समाप्ति के पश्चात् चंद ही वर्षों में मेरी तपस्या के कारण मेरे मन में दैवी प्रेरणा से ही लुप्त इतिहास के विविध रहस्य प्रकट होने लगे। यद्यपि इतिहास के विषय से मेरा विद्यालयीन या व्यावसायिक सम्बन्ध नहीं था सर्वप्रथम इस विषय के मेरे विस्तृत शोध लेख पुणे का मराठी समाचार पत्र 'केसरी' दिसम्बर १६, २२, २६, १९६१ के (तीन) अंकों में "मध्ययुगीन भवनांचे निर्माते कोण ?" इस शीर्षक से छपे। उससे मेरा धैर्य थोड़ा बढ़ा। भगवान् कृष्ण ने जैसे कंस असुर को ललकार कर सिंहासन से खींचकर उसका वध किया था उसी प्रकार जन-मानस के सिंहासन पर आरूढ़ एक आसुरी ऐतिहासिक सिद्धान्त को ललकार कर मैंने कुचल डाला था। विद्वज्जनों में रूढ़ एक बड़ी धारणा को चुनौती देने वाला तीन किश्तों का एक प्रदीर्घ लेख मेरे जैसे (उस समय तक) अनजान व्यक्ति का लिखा लेख जब केसरी के तीन अंकों में लम्बे चौड़े पृष्ठ भर-भरकर प्रकाशित हुआ तब मुझे विश्वास हो गया कि उस प्रबन्ध में उद्धृत तथ्य और तर्कों का आकर्षण इतना प्रभावी था कि उससे पाठक दंग रह जाता था।

आगे चलकर सन् १९६३ के दिसम्बर २९ से ३१ (All India History Congress) अखिल भारतीय इतिहास परिषद् का २५ वर्षीय रौप्यमहोत्सवी अधिवेशन जो योगायोग से पुणे में ही था, उसमें उसी विषय का अपना प्रदीर्घ प्रबन्ध मैंने आंग्ल भाषा में प्रस्तुत किया। उससे बड़ी खलबली मची। कुछ चंद निष्पक्ष विद्वानों ने मेरे सिद्धान्त का स्वागत किया। उन्होंने स्वीकृत किया कि मेरे तर्क और निष्कर्ष अकाट्य हैं। तथापि महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों में पढ़ाने वाले लगभग सारे ही

विद्वान् या तो डर, असूया आदि भावना से चुप रहे या मेरे निष्कर्षों से निन्दागर्भित आलोचना करते रहे। उस अनुभव से मुझे प्रतीत हुआ कि अपनी आन्तरिक मान्यताओं का खण्डन करने वाले सिद्धान्त को स्वीकार करने की उदारता या निष्पक्षता अत्यल्प व्यक्तियों में होती है। अधिकांश तो निजी अहंभाव और स्वार्थ के कारण सत्य को कुचलकर असत्य को ही शिरोधार्य करना स्वकर्तव्य समझते हैं।

वहीं से इतिहास-संशोधन का मेरा ध्येय निश्चित हुआ। मानो जैसे सत्य इतिहास का पुनरुद्धार करने के लिए ही मेरा अवतार हुआ था। मैं जब २८ वर्ष का था तब मुझे एक भारतीय ज्योतिषी ने कहा भी था कि मैं आगे चलकर एक श्रेष्ठ, प्रसिद्ध व्यक्ति बनने वाला हूँ। वह भविष्य मुझे बड़ा अटपटा और अविश्वसनीय-सा लगा क्योंकि मुझमें श्रेष्ठ होने के कोई गुण न मुझे न दूसरे किसी को दिखाई दिए थे। किन्तु उस भविष्य-वेत्ता ने और भी दो अकल्पित भविष्यवाणियाँ की थीं जो आगे चलकर पूरी सही निकलीं। अतः मेरे मन में ऐसी शंका आने लगी कि यदि अन्य दो बातें सही निकलीं तो मेरे भविष्य के बाबत उसने जो कहा था वह भी सम्भवतः सही निकलेगा। और मैं जब ४२ वर्ष का हुआ तो मेरे मन में उन नयी, अनोखी, धारणाओं का गठन होने लगा कि सारे विश्व में एक भी प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर या प्रेक्षणीय इमारत मुसलमानों की नहीं है, सारा लूट का माल है। अतः इस्लामी स्थापत्य कला नाम की कोई कला है ही नहीं। सारे विश्व के विद्वानों को चुनौती देने वाला वह मेरा सिद्धान्त दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक लोगों को जंचने लगा। तत्पश्चात् मेरा दूसरा विश्वव्यापी सिद्धान्त तैयार हुआ कि अनादि काल से ईसाई धर्म-प्रसार तक सारे विश्व में वैदिक संस्कृति और संस्कृत भाषा ही प्रसृत थी। और एक मेरा अनोखा सिद्धान्त है कि ईसा नाम का कोई व्यक्ति हुआ ही नहीं। वह एक कपोलकल्पित व्यक्ति है। इस प्रकार वर्तमान विश्व के सारे इतिहासज्ञ, पत्रकार, स्थापत्य-विशारद, पुरातत्त्वविद् आदि सभी का सारा साहित्य निराधार सिद्ध कर एकदम नये तथ्यों पर पूरे इतिहास को पलटा देने की प्रज्ञा मुझे परमात्मा ने दी और सारे विद्वानों के विरोध में खड़े होने का साहस भी मुझे दिया। यह एक बड़ा चमत्कार था। किन्तु मेरे जन्मपत्री से एक ज्योतिषी ने मुझे उसकी पूर्वकल्पना दी थी।

३

वर्तमान विद्वज्जन कितना इतिहास जानते हैं ?

वर्तमान परिस्थिति ऐसी है कि विद्वान् कहलाने वाले व्यक्ति भी सत्य इतिहास कम ही जानते हैं। कुछ चंद सनावली ग्रौर वंशावली के ज्ञान को ही इतिहास माना जा रहा है। प्राचीन जगत् की मुख्य-मुख्य बातें तो अज्ञात ही रह जाती हैं। यह सिद्ध करने के लिए कि इतिहासकार कहलाने वाले व्यक्ति भी असली इतिहास नहीं जानते हम इस अध्याय में उनसे कुछ प्रश्न पूछना चाहेंगे जैसे किसी शिशु की प्रगति विद्यालय में ठीक प्रकार हो रही है या नहीं यह ग्राजमाने के लिए शिशु के पालक उससे कुछ प्रश्न पूछते हैं।

प्राकृतिक विलोप

जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपने परिवार में अपने पिता, दादा या नाना आदि दो पीढ़ी तक के ही नाम जानता है, उससे पहले के पूर्वजों के नाम तक नहीं जानता; ठीक उसी प्रकार ग्राज का विश्व केवल मुहम्मद तथा क्राइस्ट तक की बातें ही जानता है। वह भूल गया है कि ईसापूर्व काल में समग्र-विश्व में वैदिक संस्कृति का ही प्रसार था तथा संस्कृत सबकी एक-मात्र भाषा थी। इतिहास नष्ट होने का एक प्राकृतिक कारण यह है कि जैसी-जैसी एक-एक नई पीढ़ी उत्पन्न होती रहती है पिछली पीढ़ियों का इतिहास अपने-आप मिटता रहता है।

ईसाई और इस्लामी ढिंढोरे

सामान्य व्यक्ति जैसे पिता और दादा—ऐसे दो ही पीढ़ियों का इतिहास जानता है ठीक उसी प्रकार वर्तमान जन भी मुहम्मद और ईसा इन दो ही

पीढ़ियों का इतिहास जानते हैं।

उस प्राकृतिक कारण के अतिरिक्त मुसलमान ग्रौर ईसाई लोगों ने महाभारतीय युद्ध के पश्चात् जो टूटी-फूटी वैदिक संस्कृति विश्व में बची थी उसके अवशेष शत्रुता के भाव से जानबूझकर नष्ट कर दिए।

तत्पश्चात् ग्ररब ग्रौर यौरोपीय लोगों ने ऐसी ढोंगी ढोल पीटने शुरू कर दिए कि उलुघ बेग जैसे मुसलमानों ने ग्रौर गैलीलिग्रो, कोपरनिकस, न्यूटन ग्रादि ईसाई व्यक्तियों ने ही तरह-तरह के नये शोध लगाकर बड़े-बड़े ज्ञानदीप जलाए ग्रौर ग्रप्रगत मानव को प्रगति का रास्ता दिखलाया।

अन्धकार-युग क्यों ?

यूरोप के इतिहास में ग्रंधकार युग बडा विश्रुत है। किन्तु उस ग्रज्ञान ग्रंधकार का कारण कोई नहीं जानता। यह स्वाभाविक भी है। जैसे व्यक्ति उसकी ग्रपनी पीठ नहीं देख पाता वैसा ही ईसाई ग्रौर मुसलमान बने व्यक्ति समझ नहीं पाए हैं कि धर्म-परिवर्तन ही उन सब के ग्रज्ञान का मूल कारण था। वैदिक संस्कृति तो ज्ञानमय थी। महाभारतीय युद्ध के पश्चात् वह टूटफूट गई। तत्पश्चात् गुरुकुल की शिक्षा ग्रौर वैदिक शासन खंडित ग्रवस्था में सीरिया, ग्रसीरिया, बैबिलोनिया ग्रादि राज्यों में चलती रही। किन्तु तत्पश्चात् जो लोग ईसाई बनाए गए ग्रौर सातवीं शताब्दी से मुसलमान बनाए गए वे उस शिक्षा से दूर हो जाने के कारण पाश्चात्य देशों में ग्रज्ञान का ग्रंधकार फैल गया। ग्रतः ज्ञान-प्रसार का ईसाई ग्रौर इस्लामी धर्मों का दावा झूठा है। पादरी ग्रौर मुल्ला-मौलवियों की ग्राज्ञाग्रों को शिरोधार्य समझकर उल्टे-सीधे प्रश्न पूछकर शंकासमाधान करवा लेने की कोई गुंजाइश नहीं थी।

इस प्रकार जब ग्रज्ञान फैल जाता है तो कई प्रश्नों का उत्तर ही नहीं मिल पाता। ऐसे ही कुछ जटिल प्रश्नों के नमूने हम नीचे उद्धृत कर रहे हैं जिनसे पाठक ग्रनुमान लगा सकते हैं कि हमें जो इतिहास पढ़ाया जाता है वह किस तरह खंडित ग्रौर विकृत हो गया है।

बैचलर उपाधि

ग्राजकल की विद्याक्षेत्र की (Bachelor) 'बैचलर' उपाधि का ही

'अविवाहित-पुरुष' किन्तु इस
उदाहरण लें। इस शब्द का मूल अर्थ है
उपाधि के अधिकांश धारक विवाहित होते हैं। किसी भी विश्वविद्यालय ने
अबतक यह नहीं सोचा कि शिक्षित व्यक्ति विवाहित होने पर 'ब्रह्मचारी'
उपाधि को 'मॅरिडमॅन' यानि 'विवाहित पुरुष' में बदल जाना चाहिए।
महिलाओं को जो 'बॅचलर' उपाधि दी जाती है वह तो और भी हास्यास्पद
है क्योंकि आंग्ल भाषा में किसी स्त्री को कभी (बॅचलर) 'ब्रह्मचारी' नहीं
कहा जाता। अविवाहित स्त्री को भी 'बॅचलर' नहीं कहते। तब फिर कला,
वाणिज्य, धर्मशास्त्र, वैद्यक आदि सभी विद्याशाखाओं में उत्तीर्ण होने वालों
को बॅचलर (ब्रह्मचारी) क्यों कहा जाता है? विश्वविद्यालयों जैसे अत्युच्च
विद्याकेन्द्र भी यह गलती क्यों करते हैं? क्या कोई विद्वान् इस प्रश्न का
उत्तर दे पायेंगे?

मॅट्रिक्युलेशन

अब हमारा दूसरा प्रश्न देखें। 'मॅट्रिक्युलेशन' यह विद्यमान सालाना परीक्षा का नाम है। क्या कोई विद्वान् यह कह सकेगा कि उन सारे अक्षरों का अर्थ क्या है? आंग्ल शब्दकोश भी उसका आधा-अधूरा विवरण देकर बात को टाल देता है। उस शब्दकोश के अनुसार लॅटिन शब्द 'मॅटिम्' यानि 'रजिस्टर' से मॅट्रिक्युलेशन' शब्द बना तथापि उसमें कुल पांच अक्षर क्यों? यदि अर्थ यह हो कि सालाना परीक्षा उत्तीर्ण होने वालों के नाम एक रजिस्टर (बही) में लिखे जाते हैं तो और परीक्षाओं में भी तो वही होता है। तो सारी परीक्षाओं को 'मॅट्रिक्युलेशन' क्यों नहीं कहते? इस प्रश्न का उत्तर भी आजकल के विद्वान् नहीं दे पायेंगे क्योंकि उन्हें सही इतिहास का ज्ञान नहीं है। इतिहास के नाम पर उन्हें केवल कुछ वंशावली और सनावलियों का ढांचा ही रटाया जाता है। अध्यापक से लेकर विश्व-विद्यालय के कुलगुरु तक सारे मॅट्रिक्युलेशन परीक्षा उत्तीर्ण होते हैं। तथापि उन्हें 'मॅट्रिक्युलेशन' का अर्थ नहीं आता।

मुसलमानों से लड़ाई किंतु ईसाइयों से लड़ाई नहीं, ऐसा क्यों?

भारत पर अरबी, ईरानी, तुर्की, पठान आदि कई कौमों ने हमले किए।

तथापि उन किसी से भी भारतीय राजाओं का युद्ध छिड़ता था तो कहा जाता था कि मुसलमानों से युद्ध हो रहा है। किन्तु जब पोर्चुगीज, आंग्ल, फ्रेंच आदि यौरोपीय जमातों से भारतीय राजाओं का युद्ध होता था तो ईसाइयों से युद्ध हो रहा है—ऐसा नहीं कहते हैं? यह भेद क्यों? क्या इस प्रश्न का उत्तर कोई आधुनिक विद्वान् दे सकेगा?

ईसा के जीवन की मनगढ़न्त कहानी?

ईसा के जीवन की पूरी कहानी मनगढ़न्त होते हुए भी अधिकांश वर्तमान विद्वान् उसी कल्पित जीवनी की रट लगा रहे हैं। ईसाई विद्वान् स्वयं स्वीकार करते हैं कि ईसा का जन्मसमय मध्यरात्रि का नहीं है, जन्म-तारीख भी २५ दिसम्बर नहीं है और इसकी सन् की गणना भी ईसा के जन्मदिन से नहीं हुई है। कइयों का कहना है कि ईसापूर्व चौथे वर्ष में ईसा का जन्म हुआ। यदि ईसापूर्व चौथे वर्ष में ईसा का जन्म हुआ था तो उसे ईसापूर्व क्यों कहा जाता है? उसी वर्ष को ईसवी सन् का पहला वर्ष क्यों माना नहीं गया? ईसा की जन्मतिथि २४/२५ दिसम्बर की मध्यरात्रि है या २५/२६ दिसम्बर की मध्यरात्रि? यदि उस दिन को वास्तव में ईसा का जन्म होता तो उसी दिन से नववर्ष माना जाता। किन्तु नववर्ष तो जनवरी १ से प्रारम्भ होता है। अतः वर्षगणना में या तो १ सप्ताह की त्रुटि है या ५१ सप्ताहों की विकृति है। तब भी अपने आपको ईसा-अनुयायी कहलानेवाले करोड़ों गोरे यौरोपीय विद्वानों को ईसा के जीवन की सत्या-सत्यता की कोई पर्वाह ही नहीं है, एक झूठ मनगढ़न्त जीवनी को ही वे cross X के रूप में गले लगाए हैं। इतनी शोचनीय और दयनीय अवस्था इतिहास की हो गई है कि धर्म के मामले में भी झूठ ही झूठ भरा पड़ा है।

मास-गणना

वर्तमान क्रमानुसार सितम्बर, अक्तूबर, नवम्बर, दिसम्बर मास ९वां, १०वां, ११वां व १२वां कहे जाते हैं। तथापि सितम्बर, अक्तूबर, नवम्बर, दिसम्बर नामों से उनका मूल क्रम ७वां, ८वां, ९वां और १०वां होना चाहिए। तो क्या वर्तमान इतिहास-प्रणाली के कोई विद्वान् बता सकते हैं

जो क्रम अन्तर्भूत है उससे वह आगे कैसा चला
कि उन महीनों के नामों में
गया ? सही इतिहास सही पद्धति से पढ़ाया जाए तो उसमें इस दैनन्दिन
सार्वजनिक विकृति का उत्तर नहीं मिल पाता। अतः स्पष्ट है कि हमारी
इतिहास-पठन, पाठन और संशोधन-पद्धति टूट-फूटकर विकृत हो पड़ी है।

क्रिसमस् अर्थात् (X'mas) एक्समस्

ईसाइयों के सबसे महत्त्वपूर्ण उत्सव को क्रिसमस् या (X' mas) एक्समस् कहा जाता है। क्यों? (किसी को पता नहीं)। यदि 'कृस्तमास' कहा जाए तब भी यौरोपीय भाषाओं में 'मास' शब्द का अर्थ 'जन्मदिन' नहीं है। इस प्रकार जब 'क्रिसमस्' पदों का अर्थ 'कृस्त का जन्मदिन' नहीं होता तो उस शब्द का वास्तव में अर्थ क्या है? स्वयं ईसाई लोग नहीं जानते तो अन्य क्या जानें! आजकल के इतिहासकार ईसाई-परम्परा के बोलबाले से इतने भयभीत हैं कि वे ऐसे मूलग्राही प्रश्नों को उठाने का या सोचने का साहस भी नहीं करते। ऐसे भयग्रस्तजन संशोधन क्या करेंगे? क्रिसमस् को (X'mas) 'एक्समस्' भी लिखा जाता है। उसका भी रहस्य स्वयं ईसाइयों को भी अज्ञात है। यदि 'X' यह ईसा का द्योतक चिह्न नहीं और 'मास' का अर्थ जन्मदिन नहीं तो ईसा के (तथाकथित) जन्मदिन को (X'mas) क्यों कहते हैं? वर्तमान इतिहासज्ञों के पास इसका कोई उत्तर नहीं। ऐसे विविध प्रश्नों की कसौटी से परखने पर पता चलता है कि वर्तमान इतिहासग्रन्थ मानवी जीवन का सुसूत्र विवेचन करने में असमर्थ होने के कारण इधर-उधर के अंटसंट गपशप को ही इतिहास समझ बैठे हैं।

पोप

ईसाई धर्मगुरु को अंग्रेजी में पोप और फ्रेंच में 'पाप' उर्फ 'पापा' कहते हैं। यह भिन्नता क्यों? पोप के आदेशों को 'बैल' कहा जाता है। गधा या बाघ क्यों नहीं कहा जाता? क्या कोई वर्तमान इतिहासकार उन और तत्सम अन्य कई प्रश्नों के उत्तर दे पाएगा?

व्हॅटिकन्

पोप के धर्मपीठ को व्हॅटिकन् कहते हैं। क्यों? किसी को पता नहीं है और यह भी पता नहीं है कि पोप के धर्मपीठ का अस्तित्व ईसवी सन् के पूर्व का बना हुआ है। स्वयं ईसाई-परंपरा के बाबत ईसाई विद्वानों का इतना अज्ञान होते हुए इतिहास के अन्य क्षेत्रों की तो बात ही क्या?

रोम

यूरोप के इटली देश की राजधानी है रोम, जिसे अनादि, अनंत (eternal) नगर कहा जाता है। तथापि उसका कारण क्या है? कोई विद्वान् नहीं जानता। रेमस और रोम्युलस् नाम के दो भाइयों द्वारा वह नगर बसाने की बात कही जाती है। यदि वह सही है तो नगर का नाम रोम क्यों पड़ा? क्या कोई विद्वान् उसका उत्तर दे सकता है?

विश्व की मूल सभ्यता कौन-सी थी?

विश्व में इस्लाम के पूर्व ईसाई धर्म था। उसके पूर्व बौद्ध थे। उससे पूर्व यहूदी थे। किन्तु उससे पूर्व विश्व में कौन सी सभ्यता थी? क्या कोई विद्वान् उसका उत्तर दे पायेंगे?

कॉकटेल (Cocktail)

कॉकटेल का आंग्ल भाषा में एक अर्थ होता है 'कुक्कुट की पूंछ' तथापि यौरोपीय समाज में अनेक प्रकार की दारुओं के मिश्रण को 'कॉकटेल' कहा जाता है। ऐसे मिश्रित दारू का 'कॉकटेल' नाम क्यों पड़ा? उसमें ना तो कोई कुक्कुट होता है ना उसकी दुम, फिर भी उसे कॉकटेल क्यों कहते हैं? यौरोपीय विद्वानों को उस समस्या का उत्तर ज्ञात नहीं है।

हम इस प्रकार के अनेकों प्रश्न उपस्थित कर सकते हैं, जिनका कि उत्तर वर्तमान ऐतिहासिक धारणाओं से पाया नहीं जा सकता। इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि वर्तमान विश्व-इतिहास एकदम विकृत, खंडित और भ्रमपूर्ण है।

अतः इस ग्रंथ का उद्देश्य यह है कि सृष्टि-उत्पत्ति समय से आज तक के इतिहास का एक ऐसा अखंड, सुसूत्र विवरण प्रस्तुत करना, जिससे इतिहास-विषयक सारी समस्याओं का हल सरलता से मिल पाए।

४

इतिहास-सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न

वर्तमान इतिहास-लेखन, पाठन और संशोधन परम्परा में ईसाई, इस्लामी, कम्युनिस्ट आदि लोगों के अज्ञान और दुराग्रह के कारण कई निराधार धारणाएँ दृढ़मूल हो गई हैं। उनका निर्मूलन कैसे किया जा सकता है, यह इस अध्याय का विषय है।

वर्तमान समय में यूरोप (अमेरिका आदि) के जन सारे ईसाई बन गये हैं और वे यान्त्रिक-तान्त्रिक प्रगति भी अच्छी कर पाए हैं। इन दो बातों को १+१ के बजाए ११ ऐसा लिखकर बड़े बड़े विद्वान् भी गलत ऐतिहासिक हिसाब की छलांग लगाकर इस व्यक्त या अव्यक्त निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ईसाई धर्म बड़ा प्रगतिशील है अतः वही सही धर्म है। ईसाई धर्म अपनाने से मानव उन्नत बन सकता है इत्यादि इत्यादि शेखचिल्ली पद्धति की या काकतालीय न्याय वाली विचारपद्धति आधुनिक विद्वानों में पाई जाती है। अतः यह विचारणीय है कि क्या ईसाई धर्म सत्यमेव प्रगतिशील है? इतिहास के अध्ययन से उस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही मिलता है। इस्लाम और ईसाई—दोनों धर्म मानव की शास्त्रीय प्रगति में रोड़े ही अटकाते रहे हैं। ईसाई जनता तो कुछ सुधर भी गई है किन्तु इस्लाम तो अभी अपने आपको वीरान, रूखे-सूखे अरबी प्रदेश के सातवीं शताब्दी के कबीलों के फन्दों में पूरी तरह जकड़े हुए है।

ईसाई लोगों के जड़बुद्धि के तो कई उदाहरण हैं। चार सौ वर्ष पूर्व जब गैलीलियो ने यूरोप की जनता को यह विदित कराया कि पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती रहती है तो ईसाई धर्मगुरुओं ने उसे खम्बे से बांधकर जीवित जलाए जाने का दंड घोषित कर दिया। बेचारा क्षमा मांगकर बाल-बाल बच गया।

दूसरी बात यह विचार करने योग्य है कि ईसाई धर्म को प्रस्थापित हुए लगभग १८३० वर्ष बीत जाने के पश्चात् यौरोपीयों की आधुनिक तान्त्रिक-यान्त्रिक प्रगति आरम्भ हुई। अतः ईसाई धर्म अपनाने के कारण वह प्रगति हुई ऐसा समझना ठीक नहीं। उल्टा हम यह कह सकते हैं कि भारत पर अंग्रेज, फ्रेंच, पोर्चुगीज आदि यौरोपीय लोगों ने अधिकार जमाकर यहां के प्राचीन ग्रन्थ लूटना आरम्भ करने के पश्चात् यूरोप की यान्त्रिक प्रगति आरम्भ हुई।

सनावली-वंशावली का अस्थिपंजर

सामान्य लोग समझते हैं कि मोटी-मोटी घटनाओं का कालक्रम रट लेने से इतिहास का ज्ञान हो जाता है। जैसे—वेद, उपनिषद्, रामायण-काल, महाभारत-काल, चोल, पांडय, राष्ट्रकूट, बुद्ध, महावीर, हर्षवर्धन, इस्लामी सुल्तान बादशाह, राणाप्रताप, शिवाजी, अंग्रेज गवर्नर जनरल आदि नामों की 'लड़ी' ही इतिहास है। किन्तु लड़ाइयों की सनावली और राजाओं की वंशावली तो इतिहास का अस्थिपंजर मात्र है। प्रत्येक देश या राष्ट्र के इतिहास का ऐसा अस्थिपंजर होता है। किन्तु उससे उस देश का इतिहास पता नहीं लगता। जैसे कबरस्थान से यदि हम कोई अस्थिपंजर प्राप्त कर लें तो उससे उस व्यक्ति के इतिहास का कैसे पता लगेगा कि वह चोर था या साधु? श्रीमान् था या निर्धन? पुष्ट था या दुर्बल? उसका व्यवसाय क्या था? इत्यादि इत्यादि।

ईसाई-धर्म और इस्लाम का प्रसार

सामान्य धारणा यह है कि ईसाई धर्म और इस्लाम अल्पसमय में धरती के कई भागों में फैले अतः उनमें कुछ आन्तरिक गुण होने ही चाहिए। इस कपोलकल्पना पर इस्लाम का भाईचारा आदि तथाकथित गुण बखान किए जाते हैं। ऐसे गलत निष्कर्ष न निकलते रहें अतः इतिहास का शुद्धिकरण समय-समय पर आवश्यक होता है। क्योंकि जैसे-जैसे समय बीतता है वैसे-वैसे कई झूठी घटना या निष्कर्ष इतिहास में प्रविष्ट होते रहते हैं।

ईसाई धर्म इस्लाम मत के समान ही छलकपट और अत्याचार द्वारा पराजित जनसमूहों पर सैनिकबल से थोपा गया। वह ऐतिहासिक सत्य इतिहास में जितनी दृढ़ता से कहा या लिखा जाना चाहिए था उतनी दृढ़ता से उल्लिखित नहीं होता क्योंकि लगभग एक सहस्र वर्ष तक मुसलमानों की दहशत विश्व पर रही और तत्पश्चात् यौरोपीय ईसाई लोगों का प्रभाव १८वीं शताब्दी से लगातार विश्व पर बना हुआ है। विशाल भूप्रदेशों के ऊपर ईसाई और मुसलमानों का प्रभाव होने के कारण इस्लामी और ईसाई धर्मप्रसार के छलकपट का सारा इतिहास दबाया गया है।

अतः पाठक को यह जानना आवश्यक है कि ईसाई धर्म भी उतनी ही निर्दयता, क्रूरता, हत्याकाण्ड और बर्बरता से फैलाया गया जितना कि इस्लाम। रोमन सम्राट् कॉन्स्टंटाइन (Cons-tantine यह 'कंस दैत्यन्' शब्दों का अपभ्रंश है) सन् ३१२ ई० के लगभग ईसाई बनते ही उसने अपनी पूरी रोमन सेना (औरंगज़ेब की तरह) लोगों को जुल्म-जबरदस्ती से ईसाई बनाने के काम पर लगा दी। अतः सिनेमा में जो बताया जाता है कि गरीब बेचारे ईसाइयों को रोमन सेना ने बर्बरता से दबाना चाहा तथापि ईसाइयों की अपार सहनशीलता से वह धर्म बढ़ता ही गया, इस दिग्दर्शन में इतिहास को बिल्कुल उल्टा कर दिया गया है। नीरो आदि रोमन सम्राटों के समय ईसाई अनुयायी २५-५० से अधिक रोमनगर में थे ही नहीं। ना ही कभी उनको सार्वजनिक स्थानों में शासन-विरोधी कोई आन्दोलन खड़ा करने का कारण रहा। वे तो रविवार को चुपचाप किसी मित्र के घर में 'चर्चा' करने इकट्ठे होते थे। उसी से 'चर्च' यह उनके सम्मेलन-स्थल यानि प्रार्थना घर का नाम पड़ा। जब उन्हें रोमन सम्राट् कॉन्स्टंटाइन आ मिला तो उसने अपने अधिकार के अहंकार से प्रोत्साहित होते हुए डांट-फटकार द्वारा ईसाई धर्मप्रसार आरम्भ किया। वही अत्याचारों की प्रथा (Spanish inquisition) स्पॅनिश आतंक, भारत के गोवा प्रदेश में पोर्चुगीजों द्वारा किए गये अत्याचार, फ्रांस देश में कैथोलिकपंथियों ने प्रोटेस्टेंट कहलाने वाले स्वबान्धवों पर किए बलात्कार ऐसी शृंखला से चौथी शताब्दी से ६००-७०० वर्ष चलते रहे। वे तब तक जब सारा यूरोप ईसाई बनाया गया और धर्म के नाम पर

डांट-फटकार का शिकार बनाने के लिए कोई बचा ही नहीं।

इस्लाम भी इसी प्रकार अरब, ईरानी, तुर्की, अफगान सेनाओं द्वारा जुल्म जबरदस्ती से फैलाया गया। अरबी, ईरानी, तुर्की, अफगान, पाकिस्तानी पुस्तकों में से इस्लाम के दहशतवादी प्रसार की बात पूर्णतया मिटा दी गई है। उसी प्रकार यूरोप की पुस्तकों में से ईसाई धर्म सैनिक दबाव से फैलाने की बात मिटा दी गई है। इससे पाठक अनुमान लगा सकता है कि इस्लामी और ईसाई लोग सत्य, न्याय और निष्पक्षता का चाहे कितना ही ढोल पीटें उन्होंने बहुत बड़ी मात्रा में इतिहास झुठलाकर उसे विकृत, त्रुटित और खंडित किया है।

इस सन्दर्भ में वैदिक संस्कृति की महत्ता कितनी उभर आती है। इसमें कोई दबाव, दहशत या अत्याचार नहीं है। कट्टर कर्मठ से निर्भीक नास्तिक तक सबको वैदिक संस्कृति में नितान्त आदर का स्थान है। यहाँ कोई किसी से नहीं पूछता कि तुम्हारी पूजापाठ या जपजाप की क्या विधि है। सत्य बोलो और सबसे सेवाभाव, बन्धुभाव और परोपकार का आचरण करो—यही इस संस्कृति का प्रत्येक व्यक्ति को उपदेश है।

पुरातत्त्वविदों के सम्भ्रम

पुरातत्त्वविदों के उल्टे-सीधे वक्तव्य समाचार-पत्रों में जो कई बार प्रकाशित होते रहते हैं। उससे उनके अनेक विभ्रमों का पता लगता है। अंग्रेजों का भारत पर जब अधिकार था, तब से आज तक सारी विद्या पाश्चात्त्य पद्धति से चलाई जा रही है। उससे पुरातत्त्वविदों के मन में कुछ ऊटपटांग यौरोपीय धारणाएँ भी बैठ गई हैं। उन्हें यह रटाया गया है कि वेद लगभग ५००० वर्ष प्राचीन हैं। अतः जब सिन्धुघाटी के अवशेष ५००० वर्षों से प्राचीन पाए गये तो उन्हें प्रागैतिहास या प्राग्वैदिक माना जाने का ढोल पीटा।

इस ग्रन्थ में प्रस्तुत सूत्र के अनुसार कोई भी युग प्रागैतिहासिक कहलाने योग्य नहीं है क्योंकि सृष्टि-उत्पत्ति से इतिहास की शृंखला लगातार बनी हुई इस ग्रन्थ में दिखा दी गई है।

कुछ पुरातत्त्वविद् महाभारत को रामायण से पूर्व का कह देते हैं। वह

उनकी बड़ी भारी भूल है। वे इस बात को भूल जाते हैं कि महाभारत में रामायण का उल्लेख है किन्तु रामायण में महाभारत का उल्लेख नहीं है। ऐसे और कई प्रमाण विद्यमान होते हुए भी उत्खनन में पाये कुछ मटकों के टुकड़ों के आधार पर जब वे महाभारत को रामायण से पूर्वकालीन बताते हैं तब उनके सदोष इतिहास शिक्षा का पता चलता है। ऐसे व्यक्तियों को पुरातत्त्व खाते में बड़े अधिकार पद प्रदान करना या उनके द्वारा नई पीढ़ियों को इतिहास और पुरातत्त्व सिखलाना देश के लिए बड़ा धोखा है।

उत्खनन में पाये पत्थर के औजार और मटकों के टुकड़ों को वे विद्वान् बड़ा शोधकार्य मानते हैं। उन्हें यह समझाना होगा कि उन्नत मानवों के साथ-साथ उसी युग में उसी समय वन्य अवस्था में रहने वाले कई लोग होते हैं। उससे यह कह देना कि वह पत्थर के औजार उस युग के हैं जब सारे ही मानव जंगली या पिछड़े हुए थे, बुद्धिमान् नहीं थे। वर्तमान समय में अमेरिका और भारत जैसे देशों में एक तरफ जहां चंद्रयान और उपग्रह छोड़ने की तैयारी होती रहती है तो दूसरी तरफ जंगलों में नंगे रह कर प्रस्तरी औजार करने वाले और घासफूस खाकर जीने वाले पिछड़े लोग भी होते हैं।

पाश्चात्य दीक्षा से पहले भारतीय पुरातत्त्वविद् और एक बड़ी विचित्र बात करते हैं। उत्खनन में पाये प्राचीन काले और लाल खपरैलों को (Black and red pottery ware) वे इस प्रकार विभाजित करते हैं कि जैसे अतीत की कुम्हारजाति लाल या काले रंग के पृथक् मटके बनाने वाले दो पृथक् दलों में बंटे हों। क्या एक ही कुम्हार काले और लाल ऐसे दोनों रंगों के मटके नहीं बना पाएगा? क्या उस समय कोई प्रतिबन्ध था कि प्रत्येक कुम्हार एक ही रंग के मटके बनाए? इस तरह के कानून और बालकपन के भेदाभेद को वर्तमान पुरातत्त्व-कारोबार में अयोग्य महत्त्व दिया जा रहा है।

पुरातत्त्वविदों की खटकने वाली दूसरी एक बात यह है कि उन्होंने विविध युगों को (पाश्चात्य विद्वानों के दबाव से) हिमयुग, प्रस्तरयुग, लोहयुग, ताम्रयुग, कांसायुग आदि नाम दे डाले हैं। क्या इससे वह यह

कहना चाहते हैं कि विशिष्ट युगों में मानव ने केवल एक ही धातु से सारे कार्य सम्पन्न किये? एक पत्नीव्रत के समान क्या एक धातुव्रत की भी कोई विवशता थी?

वर्तमान पुरातत्त्वविदों का एक और मोटा दोष यह रहा है कि उन्होंने गोलगंबाझ, इब्राहीम रोझा, बीबी का मकबरा, ताजमहल, पुराना किला, लालकिला, कुतुबमीनार आदि किसी भी ऐतिहासिक इमारत या नगर की पुरातत्त्वीय या ऐतिहासिक जांच किये बिना ही उन्हें, कही-सुनी बातों पर निर्भर रहकर, इस्लाम-निर्मित लिख मारा।

परवशता में पले इतिहासज्ञ और पुरातत्त्वविद् अधिकार-पदों पर रहे तो वे पराई गुलामी तोतापंची कर स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् भी अनेकानेक युवा पीढ़ियों को कैसी गलत रट लगवाकर तैयार करते हैं इसके ऊपर कुछ उदाहरण दिए हैं। अतः स्वतन्त्रताप्राप्ति के पश्चात् इतिहास और पुरातत्त्वीय क्षेत्रों से गुलामी प्रवृत्ति के लोगों को हटाना उतना ही आवश्यक है जितना सरहद पर शत्रु से मित्रता रखने वाले पहरेदार को हटाने की आवश्यकता होती है।

पुरातत्त्वविदों की यह धारणा कि भूमि-उत्खनन में विविध सभ्यताओं के स्तर, कालक्रमानुसार एक के नीचे एक धरे रह जाते हैं अतः जिस स्तर पर जो अवशेष होंगे वही उसका कालक्रम होगा यह भी गलत है। भूगर्भ के शास्त्र द्वारा कई बार ऐसा देखा गया है कि प्राचीन से प्राचीन चट्टानें ऊपरले स्तरों में रहती हैं और नवीनतर चट्टानें उनके नीचे दबी हुई होती हैं। ऐसा क्यों? कोई नहीं जानता। प्रभु की लीला अपरम्पार है, यही उसका विवरण है। पकोड़े या जलेबी तलते समय जैसे कोई जलेबी या पकोड़े कभी ऊपर या कभी नीचे होते रहते हैं उसी प्रकार हो सकता है कि भूस्तर के अन्दर की प्रक्रियाओं के कारण विभिन्न अवशेष ऊपर-नीचे होते रहते हों। अतः पुरातत्त्व वालों ने भी पुरातत्त्वीय प्रमाणों को अकाट्य मानने की अकड़ न मारना योग्य होगा। ऐतिहासिक निराकरण में स्थापत्य, पुरातत्त्व-परम्परा, आदि विविध प्रकार के प्रमाणों से निर्णय लेना पड़ता है।

प्रत्येक व्यक्ति का इतिहास-सम्बन्धी दृष्टिकोण विविध बातों के प्रभाव

परिवार, पढ़ी हुई पुस्तकें
से बनता है। जैसे उसकी आयु, बुद्धि, कुल, मित्र, रटाई गई विद्या।
या देश, धर्म, जाति और विद्यालयों में
दृढ़ भावनाएँ स्थूल रूप से
तदनुसार वर्तमान विद्वत्समाज की
जब भी हुआ अग्निगोलक के
निम्न प्रकार की है—(१) विश्व का निर्माण
सूक्ष्म जीव-जन्तु से उत्क्रान्त हुए,
फटने से हुआ। (२) जीव-जन्तु सारे एक
बाहर से आई। (४) वेद १२०० ई०
(३) आर्य जाति है और वह भारत में
गड़रियों द्वारा जंगलों में भेड़ चराते हुए
के आसपास के कुछ अल्पशिक्षित,
(५) रामायण, महाभारत, पुराण आदि
निरर्थक गुनगुनाए गीत हैं।
(६) प्रत्येक देश को १ से ९ तक ही संख्या
कपोलकल्पित रचनाएँ हैं।
आती थी। भारत ने लगभग २००० वर्ष पूर्व सबको शून्य का प्रयोग
सिखाया। (७) प्राचीन काल में वर्ष दस महीनों का ही हुआ करता था।
(८) मुसलमानों से विशाल मस्जिदें और मकबरे ही बनाने की प्रथा थी
किन्तु महल नहीं बनाए जाते थे। (९) मुसलमानों का उनका अपना एक
विशिष्ट स्थापत्य है यद्यपि उन्होंने स्थापत्य के न कोई ग्रन्थ लिखे और न
उनके कोई अपने नाप हैं। (१०) पश्चिमी एशिया में मुहम्मद पैगम्बर
के पूर्व कोई विशेष सभ्यता नहीं थी। (११) उसी प्रकार यूरोप में भी
ईसापूर्व समय को नगण्य प्रागैतिहासिक काल ही समझकर उसका पूरा
इतिहास मिटा दिया गया है। (१२) संस्कृत, लैटिन, हिब्रू, ग्रीक, अरबी
आदि भाषाएँ अपने आप, जैसी-तैसी, जहाँ-तहाँ किसी प्रकार बनती ही
गईं। (१३) वानरों से वनमानव बनने के पश्चात् किसी प्रकार सीरिया,
असीरिया, सीथिया, बैबिलोनिया, ईजिप्त, चीन आदि देश बन ही गए।

यह है स्थूल रूप में आजकल के विद्वानों की धारणाएँ। उन कल्पनाओं
को श्रेष्ठ, विद्वत्तापूर्ण, शास्त्रीय तथ्य माना जा रहा है। तथापि इस ग्रन्थ
में उन सभी कल्पित तथ्यों को ललकार कर निराधार, तर्कहीन और
खोखला सिद्ध किया जा रहा है।

पाठकों से यह अनुरोध है कि वे निर्भय और खुले मन से इतिहास का
समीक्षण करना सीखें। रूढ़ धारणाओं के गड्ढों में न फंसे रहें। प्रचलित
कल्पनाओं के दाग मन से मिटाकर ही स्वच्छ मन से इस ग्रन्थ में दिए
विवरणों को पढ़ें। जैसे पाकसिद्धि से पूर्व रसोईघर साफ धोया जाता है;

या शल्यक्रिया से पूर्व शल्यक्रियाकक्ष जन्तुरहित किया जाता है वैसे ही इस
ग्रन्थ में चर्चित तथ्यों को पाठक ठीक तरह से ग्रहण नहीं कर पायेंगे जब तक
पारम्परिक तथ्यों का संस्कार उनके मन में रहेगा। कुछ नये तथ्य सीखने
के लिए मन में स्थान अड़ाए बैठे पुराने तथ्यों को निकाल फेंकना पड़ता
है। इसके लिए बड़े साहस और यत्न की आवश्यकता होती है।

कोई १५० वर्ष पूर्व ऐसा साहस स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उनकी
अपनी युवा अवस्था में दिखाया था। एक नेत्रहीन कृषकाय ऋषि विरजानन्द
से वेदविद्या सीखने की इच्छा युवा दयानन्द ने प्रकट की। गुरु विरजानन्द
ने एक शर्त रखी कि वेदविद्या सीखने से पूर्व वर्तमान व्यवहारी धूर्तविद्या
के ग्रन्थों को नदी में डुबो देना होगा। शिष्य दयानन्द ने वही किया और
विरजानन्द से वेदविद्या सीखी। उससे वे बड़े ज्ञानी, समर्थ, सिद्ध और
आर्यसमाज के संस्थापक बने।

इस ग्रन्थ से लाभ उठाना हो तो प्रत्येक पाठक को भी अन्य पूर्व
धारणाओं को भूल जाना होगा।

उक्त घटना से दो सबक मिलते हैं—

(१) दुनियादारी के ग्रन्थों में सत्य का ज्ञान कराने का हेतु नहीं
होता। अपितु वर्तमान परिस्थिति में जिन धारणाओं को शिष्टसम्मत
माना जा सके या जिनको प्रकट करने से किसी दुष्ट, दहशतवादी पक्ष या
गुट को बुरा न लगे ऐसे तथ्य चाहे कितने ही झूठ या निराधार क्यों न हों
वही ग्रन्थों में लिख देने की और उन्हीं पर सारी शिक्षा आधारित करने
की सामान्य प्रवृत्ति होती है। उदाहरण—बन्दर से मानव बना, यह सिद्धान्त
पढ़ना और पढ़ाना ही वर्तमानयुग में शिष्टाचार का पाठ समझा जाता है
यद्यपि निजी दृष्टि से अनेकानेक व्यक्ति उस सिद्धान्त को घटपटा समझते
हैं। ताजमहल आदि इमारतें मुसलमानों की बनवाई नहीं हैं यह तथ्य भी
सरकारी तन्त्र से सम्बन्ध रखने वाले अधिकारीगण कहने की हिम्मत नहीं
रखते यद्यपि निजी तौर से वे उस सिद्धान्त को मानते हों। ऐसे कई उदा-
हरण दिए जा सकते हैं कि जहाँ व्यवहारी=रूढ़ ज्ञान शुद्ध सत्य के विपरीत
या बहुत भिन्न होता है। व्यवहारी ज्ञान के पीछे कइयों के स्वार्थ छिपे हुए
होते हैं। (२) दूसरा सबक यह है कि जिसके मस्तिष्क में स्वार्थी बातों ने ही

सारी जगह घेर ली है वह शुद्ध सत्य ज्ञान को कहां रखेगा ? अतः युवा दयानन्द के सदृश जिसमें व्यवहारी ज्ञान फेंक देने का साहस होगा वही सत्यज्ञान ग्रहण कर पायेगा ।

सामान्य व्यक्ति दिनोंदिन स्वार्थ से इतना लिपटा होता है कि सत्या-सत्य की परख कर असत्य को ठुकराने के झंझट में वह कभी पड़ता ही नहीं। यदि व्यक्ति थोड़ा जागृत रहे और थोड़ा साहस भी करे तो व्यवहारी दुनिया की ढोंगी और झूठी प्रथाएं या सिखलाई को उत्तरोत्तर कम किया जा सकता है। जैसे विस्फोट-सिद्धांत और विकासवाद। इनसे इतने डरने की क्या बात है ? वे तो कुछ व्यक्तियों की कपोल-कल्पनाएं हैं। किसी ने न तो विस्फोट देखा है न सुना है। उसी प्रकार मानव का उद्भव वानर से होते हुए भी किसी ने देखा नहीं है। वानर और मानव युगों से इस विश्व में स्वतन्त्र प्रकार से रहते आ रहे हैं। ऐसे अशास्त्रीय सिद्धान्त विद्वान् कहलाने वाले लोग भी इसलिए मान लेते हैं कि उसकी उन्होंने रट लगा रखी है। उस सिद्धान्त को परखने का या चुनौती देने का कष्ट कौन उठाए ? वरिष्ठों से यदि उस बात पर संघर्ष हो जाए तो नौकरी छीन ली जाएगी। अतः अधिकांश लोग आंखें मूंदकर चुपचाप झूठे सिद्धान्त दोहराते रहने में ही इतिकर्तव्यता समझते हैं। उसी से उनको धन, मान-सम्मान और अधिकार-पद प्राप्त होते हैं, अतः उसी को वह सत्य मानकर चलते हैं। किन्तु हमें ऐसे स्वार्थी ज्ञान से कोई मतलब नहीं।

भांग, गांजा, चरस आदि अयोग्य पदार्थ बेचकर नफा कमाने वाले व्यापारी कभी अपने आपको दोषी समझते ही नहीं। वे सोचते हैं कि जनता और सरकार की अनुमति से चलाई गई उनकी दुकान वैध है। यद्यपि लौकिक, व्यवहारी दृष्टि से उनका कारोबार वैध हो तथापि उन पदार्थों से होने वाली जनहानि देखते हुए उनका व्यवसाय पूर्णतया अयोग्य है।

इस उदाहरण से व्यावहारिक और वास्तविक सत्य के बीच का महदन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। विद्या-क्षेत्र में भी व्यवहारी विद्या और सत्यविद्या में उतना ही विशाल अन्तर होता है।

इतिहास और अध्यात्म

पाठकों को कदाचित् यह पढ़कर आश्चर्य होगा कि इतिहास का मूल ढूंढते-ढूंढते हम अचानक अध्यात्म में प्रवेश कर जाते हैं। किन्तु यही तथ्य अन्य सारे मानवी विद्याओं पर भी लागू है। चाहे फलित ज्योतिष हो, या खगोलज्योतिष या अणुविज्ञान या आयुर्वेद। प्रत्येक विद्या की उच्चतम तथ्यों पर पहुंचने के पश्चात् विद्वानों को यह पता चलता है कि इस विश्व को निर्माण कर चलाने वाली ईश्वर नाम की कोई अद्भुत शक्ति है।

इस दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि अध्यात्म में वर्णित ८४ लक्ष योनियों में से जाते-जाते जब कोई जीव मानव के रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण होता है तो उसका पृथ्वी पर का जीवन इतिहास कहलाता है। तथापि वह 'इतिहास' उस जीव के ८४ लक्ष योनियों के फेरे की एक कड़ी मात्र है। इस प्रकार इतिहास अध्यात्म का एक सूक्ष्मतम भाग ही प्रतीत होता है।

क्या मानवी आत्मा सर्वदा मानव-शरीर ही धारण करती है ? क्या मच्छर, मक्खी, हाथी, ऊंट आदि जीव मरणोपरान्त उसी प्रकार का जीवन बार-बार बिताते रहते हैं ? तो मानव भी निजी कर्मों का हिसाब चुकाने के लिए विविध अवस्था में मानव का ही जन्म पाता रहता है और यदि मानव मानव का ही जन्म लेता हो तो क्या स्त्री की आत्मा स्त्री का ही जन्म लेती है और पुरुष-आत्मा पुरुष का ही जन्म लेती है ? ऐसी सारी बातें जीवात्मा के इतिहासस्वरूप अध्यात्म में सम्मिलित की गई हैं।

आधुनिक शास्त्रज्ञ कहते हैं कि जड़ पदार्थों का रूप बदलता रहता है किन्तु पदार्थ नष्ट नहीं होते। जैसे लकड़ी जलाने पर राख, कोयला धुवां आदि रूप में लकड़ी बदल जाती है। ठेठ उसी शास्त्रीय न्याय से भगवद्गीता का भी वह वचन समझ में आ सकता है जो कहता है कि मरणोपरान्त वही जीवात्मा अन्य शरीर धारण कर लेता है। शरीर भले ही मरे आत्मा अमर रहकर वस्त्र की भांति नया शरीर धारण कर लेता है। अतः पुनर्जन्म की बात तर्कदृष्टि से सही सिद्ध होती है। कई आत्माएं नया मानवजन्म लेने पर भी अपने बीते मानवजन्म की स्मृतियां दोहराने का चमत्कार भी कर दिखलाती हैं। वह पुनर्जन्म की सत्यता का एक और प्रमाण है। उससे यह

भी निष्कर्ष निकलता है कि जन्म-जन्म के कर्म और स्मृतियाँ व्यक्त या अव्यक्त, स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में प्रत्येक आत्मा से बंधी होती हैं।

इतिहास और अध्यात्म का जो नाता वैदिक विचारधारा द्वारा स्पष्ट दिखाई देता है इस्लाम या ईसाई जैसे व्यक्ति केन्द्रित पंथों से समझ में नहीं आता। उसका एक मुख्य कारण यह है कि पृथ्वी का इतिहास करोड़ों वर्षों का है जबकि मुहम्मद या ईसा जैसे विशिष्ट पंथप्रवर्तक व्यक्तिओं का समय २-३ सहस्र वर्षों के अन्दर का ही है।

सृष्टि-निर्माण-सम्बन्धी सिद्धान्तों की वैधता

सृष्टि-निर्माण के बारे में वैदिक प्रणाली का लेखा और ईसाई या इस्लामी पंथों का कथन इनमें आकाश-पाताल जितना अन्तर है। उसके अनेकानेक कारण निम्नप्रकार के हैं—

(१) सृष्टि-निर्माण का सही ब्योरा किसी मृत मनुष्य से कभी प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे बुद्ध, मुहम्मद, सन्त पॉल, बाइबल का नया भाग लिखने वाले जॉन, ड्यूक, मैथ्यू आदि व्यक्ति सृष्टि-उत्पत्ति के लाखों वर्ष पश्चात् निर्माण हुए। अतः सृष्टि-निर्माण के बारे में उन्हें जानकारी हो ही कैसे सकती है? किसी बालक के जन्म की कथा जैसे आयु में उससे बड़े व्यक्ति ही बता सकते हैं वैसे ही सृष्टि-उत्पत्ति का हाल भी स्वयं भगवान् का कहा वेदादि ग्रन्थों में जो अंकित है, वही सही है।

(२) बुद्ध, ईसा और मुहम्मद जैसे मृत व्यक्ति सर्वशक्तिमान् ईश्वर के प्रतिनिधि कैसे हो सकते हैं जबकि उनकी भाषा, उनका प्रदेश और उनका समाज तक ही उनका सम्पर्क और कार्यक्षेत्र सीमित था।

(३) सृष्टि-उत्पत्ति और मानव का कर्तव्य या धर्माचरण-सम्बन्धी दैवी आदेश सृष्टि के आरम्भ से ही मानव को प्राप्त होने चाहिए। लाखों वर्ष पश्चात् किसी बुद्ध, ईसा या मुहम्मद द्वारा वह दैवी आदेश मानवजाति को प्राप्त होना तर्कसंगत नहीं है। क्योंकि उस दशा में बुद्ध, मुहम्मद या ईसा के पूर्व जो अनगिनत मानव-पीढ़ियाँ निर्मित हुईं उन्हें धर्माचरण या मोक्षप्राप्ति का कोई मार्गदर्शन उपलब्ध ही नहीं था ऐसा मानना पड़ेगा। ऐसा पक्षपात ईश्वर द्वारा कभी हो ही नहीं सकता। मानवों की प्रारम्भिक

पीढ़ियों से ही सारा ईश्वरदत्त अध्यात्मिक या व्यावहारिक मार्गदर्शन प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध होना आवश्यक है। अतः सृष्टि-उत्पत्ति के अंतर्गत जब मानव का निर्माण हुआ तब उसी समय मानव को वेद उपलब्ध कराए गए यह वैदिक प्रणाली के कथन पूर्णतया तर्कसंगत, सही और वास्तववादी है। अतः इस्लाम या ईसाई आदि पंथों के कथन की बराबरी वैदिक प्रणाली से करना अयोग्य है। राजनीतिक्षेत्र के नेता भले ही अपने क्षणिक स्वार्थ-पूर्ति के हेतु हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि सर्वप्रथम समभाव की बात कर दें किन्तु जानकार, ज्ञानी इतिहासकार को वह प्रमाद नहीं करना चाहिए। सही इतिहासज्ञ वही कहला सकता है जो हिन्दू धर्म जो मानव-धर्म और ईश्वरीय प्रणाली है उसमें और इस्लाम, ईसाई आदि मानव-निर्मित झगड़ालू पंथों में जो महदन्तर है, उसे पहचानसके और उनमें बराबरी का नाता ना जोड़े।

(४) वैदिक प्रणाली के दैवी स्रोत का चौथा बड़ा प्रमाण यह है कि वेदों से लेकर उस प्रणाली का सारा साहित्य उस संस्कृत भाषा में है जो आरम्भ से समस्त मानवों की एक ही देवदत्त भाषा थी। सन्त पॉल और मुहम्मद आदि के समय तो देश-प्रदेश के मानवों की कई भाषाएँ बन चुकी थीं। ऐसे समय में यदि बाइबल अरेमाइक या अन्य किसी भाषा में लिखी गई और कुरान यदि अरबी में पढ़ाई गई तो इससे एक बात किसी भी सच्चे और निडर इतिहासज्ञ को स्पष्ट हो जानी चाहिए कि कुरान के आदेश केवल अरबी जानने वालों के लिए ही थे, और बाइबल केवल अरेमाइक या अन्य एकाध भाषा जानने वालों के लिए ही था।

उपर्युक्त चारों शर्तों को केवल वैदिक साहित्य ही पूरा करता है। अतः वही सर्वश्रेष्ठ, देवदत्त, विश्वसनीय, तर्कसम्मत, आपत्तिरहित और वैज्ञानिक कसौटी पर उतरने वाला है। ऐसी खरी-खरी बात, छाती तानकर ऊँची आवाज में सारे विश्व में जिसके मुंह से गूंज उठेगी वही वास्तव में इतिहासकार की श्रेष्ठ पदवी धारण करने योग्य समझा जाना चाहिए। जो लालच और स्वार्थ की लपेट में आकर राजनीति का भय रखते हुए गधे, घोड़े सब बराबर कहता रहे उसे इतिहासकार कहना इतिहासविद्या को कलंकित करना है।

ईश्वरीय निर्माण एवं नियन्त्रण

वैदिक प्रणाली के अनुसार शेषशायी भगवान् विष्णु ने इस चराचर ब्रह्माण्ड का निर्माण किया और इसका आधार, कर्ता-धर्ता और नियन्त्रक भी वही है। क्यों किया? इस प्रश्न का उत्तर प्रभु की माया, भगवान् की लीला और परमात्मा की इच्छा यहीं तक ज्ञात है। भूमि, जल, वनस्पति, पशुपक्षी और मानव इस क्रम से उत्पत्ति हुई। यह विस्तृत उत्पत्ति एक क्षण में जादू की तरह हुई या अनेक वर्षों तक धीरे-धीरे होती रही इसका भी निर्णायक उत्तर मानव दे नहीं पाया है। हमारे इतिहास कथन के लिए उस प्रश्न का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि मानव का जन्म पृथ्वी पर लाखों वर्ष पूर्व हुआ और वहीं से हमारे इतिहास का आरम्भ होता है। वे मानव सक्षम, प्रवीण हट्टेकट्टे और सारी विद्या और कलाओं में प्रवीण देवतुल्य, देवनिर्मित व्यक्ति थे, वानर से बने जंगली मानव नहीं थे। जंगली अवस्था में जैसे-तैसे कैसे भी मानव शिशुओं का पालन-पोषण होता रहा यह प्रचलित पाश्चात्य विचारधारा तर्कसंगत नहीं है क्योंकि मानव-शिशु को १०-१२ वर्ष तक हर घण्टे-दो-घण्टे कुशल संगोपन प्राप्त न हो तो वह पाल-पोसकर स्वतन्त्र होने से पूर्व ही मर जाएगा।

वेदों की भाषा संस्कृत होने से वेदों के साथ ही आई। संस्कृत भाषा मानव की एकमेव देवदत्त भाषा बन गई। यह स्वतन्त्र रूप से सिद्ध करने के पश्चात् इसकी पुष्टि भी संस्कृत भाषा के विविध नामों से भी होती है। इसे सुरभाषा, गीर्वाण भाषा, सुरभारती आदि कहते हैं। यह सारे नाम संस्कृत देववाणी होने के साक्ष्य हैं। इसकी दो प्राचीन लिपियाँ ब्राह्मी और देवनागरी कहलाती हैं। वे नाम भी इसके ईश्वरीय स्रोत के द्योतक हैं।

सारे जीव ईश्वरीय सृष्टि के अभिनेता हैं

इस ईश्वरनिर्मित पार्थिव जीवन में प्रत्येक जीव ईश्वरदत्त निजी भूमिका निभाता रहता है। इसी नाटक में नई-नई पीढ़ियाँ एक ओर इस पृथ्वीपटल पर प्रवेश करती रहती हैं तो दूसरी ओर पुरानी पीढ़ियाँ मृत होकर अदृश्य होती रहती हैं। इसी ईश्वरीय लीला का विराट् दर्शन

भगवान् कृष्ण ने कुरुक्षेत्र पर अर्जुन को कराया था।

इस प्रकार वैदिक प्रणाली में ही आदि से अन्त तक का सारा विवरण तर्कशुद्ध, वैज्ञानिक ढंग से दिया गया है। इसकी तुलना में प्रचलित पाश्चात्य प्रणाली का जीवोत्पत्ति, मानव का निर्माण और भाषा-उद्भव आदि का विवरण जटिल उलझनें निर्माण करने वाला है।

पाणिनि का व्याकरण

पाणिनि का व्याकरण विख्यात है। संस्कृत का व्याकरण ऐसा उसे कहीं नहीं कहा है। प्राचीनकाल में सकल मानवों की संस्कृत ही एकमात्र भाषा होने के कारण उस मूल देवदत्त भाषा का ढांचा पाणिनि के ग्रन्थ में चर्चित है। पाणिनि का जीवनकाल विद्वान् अभी तक निश्चित नहीं कर पा रहे हैं। हो सकता है कि वेदवाणी, देवभाषा संस्कृत के ढांचे का विवरण देने वाले मूल ऋषि का नाम पाणिनि रहा हो और आगे चलकर वही व्याकरणपीठ चलाने वाले प्रत्येक ऋषि का नियत नाम बन गया हो।

सारी विद्या कलाओं का ईश्वरीय स्रोत

हमारा सुझाव है कि पाणिनि की व्याकरणप्रणाली वेदकाल से यानि ईसाई युग के प्रारम्भ से ही बनी हुई है। इस हमारे शोध-अनुमान का आधार यह है कि वैदिक प्रणाली में उल्लेखित १६ विद्याएँ और ६४ कलाएँ सारी ईश्वरदत्त कही गई हैं। जैसे संगीत के प्रवर्तक गन्धर्व थे, आयुर्वेद के प्रणेता धन्वन्तरी थे इत्यादि। वह ठीक भी है क्योंकि निपुण व्यक्तियों द्वारा ही अनपढ़ या अल्पज्ञानी व्यक्तियों को शिक्षा दी जाती है। प्रचलित पाश्चात्य विचारधारा कहती है कि जंगली अवस्था वाले व्यक्ति अपने आप विद्या और ज्ञानप्राप्ति में प्रगति करते रहे। यदि अल्पशिक्षित व्यक्ति ही अपने आपको विद्वान् बना पाते तो आजकल के विद्यालयों में प्राथमिक कक्षाओं के लिए भी विशारद स्तर के अध्यापक नियुक्त करने की आवश्यकता न पड़ती। इस उदाहरण से भी इतिहास-सम्बन्धी पाश्चात्यों की धारणाएँ कच्ची, अतार्किक और अवैज्ञानिक दिखाई देती हैं। अतः अणुविज्ञान आदि शास्त्रों में पाश्चात्य विद्वानों की बड़ी प्रगति देखकर

इतिहासादि ग्रन्य विद्याक्षेत्रों में उनके विद्वान् वैसे ही प्रवीण और अग्रसर होंगे, ऐसी कल्पना करना गलत होगा।

हिन्दू धर्म—एक विश्वसंस्कृति

हिन्दू धर्म को हिन्दुओं द्वारा विकसित अनेकानेक पंथों जैसा एक पंथ समझना योग्य नहीं। हिन्दू यह वर्तमान प्रचलित शब्द समस्त मानवों के मूल, वैदिक, सनातन, आर्य जीवनप्रणाली का द्योतक है। हिन्दू-प्रचारकों ने हिन्दू धर्म फैलाया होगा ऐसी कल्पना करना भी निराधार होगा। मानव की आद्यतम, विश्वप्रसृत प्रणाली वैदिक थी। उसी का आजकल हिन्दू यह नाम पड़ा है। वहाँ सारे प्रदेशों के समस्त मानवजाति की सभ्यता थी। छल, बल, प्रलोभन और कपट द्वारा कई लोग ईसाई और इस्लामी बनाए जाने के पूर्व विश्व की सारी जनता वैदिकधर्मी यानि हिन्दू ही थी। अतः हिन्दू यह सर्वरूप, प्राकृतिक उत्पत्ति का मूल सनातन मानवधर्म ही है।

आत्मा क्या है, और शरीर में कहाँ होती है ?

समस्त इतिहास का मूल मानवी आत्मा है। प्रत्येक व्यक्ति के विशिष्ट प्रवृत्तियों के कारण किए गए अच्छे-बुरे कर्मों से ही इतिहास बनता है। वह आत्मा शरीर में कहाँ होती है ? एक डॉक्टर ने भद्दा मस्करी में कहा कि मैंने इतने व्यक्तियों के शरीरों की शल्यक्रियाओं में चीरफाड़ की है तथापि मुझे आत्मा का अस्तित्व कहीं भी नहीं दिखाई दिया। सारे लोगों कि यही कठिनाई है कि शरीरान्तर्गत आत्मा का रूप क्या होता है और उसका स्थान कहाँ होता है ?

इसे भी एक सार्वजनिक ऐतिहासिक शोधसमस्या मानकर मैं यहाँ अपना निष्कर्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ। आत्मा प्राणवायुरूप होता है। धरोहरों में आजकल जो 'फ्रिजिडेयर' यानि विद्युत्शक्ति से चलने वाला एक शीत-कपाट होता है उसमें भी एक Sealed gas unit यानि एक स्थानबद्ध किया 'प्राण' वायु होता है। वह निकल जाने पर शीतकपाट निकम्मा बन जाता है। केवल कपाट का खोखा ही खोखा रहकर उसकी शीत कार्य-

प्रणाली रुक जाती है।

मानवी शरीर में भी प्रचलन यानि चेतना संचार कराने वाला ईश्वरीय प्राणवायु उर्फ ऊर्जा, नासिका से ऊपर दोनों आँखों के ऐन मध्य में जहाँ स्त्रियाँ कुंकुम लगाती हैं और पुरुष तिलक लगाते हैं वहाँ बद्ध होता है। प्रतिक्षण सूर्यबिम्ब से निकले असंख्य ऊर्जाकणों का तांता प्रत्येक जीवात्मा को उसके विशिष्ट कार्य या अकार्य का इशारा देता रहता है। यह उसी प्रकार होता है जैसे एक गाड़ीवान घोड़ों को जोते लगाम के इशारे से उसे चलने, दौड़ने, मुड़ने या रुकने का संकेत या आज्ञा देता रहता है।

कुंकुम और तिलक उस स्थान पर इसी कारण लगाया जाता है कि प्रतिदिन उस स्थान पर तिलक (या कुंकुम) लगाते समय एक क्षण ही क्यों न हो प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवात्मा से एकचित्त या तल्लीन और समाधिस्थ होने का अवसर प्राप्त हो और आत्मा का वह वसतिस्थान शुद्ध, सुगन्धित और पवित्र रहे जिससे कि सूर्य के ऊर्जाकणों द्वारा आत्मा को पवित्र, आध्यात्मिक मार्गदर्शन होता रहे।

एक गाड़ीवान, जैसे चार घोड़ों की बग्गी के अग्रभाग में बीचोंबीच ऊंचे आसन पर बैठकर घोड़ों पर लगाम द्वारा नियन्त्रण रखता है उसी प्रकार ईश्वर ने भी आत्मा को शरीर के अग्रभाग में नासिका के ऊपर ललाट के अन्दर दोनों आँखों के मध्य में आत्मा नामक प्राणवायु का स्थान-बद्ध कर रखा है।

रोग, वृद्धता या दुर्घटना के कारण जब उस स्थान से वह प्राणवायुरूप आत्मा स्खलित होता है तो व्यक्ति की आँखें एकाएक बेताल और बेतोल होकर उल्टी-सीधी घूमने लगती हैं। क्योंकि आँखों की तराजू का समतोल उस केन्द्रीय आत्मा पर निर्भर रहता है। एक तगड़ी में वजन अधिक हो जाने से जैसे दण्डी उस तरफ झुककर दूसरी तगड़ी विवश होकर ऊपर उठ जाती है वही हाल प्राणवायु के केन्द्रीय बैठक में गड़बड़ी होने पर आँखों का हो जाता है।

आँखें आत्मा की दो खिड़कियाँ हैं। इनके द्वारा ही प्रत्येक जीवात्मा विश्व के जीवन का निरीक्षण करती रहती है। ललाट पर ही प्रत्येक जीव का भाग्यलेखा या विधिलेख लिखा होता है इस पारम्परिक उक्ति का

निवास करने वाले प्राणवायुरूप आत्मा
अर्थ भी यही है कि ललाट के अन्दर
को ईश्वरदत्त जो विशिष्ट भूमिका (इस विश्वनाटक या जीवननाटक में)
निभानी पड़ती है, इसका लेखा नियति द्वारा आरम्भ से ही लिखा होता
है। आंखें आत्मा की खिड़कियाँ होने के कारण ही आत्मा का प्रत्येक भाव
आंखों द्वारा प्रकट होता है—जैसे क्रोध, व्यभिचार की इच्छा, अनुराग,
कपट, छलभावना इत्यादि इत्यादि।

मृत्यु होने पर वह प्राणवायुरूप आत्मा अपने स्थान से निकल जाती
है तो वह यदि मुंह के रास्ते निकल गई हो तो मुंह खुला रह जाता है;
आंखों में से होकर निकल गई तो मृत व्यक्ति की आंखें खुली रह जाती हैं।
आत्मा के आंखों के बीच, नासिका के ऊपर ललाट के अन्दर प्राणवायुरूप
में निवास इस ऊपर दिए प्रमाणों से भी सिद्ध होता है।

वायुरूप आत्मा नासिका के ऊपर ललाट में स्थित होने का एक और
प्रमाण यह है कि किसी बात पर बारीकी से विचार कर ध्यान केन्द्रित
करते समय प्रत्येक व्यक्ति के ललाट पर बल पड़ते हैं, भौंवें सिकुड़ती हैं
और पलकें झुककर आंखें अधूरी ढक जाती हैं।

५

वर्तमान अव्यवस्थित और कामचलाऊ इतिहास

दुःख की बात यह है कि विद्यमान सभी इतिहास की पुस्तकें उलझी हुई, विकृत की गई और सुनी सुनाई बातों पर आधारित हैं। यहां संक्षेप में उन गलतियों और विभ्रमों की ओर संकेत किया जा रहा है जिन्हें हम इतिहास के नाम से पढ़ते हैं। वर्तमान भ्रामक धारणाओं की पूरी सूची प्रस्तुत करना तो असम्भव है क्योंकि न जानें ऐसी कितनी ही गलत-शलत धारणाएँ प्रचलित हैं। फिर भी नीचे उद्धृत उदाहरणों से पाठकों को संशोधन की एक नई दिशा और दृष्टि प्राप्त होगी।

विश्व का आरम्भ

वर्तमान इतिहास-ग्रन्थों का एक मोटा और प्राथमिक दोष यह है की विश्व का आरम्भ कैसे और कब हुआ यह भी वे नहीं बताते। डेढ़ सौ वर्ष पूर्व के अनाड़ी अवस्था में यौरोपीय विद्वान् यह मानकर चलते रहे कि ईसापूर्व सन् ४००४ वें वर्ष के फेब्रुवरी मास में एक दिन प्रातः ६ बजे के लगभग विश्व का आरम्भ हुआ। बिशप उशर नाम के एक ईसाई पादरी ने वह तुक लगा दी। वह समझता रहा कि वह धौंस चल जाएगी क्योंकि कौन कैसे जाने कि विश्व कब और कैसे निर्माण हुआ। अतः लगा दो एक धौंस। किन्तु अब पाश्चात्य भौतिक शास्त्री वैदिक हिसाब को मानने लगे हैं कि यह विश्व करोड़ों वर्ष प्राचीन है। तथापि यौरोपीय इतिहासज्ञों ने अभीतक इस विश्व के अतिप्राचीनत्व को स्वीकार नहीं किया है। वे अभीतक मैक्समूलर के तुक को प्रमाण मानकर कह रहे हैं कि ऋग्वेद का निर्माण ईसापूर्व सन् १२०० में हुआ और तत्पश्चात् दो-दो सौ वर्ष के अन्तर से यजु, साम व अथर्ववेद निर्माण हुए।

आर्य जाति नहीं

को एक जाति मानना है जबकि मैक्सूलर ने भी दूसरी गलती 'आर्य' आर्य को जातिवाचक शब्द मानकर स्वयं आर्य को जाति नहीं माना है। उसी के परिप्रेक्ष्य में सारा इतिहास सजाने की वर्तमान प्रथा है।

कितनी जातियां ?

इतिहासज्ञ यह भी तय नहीं कर पाए है कि विश्व में कुल जातियां है कितनी ? प्रचलित धारणा में स्थूल रूप से नीग्रो, सेमेटिक, मंगोल, यौरोपीय आदि का उल्लेख होता है। किन्तु 'आर्य' कहने पर उसमें गौरकाय यौरोपीय और गन्धमवर्णी भारतीयों का भी समावेश होता है। आर्य यदि जाति होती तो ऐसा नहीं होता। ऐसे कई प्रश्नों का उत्तर न जानने के कारण आधुनिक विद्वान् इतिहास की गहराई में उतरने की टालमटोल कर इतिहास के आधे-अधूरे, ऊबड़-खाबड़ सिद्धान्तों से ही काम चला लेते हैं।

अतार्किक आरम्भ

वर्तमान इतिहासग्रंथों का तीसरा मोटा दोष यह है कि वे अपना विवरण एकाएक सीरिया, असीरिया, सिथिया, बेबिलोनिया, ईजिप्त, चीन आदि प्रांतिक राज्यों के उल्लेख से करते हैं जबकि उन्होंने पाठकों को यह बतलाना चाहिए कि लेखक की धारणा के अनुसार यदि बंदर से मानव उत्थान हुआ तो तत्पश्चात् सीरिया, असीरिया आदि बना लेने तक के मानवी प्रगति का इतिहास कहां है ?

स्थापत्य-सम्बन्धी गलत धारणाएं

चौथी गलती स्थापत्य के विश्लेषण-सम्बन्धी है। संस्कृत शिल्पशास्त्र के अनुसार निर्मित हिन्दू महलों को मुहम्मदी आक्रामकों का निर्माण समझा गया है। उस भ्रामक धारणा के कारण उस स्थापत्य शैली को पर्सिब्राऊन नाम का आंग्ल लेखक 'इस्लामी' कहता है। ई० बी० हॅवेल नाम का दूसरा अंग्रेज उस शैली को भारतीय कहता है जब कि अन्य कुछ लेखक उसे मिली जुली हिन्दू-मुस्लिम शैली मानते हैं।

एक ही शैली के बाबत आकाश-पाताल जितने विरोधी मत प्रकट किए जा रहे हैं। ऐसा क्यों ? वह इसलिए कि सारे पाश्चात्य प्रणाली के लेखकों की मूल धारणा ही गलत है। जिन ऐतिहासिक इमारतों को वे दरगाहें और मसजिदें कह रहे हैं वह सारे हड़प किए हिन्दू-भवन हैं। यद्यपि उन इमारतों का उपयोग या दुरुपयोग मुसलमान कर रहे हैं तथापि उन इमारतों की बनावट सारी हिन्दू है।

उस शैली को हिन्दू-इस्लामी मिश्र शैली कहने वाले स्वयं भ्रम में पड़े हुए हैं। वे यह स्पष्ट रूप से बता नहीं पाते कि मिश्र शैली से उनका अभिप्राय क्या है ? क्या वे यह कहना चाहते हैं कि मुसलमान सुलतान बादशाहों ने हिन्दू कारीगरों से काम लिया अतः दरगाहें और मसजिदें भी मंदिरों जैसी ही बनीं। या हिन्दू-स्थापत्य ग्रन्थों के अनुसार बनाई जाने के कारण मुसलमान करीगर होते हुए भी दरगाहें और मसजिदें हिन्दू शैली की बनीं ?

ऐतिहासिक प्रश्नों का हल करते समय ऐसे विविध प्रकार के जांच-पड़ताल के पश्चात् निर्णय लेना पड़ता है। वर्तमान इतिहास-लेखकों को वह प्रशिक्षण ही नहीं है। अतः उन्होंने ऊटपटांग सिद्धान्त लिख मारे हैं जिनका कोई न आगा है न पीछा।

ग्रीक और रोमन स्थापत्य शैली के बाबत भी वैसा ही घोटाला है। कभी कहते हैं वह एक स्वतंत्र शैली है या कहते हैं कि वह भारतीय शैली का ही एक प्रकार है।

निराधार निष्कर्ष

विद्यमान इतिहास ग्रन्थों का एक और मोटा दोष यह है कि उन्होंने दुनिया भर के इमारतों को बिना किसी जांच-पड़ताल के इस्लामी कह डाला। जहां कहीं अन्दर कब्र देखी या बाहरी भाग पर कुरान के अक्षर लिखे देखे झट् निर्णय दे दिया कि वह इमारतें मुसलमानों ने बनाईं। ऐसी निराधार कल्पना पर विश्व भर में हजारों ग्रन्थ लिखे गए हैं।

दोहरी नीति

सर्वत्र इतिहास के लेखन और अध्यापन में दोहरी नीति अपनाई जाती

ग्रहण नहीं किया, नेपोलियन है। हिटलर का लिखा रूस का इतिहास रूस ने ग्रहण नहीं किया, नेपोलियन का लिखा ब्रिटेन का इतिहास ब्रिटेनवासी ग्रहण नहीं करते। किन्तु इधर, हिन्दु-इतिहास, कला, स्थापत्य तथा पुराणों (शास्त्रों) जैसे विषय पर भी मुस्लिम और अंग्रेजों के आलेख सबसे अधिक प्रमाणित माने जाते रहे हैं। होना तो यह चाहिए कि मुसलमान या ईसाइयों द्वारा लिखा हिन्दू-परम्परा या इतिहास का विवरण अग्राह्य समझा जाए। क्योंकि वे हिन्दुत्व के विरोधक और शत्रु रहे हैं। उनका दूसरा दोष यह है कि वे वैदिक परम्परा की प्राचीनता की तुलना में ईसाई, मुसलमान, कम्युनिस्ट आदि कल के बच्चे हैं। कहां वैदिक संस्कृति का लाखों वर्ष का अस्तित्व और कहां ईसाई और मुसलमानों का १५०० से १६०० वर्षों का अस्तित्व। किसी घराने का इतिहास एक चार वर्षीय शिशु को पूछना जितना हास्यास्पद होगा उतना ही मुसलमान और ईसाइयों द्वारा लिखा हिन्दू-परम्परा का ब्योरा बचकाना और हास्यास्पद होगा।

ईसाई और मुसलमानों की संकुचित दृष्टि

ईसाई और मुसलमानों की दृष्टि कई प्रकार से संकुचित होती है। समय की दृष्टि से वे लाखों-करोड़ों वर्ष की परम्परा की कल्पना ही नहीं कर सकते। निजी धर्मान्धता के कारण भी वे बाइबल और ईसा तथा कुरान और मुहम्मद के अतिरिक्त अन्य सब बातों को नगण्य समझते हैं। उनके लिए ईसा या मुहम्मद का समय इतिहास की परिसीमा बन चुकी है। उसके पार वे अधिक कुछ देख पाते नहीं या देख सकते ही नहीं। जैसा कि ईसा या मुहम्मद के जन्मदिन से ही प्रथमबार सूर्योदय होने लगा। ईसाइयों के लिए ग्रीस और रोम से ही सभ्यता का आरम्भ होता है। इसका एक प्रत्यक्ष उदाहरण देखें। ईसापूर्व फ्रांस की संस्कृति वैदिक थी ऐसे जब चिह्न मुझे दीखने लगे तो मैंने अमेरिका के हार्वर्ड विश्वविद्यालय में फ्रेंचविभाग के प्रमुख से पत्रद्वारा पूछा कि ईसापूर्व फ्रांस के बारे में उन्हें क्या जानकारी है? तो उन्होंने मुझे लिखा कि वे तो फ्रांस को ईसाई देश मानकर ही उसका अध्ययन करते हैं। ईसापूर्व फ्रांस का उन्हें कोई पता नहीं है। इतिहास संशोधन की यह वर्तमान दुर्दशा देख। इससे मेरी ऐसी भावना दृढ़ हो

गयी कि यूरोप के विद्वान् ऐसा बर्ताव करते हैं जैसे किसी ने उन्हें शपथ दिलाई हो कि वे ईसापूर्व इतिहास को छुएं तक नहीं। ऐसे कार्य को वे अक्रिस्तीय या अ-इस्लामी मानते हैं। यही कारण है कि ईसापूर्व और इस्लामपूर्व इतिहास के पुनरीक्षण की नितान्त आवश्यकता है। वस्तुतः आज का इतिहास मुस्लिमों एवं क्रिश्चयनों का मनमाना मनगढंत इतिहास है, इसीलिए उनकी शोध-प्रक्रिया, इतिहास को विकृत कर चुकी है। उन्होंने ढेर सारे उपयुक्त प्रमाणों को छोड़ दिया है किन्तु अतार्किक, अविद्वत्तापूर्ण धुंधले तथ्यों एवं प्रमाणों को ही अपने निर्णयों का आधार बनाया है।

अतः वर्तमान इतिहास एक उलझनयुक्त आंग्ल-इस्लामी, अथवा यूरो-इस्लामी अथवा ईसाई-इस्लामी सुविधाओं का संकलन मात्र है।

भाषा-विज्ञान

उसी प्रकार भाषाशास्त्र के सम्बन्ध में भी वर्तमान युग के विद्वानों की धारणाएँ पाश्चात्य विचारधारा के प्रभाव के कारण बड़ी उलट-पुलट, ऊटपटांग, ऊबड़खाबड़ और अतार्किक हैं। मूलतः वे यह मानकर चलते हैं कि मानव बन्दर का बच्चा है। अतः प्रारम्भ से उसकी रहन-सहन जंगली थी। इस अवस्था में पशुपक्षियों के आवाज की नकल करते-करते किसी प्रकार मानव ने एक भाषा बना ली। उस भाषा का नाम कहीं 'पशुपक्षी भाषा' तो नहीं था? कोई नहीं जानता। कोई पूछता भी नहीं। क्योंकि आधुनिक शिक्षा तर्क पर नहीं अपितु रटेरटाये उत्तरों की होती है। इसमें अध्यापकों को भी यह लाभ होता है कि पेचीदे प्रश्न न पूछे जाने से उनके अज्ञान की पोलें खुलती नहीं है।

इस प्रकार मूल 'पशुपक्षी भाषा' का सिद्धांत कहकर पाश्चात्य भाषाशास्त्री कहते हैं कि आगे चलकर कुछ प्रमुख भाषा विभाग बन गए। क्यों? और कैसे कोई नहीं जानता। उन भाषाविभागों के नाम वे कहते हैं—सेमेटिक जिसकी अरबी, हिब्रू आदि शाखाएँ हैं। द्राविड़ी, जिसकी तमिल, तेलगु, कन्नड, मलयालम, तूलु आदि शाखाएँ हैं। तीसरे विभाग के वे तीन नाम बतलाते हैं—इण्डो यौरोपीय, इण्डो-जर्मन या इण्डोआर्यन्। इनमें ग्रीक, लैटिन, संस्कृत आदि भारत और यूरोप की विपुल भाषाएँ

सम्मिलित की जाती है। उस विभाग के तीन विभिन्न नामों से ही भाषा सिद्धान्त की अतार्किकता स्पष्ट होती है। क्योंकि उन तीनों नामों में से 'इण्डो' यह शब्द यदि निकाल लिया जाए तो यूरोप-जर्मन और आर्य यह तीन शब्द रह जाते हैं। क्या वे समानार्थी हैं? यूरोप तो एक विशाल भूखण्ड है। जर्मनी तो उसका एक छोटा-सा हिस्सा है। और 'आर्य' तो वैदिक संस्कृति का नाम है। और फिर इण्डो-यूरोपियन ऐसा दोगला नाम किसी भाषा का हो ही नहीं सकता। इस प्रकार वर्तमान भाषाविज्ञान का वह घोटाला इस ग्रन्थ में भली प्रकार सुलझाया गया है। अतः यह ग्रन्थ एक प्रकार का इतिहास-क्षेत्र का एक ज्ञानकोष ही बन गया है।

६

पांच सहस्र वर्षों की परिसीमा

चाहे किसी भी देश या संस्कृति के प्राचीनतम इतिहास का हमारा संशोधन ढाई-तीन या पांच सहस्र वर्षों तक पहुंचकर एकाएक रुक जाता है। जैसे कोई पर्दा लगा हो जिसके पार हम कुछ देख या सोच नहीं पाते। वह परिसीमा क्यों और कैसे बनी?

सिन्धुघाटी, ईजिप्त, हित्ती या चीन, जापान की सभ्यता का पता पांच सहस्र वर्षों के भीतर-ही-भीतर रह जाता है।

कहीं-कहीं तो वह सीमा केवल २५०० से ३००० वर्षों के भीतर ही रह जाती है। मानव का प्राचीनतम साहित्य जो वेद उनका काल मैक्समूलर ने ईसापूर्व सन् १२०० का दे रखा है। आजकल पाश्चात्य प्रणाली की शिक्षा में सारे विद्वान् उसी को अन्तिम सत्य समझकर समूचे इतिहास का आरम्भ वहीं से मानते हैं। इस प्रकार 'प्रथमग्रासे मक्षिका पातः' कहावत के अनुसार मैक्समूलर की कल्पित ईसापूर्व सन् १२०० की आधारशिला ही गलत होने के कारण इतिहास का अगला कालक्रम सारा बिगड़ा पड़ा है।

मानवी सभ्यता लाखों वर्ष प्राचीन होते हुए भी किसी भी देश-प्रदेश का इतिहास ३००० या ५००० वर्षों के पूर्व पहुंच नहीं पाता है, यह क्या समस्या है। आजतक इस समस्या का किसी को पता तक नहीं था तो उसका उत्तर कहां से पता हो?

वस्तुत वह ५००० वर्षों की सीमा या दीवार महाभारत युद्ध के भीषण-संहार के कारण खड़ी हो गई है। उस भीषण संहार के पूर्व का इतिहास यद्यपि आधुनिक विद्वान् सोच या समझ नहीं पा रहे हैं वह सारा इतिहास पुराण, रामायण, महाभारत इन ग्रन्थों में अंकित है।

महाभारत युद्ध एक अणुयुद्ध था, जिसमें भीषण संहार हुआ ही किन्तु

तत्पश्चात् भी जनता का बड़ा विनाश होता रहा। युद्ध के पश्चात् भूकम्प, तूफान, गुण्डों के हमले, खण्डप्रलय आदि बड़ी विनाशकारी घटनाएँ भी होती रहीं। इन विराट् विप्लवों तथा विघटनों ने प्रायः समस्त पूर्व-इतिहास को लोगों की स्मृति से मिटा दिया।

तथापि वेदों से महाभारत तक और तत्पश्चात् वर्तमान लघुभारत तक के सारे इतिहास की एक सूत्ररूप में ही क्यों न हो रूपरेखा संस्कृत में पुराण आदि ग्रन्थों के माध्यम से हमें भारत में उपलब्ध है। यह सारे ग्रन्थ महाभारत युद्ध तक सारे विश्व में पढ़े जाते थे। किन्तु संस्कृत भाषा का व्यवहारी प्रयोग इन प्रदेशों में जैसा-जैसा बन्द होता गया वैसे-वैसे सारे प्राचीन ग्रन्थ इन प्रदेशों को अज्ञात होते गए।

वैदिक संस्कृति तथा सनातनधर्म के टूटने का संकट मानव-समाज पर न आए इस कारण भगवान् कृष्ण ने दुर्योधन को युद्ध टालने का उपदेश भी दिया। वे भविष्यद्रष्टा थे। किन्तु दुर्योधन ने उनकी बात नहीं मानी और आग्नेयास्त्र, जीवजन्त्वस्त्र, अण्वास्त्र आदि के प्रयोग से मानवों का बड़ा संहार हुआ। विश्वसम्राटों का वैदिक शासन टूट गया और मानवी सभ्यता के वैदिक सनातन धर्म का आधार ही ढीला पड़ गया। द्वारका जैसी विशाल स्वर्णनगरी सागर की लपेट में आकर नामशेष हो गई। यादवों को द्वारका प्रदेश छोड़ जाना पड़ा। आजकल वे ही लोग ज्यू उर्फ ज्यूइस्ट्स कहलाते हैं। सीरिया (सुर) असीरिया (असुर) आदि प्रदेशों में वे जा बसे। मूसल से हताहत यह यादव लोग जहाँ जा बसे उस ईरान-इराक के संयुक्त सीमाप्रदेश का अभी तक 'मोसल' नाम है। कुछ समय पश्चात् अन्य यदु उर्फ यहूदी टोलियाँ पलेस्टाईन, जेरुसलेम तथा ईजिप्त में फैलीं।

इस प्रकार वर्तमान विश्व के देश-प्रदेश और जनजातियों का पूरा ब्यौरा आर्य, वैदिक, सनातन, हिन्दू धर्म में ही समाया हुआ है क्योंकि सृष्टि-उत्पत्ति काल से महाभारत युद्ध तक समस्त मानव-समाज वैदिक विश्वशासन में बद्ध था। कृत से लेकर द्वापर के अन्त तक वह व्यवस्था चली। अतः द्वापर के अन्त में हुए संहार से पूर्व लाखों वर्ष वैदिकसंस्कृति एवं संस्कृत-भाषा समग्र विश्व में प्रचलित रही।

महाभारत युद्ध के संहार के कारण ही वह केन्द्रीय वैदिक शासन और

समाज-व्यवस्था टूटकर विखण्डित हो गयी। विश्व-भर में चलने वाली गुरुकुल-शिक्षा-परम्परा, विश्व-भर के जनव्यवहार में होने वाला संस्कृत-भाषा का प्रयोग आदि सारी प्रणाली भंग हो जाने पर संस्कृतभाषा के ही जो प्रादेशिक विकृत उच्चार बने वही प्रान्तीय भाषाएँ कहलाने लगीं।

तत्पश्चात् यूरोप में ईसाई मत रोमन सेनाओं द्वारा लोगों पर लादे जाने के कारण और पश्चिमी देशों में अरब आदि सेनाओं द्वारा इस्लाम मत लादे जाने के कारण मानव-समाज अधिकाधिक विघटित होते-होते मूल वैदिक संस्कृति से बिछड़ता गया। अज्ञान और असूया से प्रेरित होकर ईसाई और इस्लामी लेखकों ने प्राचीन परम्परा, उल्लेख आदि को काफिर, मूर्तिपूजकों के रीतिरिवाज आदि दूषण लगाकर उन्हें नष्ट करने का यत्न किया।

इस प्रकार प्राचीनतम इतिहास कुछ महाभारत युद्ध से लुप्त-गुप्त हो गया और कुछ ईसाई तथा इस्लामियों के द्वारा नष्ट किया गया तथापि दैवी कृपा से हम अब उस अत्यन्त उपलब्ध टूटी-फूटी सामग्री से ही अनादि काल से आज तक के इतिहास का अखण्ड सूत्ररूप इतिहास इस ग्रन्थ में दे पा रहे हैं।

पंचांगों में दिए गणनानुसार यद्यपि मानव-समाज का विद्यमान इतिहास लगभग दो अरब वर्षों का है। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार मानव के पूरे इतिहास का विद्यमान दौर २४८०० वर्षों से अधिक लम्बा नहीं है। उनका कथन है कि पृथ्वी पर के मानवी सभ्यता इससे पूर्व ६४००० बार आग, सूखा, बाढ़, तूफान, युद्ध आदि संकटों से नष्ट होती रही। रामायण और महाभारत में दो महान् संहारी युद्धों का वर्णन है। उनके पूर्व की घटनाएँ पुराणों में वर्णित हैं।

ऊपर कहे प्रत्येक युग में मानव की वैज्ञानिक प्रगति एवं अवनति होती रही। भाग्य का उत्थान और पतन व्यक्तिगत जीवन की तरह सामाजिक जीवन में भी होता रहता है। प्राचीन काल में वायुयान, अन्तरिक्षयान अन्य ग्रहों से सम्पर्क, क्षेपणास्त्र आदि का प्रयोग विपुल मात्रा में होता रहा।

७

कुछ मूलगामी शब्दों की व्याख्या

प्रयोग हुआ है—वैदिक (संस्कृति)
इस ग्रन्थ में दो शब्दों का बारम्बार
और ईश्वर (द्वारा सृष्टि-निर्माण इत्यादि)। इन दो शब्दों से सम्बद्ध
वादविवाद में कई लोग अनेक विभ्रम या आक्षेप खड़े कर देते हैं। अतः
हम आरम्भ में ही उनका स्पष्टीकरण देना आवश्यक समझते हैं।

वैदिक संस्कृति, वैदिक प्रथा आदि की बात छिड़ने पर कुछ लोग
उसका ऐसा अर्थ लगाते हैं कि चार वेदों की जो संहिताएँ उपलब्ध हैं
उनमें जिन बातों का स्पष्ट रूप से निर्देश है वे ही वैदिक और बाकी सब
अवैदिक है।

वैदिक शब्द से हमारा अर्थ ऊपर दिए अर्थ से पूर्णतया भिन्न है। वेद
केवल बीज मात्र है। जैसे पीपल या वट जैसे विशाल वृक्ष का बीज। कोई
यदि कहे कि उन वृक्षों के सूक्ष्म बीज में उस वृक्ष के फल-फूल, शाखा-
विस्तार आदि कुछ है ही नहीं तो वह ठीक नहीं होगा। बीज में वह सारी
वृक्षवृद्धि समाई हुई होती है किन्तु मानव उसे पहचान नहीं पाता। अतः
हमारा कथन यह है कि उपनिषद्, पुराण, स्मृतिग्रन्थ, रामायण, महाभारत,
मूर्तिपूजा, अग्निपूजा, गुरुपरम्परा, उत्सव, व्रत, कथा-कीर्तन, सन्त-
महात्माओं के भक्तिगीत, जैन, बौद्ध आदि पंथ यह सारे उसी वैदिक बीज
का शाखाविस्तार होने के कारण 'वैदिक' शब्द में उन सबका अन्तर्भाव है।

अतः जो लोग कहते हैं कि वेदों में मूर्तिपूजा का उल्लेख नहीं है अतएव
मूर्तिपूजा अवैदिक है, हम इससे सहमत नहीं हैं। वैदिक संस्कृति में धर्मा-
चरण यानि सत्यनिष्ठा, परोपकार प्रेरित कर्तव्यपालन का ही आग्रह है।
बाकी किसी प्रकार की पूजा, पाठ, ध्यान या जाप का कोई बन्धन नहीं है।
कर्तव्यपालन और धर्माचरण में श्रद्धा या निष्ठा बनी रहे इस हेतु यदि कोई

पूजा-पाठ, व्रत, उपवास, जाप, याग आदि करना चाहे तो करे या न करे।

इसी प्रकार यह कहना कि शिवपूजन या शिव-प्रतिमा वेदों को सम्मत नहीं या वेदों में शिवजी का उल्लेख नहीं है उचित नहीं। ऐसे विवाद या तो पाश्चात्यों ने निर्माण किए हैं या शैव-वैष्णव आदि भेद उत्पन्न करने वालों ने। जब वैदिक परम्परा में राजा विष्णुभगवान् का प्रतिनिधि होता है और हरहर महादेव का नारा लगाकर शत्रु पर क्षत्रिय वैदिक परम्परा की सेना टूट पड़ती है तो क्या शिवजी वैदिक प्रणाली के देव नहीं हैं? हिन्दू, सनातन, आर्य संस्कृति की परम्परा में सम्मिलित सभी बातें वैदिक हैं। यदि किसी को कभी शंका आए कि फलानी बात वैदिक प्रणाली की है या नहीं तो वह सोचें कि क्या वह प्रणाली अनादि काल से चलती आ रही है और शिष्टसम्मत है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' यह उसकी पहचान है।

वेदों में इस विश्व की जटिल यन्त्रणा का विवरण मात्र है जैसे किसी दूरदर्शन, आकाशवाणी, मोटरगाड़ी आदि की पुस्तक से केवल उस विशिष्ट यन्त्र की गतिविधि का ही उल्लेख होता है। वेदों में भी किसी मूर्ति या निराकार के पूजा का उल्लेख नहीं है, वह इसलिए कि वेदों का वह विषय या उद्देश्य नहीं है।

विविध देवतामूर्तियों के बाबत भी कुछ लोग अज्ञानवश आक्षेप उठाते हैं। वैदिक परम्परा में मूर्तिपूजा करो, ऐसा आदेश नहीं है और मत करो, ऐसा प्रतिबन्ध भी नहीं है। अतः प्रत्येक व्यक्ति की रुचि या कुलरीति के अनुसार वह यदि राम, कृष्ण, हनुमान्, दुर्गा, पार्वती, शंकर, दत्तात्रेय, चंडी आदि किसी एक या अधिक देवता की भक्ति करता है तो इसका अर्थ यह लगाना भूल होगी कि वह केवल एक विशिष्ट देवता की ही आराधना कर रहा है। वैदिक संस्कृति में कोई भी मूर्ति एक विशिष्ट देवता की न होकर समूचे ईश्वरी शक्ति की प्रतीक होती है। प्रत्येक मूर्ति में सारा देवत्व समाया हुआ वैदिक प्रणाली के लोगों को दिखाई देता है। "एकं तत् सत् विप्राः बहुधा वदन्ति या पश्यन्ति"—यह नियम यहाँ लागू है। ईसाई या इस्लामी व्यक्ति इसे समझ नहीं पाते। वैदिक संस्कृति में ३३ कोटि देवों का उल्लेख सुनकर उन्हें बड़ा अटपटा-सा लगता है। सारे चराचर के कण-कण में ईश्वरीय शक्ति समायी होने के कारण वह विविध रूप में यानि

ग्रग्नि, तूफान ग्रादि किसी भी रूप में ग्रति विनाशकारी या महान्
महाय्यकारी भी हो सकती है—यह तथ्य ग्रनेकानेक देवमूर्तियों द्वारा वैदिक
संस्कृति में प्रकट किया गया है। ग्रतः 'वैदिक' का ग्रभिप्राय दीर्घकालीन
सनातन परम्परा से है।

इस्लामी या ईसाई परम्परा भी वैदिक कहलाई जा सकती है यदि
उनके कुछ ग्रवैदिक हठ या दुराग्रह छोड़ दें तो। इस ग्रन्थ के कई ग्रध्यायों
में यह स्पष्ट किया गया है कि ग्राज जो ग्रपने ग्रापको इस्लामी या ईसाई
मानते हैं वे वैदिक परम्परा करने वाले दादा-परदादाग्रों की ही सन्तान
हैं। ग्रतः उनकी परिभाषा, परम्परा, त्योहार, रीति-रिवाज सारे वैदिक
होते हुए भी वे ग्रपने ग्रापको वैदिक परम्परा के विरोधक या शत्रु मान
रहे हैं, यह उनकी बड़ी भारी भूल है।

वर्तमान प्रणाली में लोग हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई ऐसा उल्लेख
करके उनके इस विश्वास को प्रकट करते हैं कि मानो ग्रन्य पंथों जैसा
हिन्दू भी एक पंथ है। यह सरासर भूल है। वे सारे तो केवल पंथ हैं किन्तु
हिन्दू धर्म है। हिन्दू दूसरों के बराबरी का पंथ नहीं है। 'हिन्दू' या वैदिक
ग्राचार यह पंथ न होकर समस्त मानवों का धर्म है। वैदिक धर्म की
इस्लाम, ईसाई ग्रादियों की तुलना में कई विशिष्टता हैं जैसे—(१) वैदिक
हिन्दू-प्रणाली में ग्रास्तिक से नास्तिक सारे ही सम्मिलित होने के कारण
किसी पूजा-पाठ का बंधन किसी पर नहीं है। (२) वैदिक प्रणाली व्यक्ति-
निष्ठ न होने के कारण मुहम्मद या ईसाई जैसे किसी एक व्यक्ति से
जकड़ी हुई नहीं है। (३) मुहम्मद या ईसा जैसा एक व्यक्ति को सर्वगुण-
सम्पन्न या सर्वज्ञानी मानकर उसी के शरण जाग्रो या उसी का श्रेष्ठत्व
मानो—यह दुराग्रह या हठ वैदिक परम्परा को कतई सम्मत नहीं। यहाँ
तो 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्'—यह परिपाटी चलती है। (४) व्यक्ति-
विशेष के सारे पाप-कर्मों का बोझ इस्लाम में मुहम्मद पैगम्बर को ग्रौर
ईसाई-परम्परा में ईसा को सौंपा गया है। वैदिक परम्परा में तो प्रत्येक
व्यक्ति को निजी पाप-पुण्य का बुरा या ग्रच्छा फल ग्रपने ग्राप भोगने
की बात कही है। (५) प्रत्येक जन्मे हुए व्यक्ति का ग्रपने ग्राप हिन्दू धर्म
में इसलिए ग्रन्तर्भाव है कि जन्मे हुए प्रत्येक व्यक्ति का ग्रपना-ग्रपना देवदत्त

कर्तव्य निभाए बिना छुटकारा है ही नहीं। 'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात्
द्विज उच्यते'—इस मनुस्मृति के वचन से भी स्पष्ट है कि जन्म पाया हुग्रा
प्रत्येक व्यक्ति शूद्र-स्तर यानि (प्रारम्भिक कक्षा) से ग्रपना हिन्दू, वैदिक
प्रणाली का जीवन प्रारम्भ करता है। मुसलमान ग्रौर ईसाई परम्परा में
प्रत्येक व्यक्ति कृत्रिम दीक्षा या सुन्ना या बप्तिस्मा जैसे विधि द्वारा
मुसलमान या ईसाई घोषित कराया जाता है। उस विधि के पूर्व वह व्यक्ति
ग्रौर ग्रन्य सारे ही जन जो स्वेच्छा से ईसाई या मुसलमान न बने हों वे
सारे हिन्दू ही हैं। ऐसे मुद्दों से धर्म ग्रौर पंथ का भेद स्पष्ट होता है। ग्रतः
हिन्दू, सिख, ईसाई, मुसलमान, पारसी ग्रादि समानार्थी उल्लेख करने वाले
व्यक्ति को ग्रज्ञानी ही समझा जाना चाहिए। हिन्दू या वैदिक प्रणाली
सबसे ऊपर, सबसे श्रेष्ठ ग्रौर समस्त मानवों की माता के समान है। इसमें
कोई भेद-भाव नहीं है। छूत-ग्रछूत का सार्वजनिक भेद भी वैदिक प्रणाली
को सम्मत नहीं है। स्त्रियों का मासिक धर्म या किसी व्यक्ति की मृत्यु पर
उसके घरवालों ने सूतक ग्रादि का पालन करना, या घर में प्रसूति के
पश्चात् कुछ दिन घर ही घर में छुग्राछूत का बंधन पालना यह तो वैद्यकीय
स्वच्छता ग्रौर संसर्ग से रोग-जन्तुग्रों का प्रसार न हो इस दृष्टि से लगाए
गये बंधन हैं। किन्तु घर से बाहर के सार्वजनिक व्यवहार में छुग्राछूत का
भेदभाव वैदिक प्रणाली में विदित नहीं है।

कुछ व्यक्ति वैदिक प्रणाली को ठीक प्रकार समझ न पाने के कारण
ऐसी कल्पना कर बैठते हैं कि हिन्दू माता-पिता से जन्म पाया हुग्रा व्यक्ति
हिन्दू कहला सकता है ग्रन्य कोई ग्रपने ग्रापको हिन्दू नहीं कह सकता।
मुझे एक व्यक्ति मिले जो हिन्दू धर्म की विशेषताएँ ग्रपने परिचितों में
दोहराते रहते हैं। वे व्यावसायिक दौरे पर केनडा गये। वहाँ योग ग्रौर
हिन्दू-दर्शनशास्त्र ग्रादि पर बात छिड़ी तो वैदिक प्रणाली से प्रभावित एक
गौरकाय कैनेडियन महिला ने उनसे कहा कि 'मैं हिन्दू बनना चाहती हूँ'।
उस पर यह व्यक्ति (जो ग्रपने ग्रापको बड़ा हिन्दुत्ववादी समझता था) ने
कहा "नहीं बाबा नहीं ग्राप हिन्दू नहीं बन सकतीं। हिन्दू कुल में जन्म लेने
वाला ही हिन्दू होता है।"

मैं यदि उनके स्थान पर होता तो मैं तो उस महिला को मनु महाराज

"जन्मा हुआ प्रत्येक व्यक्ति हिन्दू ही होता है" अतः
के आधार से कहता कि लौकिक दृष्टि से यदि आप अपना संकुचित ईसाई पंथ
आप हिन्दू तो हैं ही। होना चाहती हैं तो
छोड़कर विशाल हिन्दूधारा में प्रकट रूप से सम्मिलित कहा जाए,
भी आप केवल प्रत्येक से कहा करें कि मुझे आज से ईसाई न
मैं हिन्दू हूं। हिन्दू धर्म में प्रवेश सबसे आसान है। जो जन्म पाता है सो तो
हिन्दू है ही। किन्तु दुनियादारी के व्यवहार में जो ईसाई या इस्लामी पंथ
त्यागकर अपने आपको हिन्दू कहना शुरू कर दे वह हिन्दू बनता ही है।
केवल कहना ही पर्याप्त है। हिन्दू होने से कोई किसी को रोक नहीं सकता।
सबका हिन्दू धर्म में स्वागत है। किन्तु और अधिक प्रकट रूप से कोई अपने
आपको हिन्दू कहलवाना चाहता है तो वह समाचार पत्रों में घोषणा
प्रकाशित करवा दे कि—आज से मैं अपने आपको हिन्दू मानता हूं अतः सारे
लोग मुझे हिन्दू समझकर मेरे से व्यवहार करें। यदि किसी धार्मिक विधि
से कोई हिन्दू बनना चाहे तो किसी भी आर्यसमाज मन्दिर में या बम्बई के
मसूराश्रम संस्थान में होम हवन और वैदिक मंत्रोच्चारण के साथ हिन्दू बना
लिया जाता है। अतः मुझे यह दृढ़ प्रतिपादन करना है कि जन्म पाया हुआ
प्रत्येक व्यक्ति हिन्दू है चाहे उसके माता-पिता अपने आपको ईसाई या
इस्लामी भी कहलाते हों। हिन्दुत्व का विरोध न करने वाले सारे हिन्दू ही हैं।

इस ग्रन्थ में 'ईश्वर' या 'ईश्वरीय' ऐसा उल्लेख हमने जब भी जहां भी किया है वह इस सृष्टि को निर्माण कर चलाने वाली कर्ता, धर्ता, दाता शक्ति का निर्देशक है।

हम जानते हैं कि इस ग्रन्थ को पढ़ने वाले वाचक नास्तिक भी हो सकते हैं। वे ईश्वर का अर्थ प्रार्थना से प्रसन्न होने वाला और निन्दा से क्रुद्ध होने वाला व्यक्ति—ऐसा न लें। ईश्वर वैसा है भी नहीं कि वह किसी के स्तुति से आगे कदम बढ़ाए और निन्दा सुनकर मुंह फेरले। इस विश्व का निर्माण कर चलाने वाली शक्ति एक अव्यक्त निष्पक्ष यन्त्रणा भी हो सकती है। अतः इस ग्रन्थ के सभी आस्तिक या नास्तिक वाचक ईश्वर-सम्बन्धी अपनी-अपनी कल्पनाएं निस्संकोच कायम रखते हुए इस ग्रन्थ में चर्चित तथ्यों को ग्रहण करें या समझ सकें ऐसी तर्कशुद्ध और तर्कसिद्ध भूमिका से ही यह ग्रन्थ लिखा जा रहा है।

८

नये तथ्य एवं नया ढाँचा

सामान्यतया किसी नए ऐतिहासिक प्रकाशन का समाचार सुनते ही आम धारणा यह होती है कि उसमें वही पुरानी बातें आगे-पीछे करके लिख दी गई होंगी। किन्तु यह ग्रंथ अन्य सारे इतिहास ग्रन्थों से एकदम भिन्न है। इस ग्रन्थ में प्रस्तुत की गई शोधसामग्री, पग-पग पर दिए गए तर्क और विश्व-इतिहास का बताया हुआ ढांचा एकदम अपरिचित, अद्भुत और मनोहारी प्रतीत होगा।

जनता को इस बात की जरा भी कल्पना नहीं है कि ईसाई, इस्लामी और साम्यवादी (कम्युनिस्ट) लोगों ने स्वार्थ, अज्ञान, दुराग्रह और कुटिल कुत्सित हेतु से विविध घटनाओं को तोड़मरोड़कर उलटे-सीधे क्रम और सिद्धान्तों में लपेटा हुआ जो इतिहास प्रस्तुत किया है वह सर्वथा अयोग्य, भ्रमपूर्ण, असत्य और अहितकारी है।

दुराग्रही, अतार्किक भाव से इन लोगों ने ईसवी पूर्व ४००४ वर्ष से सभ्यता का आरम्भ मान लिया।

तत्पश्चात् किसी एक सिकन्दर, ईसामसीह, मुहम्मद या कार्ल मार्क्स को उन्होंने इतिहास के खूंटे का या मानवों के आद्य गुरु का पद दे दिया।

उस कल्पित आद्यगुरु के पूर्व का सारा इतिहास विधर्मियों, काफिरों या पूंजीपतियों का मानकर उसे धिक्कारते हुए वे नष्ट करते रहे।

जो ईसाई हैं उनका तो कहना ही क्या है? वे इतना भी नहीं जानते (और जानना चाहेंगे भी नहीं) कि ईसामसीह एक काल्पनिक व्यक्ति है।

उधर युगयुगान्तर के इतिहास का प्रकट करनेवाले संस्कृत पुराणों को उन्होंने इसलिए दुर्लक्षित किया कि उन्हें न तो पुराणों में वर्णित व्यक्ति और घटनाओं से कोई आत्मीयता थी और न ही उन की भाषा संस्कृत से।

अदीर्घ परवशता में स्वयं अपना आत्मविश्वास और अधिकार खो बैठने के कारण शत्रुद्वारा लिखे गए इतिहास को ही प्रमाण मानने की प्रवृत्ति हिन्दू-समाज में भी छा गई। साथ ही आत्महीनता की भावना से समस्त हिन्दुसमाज ग्रस्त होने के कारण प्राचीन संस्कृत-साहित्य को नगण्य समझना, नगर, किले, प्रासाद, महल, मन्दिर आदि जिस कुशल कारीगरी से बनाए जाते थे उस स्थापत्यविद्या को भूल जाना, आयुर्वेद का अवमूल्यन कर उसकी शिक्षा बन्द कर देना या डॉक्टरी और यूनानी विद्या की भरपूर मिलावटवाला आयुर्वेद सिखाना—ऐसे राष्ट्रीय अवहेलना के अपराध स्वतन्त्र भारत के हिन्दू-शासक भी कर रहे हैं।

यद्यपि परायों का शासन समाप्त हुआ है भारतीयों ने पराई शासन-प्रणाली ज्यों-की-त्यों चालू रखी है। क्योंकि पराधीनता में आत्मविश्वास नष्ट हो जाने के कारण जकड़नेवाली बेड़ियाँ ही जीवनाधार मानने की प्रवृत्ति बनती है। हिन्दू-पत्रकार और समाचार पत्र पाश्चात्यों का अन्धानुकरण करने में मग्न हैं। पाश्चात्य पत्रकार जिस वार्त्ता को नगण्य या सनसनाती मानते हैं भारतीय पत्रकार भी उस वार्ता का ठेठ वैसा ही मूल्यांकन करते रहते हैं।

ऐसे घोर निराशाजनक परिस्थिति में इस ग्रन्थ द्वारा वैदिक संस्कृति का सही स्वरूप एवं प्राचीन विश्वव्यापकता को ज्ञात कर पाठकगण गौरव अनुभव करेंगे और अकर्मण्यता तथा उदासीनता को त्यागकर अधिक उत्साही और कार्यप्रवण बनेंगे, ऐसी मैं आशा करता हूँ।

विश्व की प्राचीनता का उदाहरण लें। हमारे भारतीय पंचांगों के प्रारम्भ में युगों-युगों का जो हिसाब दिया होता है, उसके अनुसार सृष्टि-उत्पत्ति काल से आजतक १, ९७, २९, ४८, ०८४ इतने वर्ष लगभग बीत गए हैं। आधुनिक पाश्चात्य भौतिक शास्त्रियों का भी यही हिसाब है।

कुछ भारतीय विद्वानों का मत है कि कृतयुग और तत्पश्चात् अन्य युगों का काल क्रमशः ४८०० वर्ष, ३६०० वर्ष, २४०० वर्ष और १२०० वर्ष ही माना जाना चाहिए। किन्तु रूढ़ पारंपरिक मत के अनुसार ऊपर लिखी संख्याएँ दैवी वर्षों की होने के कारण उन्हें ३६० से गुणा करने से प्रत्येक युग का काल मानवी वर्षों में प्राप्त होता है।

जैसे भी हो वे दोनों हिसाब पाश्चात्य विद्वानों के कल्पित अनुमान से कहीं अधिक हैं। पाश्चात्य विद्वान् तो यह समझते रहे हैं कि विश्व का निर्माण ४००४ वर्ष ईसापूर्व हुआ। और तत्पश्चात् जंगली अवस्था के मानवों में कुछ सुधार होने के कारण कुछ संस्कृत-भाषी गडरिये भेड़ चराते-चराते ई० पू० १२०० के लगभग जो अंटसंट गीत गुनगुनाये, वे हैं वेद। मैक्समूलर-प्रणीत उसी निष्कर्ष को पूर्णतया सही मानकर भारतीय और विदेशी विद्यालयों में संस्कृत-साहित्य का अध्ययन एवं संशोधन हो रहा है। भारतीय और विश्व के इतिहास से यह कितनी बड़ी खिलवाड़ है। शत्रु-लिखित इतिहास को प्रमाण मानने से कितना धोखा होता है उसका वह एक स्थूल उदाहरण है।

वेद और वेदों की भाषा संस्कृत देवदत्त हैं, ऐसा वैदिक परंपरा कहती है। उसकी पुष्टि की अपेक्षा क्रिश्चियन यौरोपीय विद्वानों से नहीं करनी चाहिये। वे कौन होते हैं? कालमर्यादा-सम्बन्धी उनके दृष्टिकोण सदा ही बड़े संकुचित रहे हैं। उनके 'हां' या 'ना' को महत्त्व देने से काम नहीं चलेगा। ईसापूर्वकाल के इतिहास-सम्बन्धी अध्ययन, संशोधन की उनकी पद्धति दोषपूर्ण है।

तपस्वी, निस्वार्थी ऋषिमुनियों द्वारा प्राचीन वैदिक वाङ्मय में उद्धृत सृष्टि-निर्माण, वेद-प्राप्ति आदि की परंपरा अधिक विश्वसनीय है।

ऋषिमुनियों द्वारा कही गई परंपरा ही सही है इसका एक और बड़ा प्रमाण यह है कि सारे विश्व में उस परंपरा के अस्तित्व के चिह्न पाये जाते हैं। वैदिक परंपरा ही विश्व के समस्त इतिहास की जड़ होने के कारण सारे तथ्यों में वही सूत्र पाया जाता है। इस ग्रन्थ के पूर्व विश्व की विविध भाषाएँ, देवता, रीतिरिवाज आदि में दीखने वाली समानता का कारण या रिश्ता आजतक पता नहीं लगता था। इस ग्रन्थ में हमने यह दर्शाया है कि विश्वभर के समस्त जन सृष्टि-उत्पत्ति समय से महाभारतीय युद्ध तक लगातार वैदिक संस्कृति से ही पले, पोसे होने के कारण उनमें एक अटूट रिश्ता दीखना स्वाभाविक ही है। विश्व-इतिहास की एक विशाल उलझन का यह कितना सीधा-सादा किन्तु अमोल और सर्वव्यापी उत्तर है!

उदाहरणार्थ यहूदी, क्रिश्चियन एवं इस्लामी समस्त परंपराएँ तथा

वैदिक इतिहास के संदर्भ में ही समझी जा उनकी परिभाषाएं प्राचीनतम
उप-नदियां हैं। आगे चलकर सकती हैं। वे सभी वैदिक महाधारा से बिछड़ी
"जनता कितना इतिहास जानती इसी ग्रन्थ के एक अध्याय का शीर्षक है
जो आजकल के विद्वानों के लिए है ?" उसमें ऐसे कई बातों का उल्लेख है
वैदिक परंपरा के रिश्ते से जटिल समस्या बनी हुई हैं किन्तु जिनका हल
झट पाया जाता है।

पाठकों की प्रतिक्रिया

इस ग्रन्थ में उद्धृत तर्क और प्रमाणों वर्तमान मान्यताओं के सन्दर्भ में
उन्हें सुखद आश्चर्य-सा से पाठक चौंक जाएंगे। कई विवरण पढ़कर
प्रमाण और क्रमबद्ध तर्कों के लगेगा। तथापि इस ग्रन्थ में प्रस्तुत भरसक
इस अखंडित इतिहास का आधार पर वर्णित विश्व के आदि से आजतक के
जैसे यूरोप में गैलीलिओ, महत्त्व कुछ समय पश्चात् लोग जान पाएंगे।
आईन्स्टीन आदि के सिद्धान्तों पर लोगों ने प्रथम अविश्वास प्रकट किया,
किन्तु अब उन्हें अग्रगण्य तहलका मचा। लोगों ने भला, बुरा कहा।
वैज्ञानिक माना जाता है। विविध ऐतिहासिक ग्रंथों द्वारा मैंने समय-समय
पर जो क्रांतिकारी सिद्धान्त प्रकट किए, उन पर वैसी ही जनप्रतिक्रिया
रही।

साधनों का अभाव

इस ग्रन्थ की व्याप्ति लुप्त-गुप्त विश्व-इतिहास के ज्ञानकोश की तरह
है। ऐसे सर्वगामी ग्रन्थ के लिए धन तथा अन्य साधनसामग्री, संदर्भ-सुविधा,
लिपिक, अनेक अन्य सहायक आदि की आवश्यकता होती है। इनमें से मुझे
कुछ भी उपलब्ध नहीं था। केवल मेरा मस्तिष्क और मेरी लेखनी यही दो
मेरे साधन रहे हैं।

शांति से विचार

इस ग्रन्थ में कही गई कई बातें एकदम नयी होने के कारण पाठकों
को अटपटी या अविश्वसनीय प्रतीत हो सकती हैं तथापि उद्धृत प्रमाणों के

आधार पर वे उन पर शांति से मनन चिन्तन करते रहें। हो सकता है कि
वही बातें आगे चलकर बड़ी तथ्यपूर्ण और उपयुक्त प्रतीत हों।

सोने की ढली वस्तु बनते ही तप्त होती है। स्पर्श करने पर हाथ
जलता है। किन्तु ठंडी हो जाने पर बड़ी उपयुक्त और शोभायमान होती
है। उसी प्रकार इस ग्रन्थ में दिये चौंकानेवाले तथ्य कुछ समय के पश्चात्
ठण्डे और शांत मन से सोचने पर ग्राह्य, लाभकारी और गौरवशाली प्रतीत
होंगे। अतः लेखक को पाठकों की प्रतिक्रिया जानने की कोई त्वरा नहीं है।
पाठक भी इस ग्रन्थ में प्रस्तुत तथ्यों पर अपनी-अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त
करने में धांधली न करें। हर नए मुद्दे को अपने-अपने हृदय की तह में
उतरने दें और उसपर ध्यानपूर्वक विचार करें।

६

इतिहास का 'एकमेव केन्द्रीय स्रोत'--सिद्धान्त

विश्व के ऐतिहासिक साहित्य में यह ग्रन्थ अपने अनेक विशिष्ट गुणों से अनोखा और अद्वितीय सिद्ध होगा। इस ग्रन्थ में यह दर्शाया गया है कि मानवी इतिहास सीरिया, असीरिया आदि अनेक विभक्त राष्ट्रों से नहीं अपितु एक दैवी स्रोत के अविभक्त वैदिक कुटुंब से आरम्भ होता है। इस ग्रन्थ में प्रथम बार मानव के आदि से आजतक का इतिहास अखंड रूप में सप्रमाण और सतर्क प्रस्तुत किया जाना इसकी दूसरी विशिष्टता है। इतिहास की कई समस्याओं का शोध कर उनका उत्तर भी इस ग्रन्थ में दिया गया है—यह इस ग्रन्थ की तीसरी विशेषता है। चौथी विशेषता यह है कि वर्तमान इतिहास-संशोधनपद्धति के कई दोष इसमें चर्चित कर सही संशोधनपद्धति समझा दी गई है।

ग्रन्थ-लेखक की रुचि के अनुसार या तात्कालिक आवश्यकतानुसार बीच से ही कहीं से विवेचन शुरू कर कुछ इधर-उधर की घटनाओं या पहलुओं की चर्चा कर अधिकांश ऐतिहासिक ग्रन्थ कृतकृत्यता मान लेते हैं। एक या दो सहस्र वर्षों से प्राचीन घटनाओं की स्पष्ट कल्पना भी सामान्य इतिहासकारों को नहीं होती। अतः लाखों, करोड़ों वर्ष पूर्व आरम्भ हुए मानवी इतिहास का आज तक का तफसील सुसूत्र रूप से कथन करने वाले इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है।

ब्रह्मतत्त्ववेत्ता प्रत्येक वस्तु का प्रारम्भ 'एकमेव अद्वितीयं ब्रह्म' से मानते हैं। भौतिक शास्त्रवेत्ता भी विद्युत्, वायु, जल, आकर्षणक्षमता आदि विविध भौतिक शक्तियों का स्रोत एक मूलतत्त्व को ही मानते हैं। अतः इस मूल नियम के अनुसार मानवी इतिहास का आरम्भ भी एक मूल

स्रोत से ही होना स्वाभाविक था। तथापि आज तक के इतिहासों में यह तथ्य नहीं पाया जाता। डार्विन साहब के अनुयायी प्रतिपादन करते हैं कि विश्वभर के विविध वनों में रहने वाले मर्कट यदाकदा यथाकथा मानव बनते रहे। दूसरे कुछ इतिहासकार यकायक सीरिया, असीरिया आदि खंड राज्यों से इतिहास का कथन आरम्भ कर देते हैं।

अतः प्रथमतः यह जानना आवश्यक है कि सौरजगत् और मानव का उद्भव यदृच्छया, ऊटपटांग, अव्यवस्थित प्रकार से न होकर सुनियोजित एवं व्यवस्थित ढंग से ही हुआ। इसे ही हम इतिहास क्षेत्र का 'एकमेव केन्द्रीय स्रोत' सिद्धान्त कहते हैं। आधुनिक काल में इस सिद्धान्त को प्रस्तुत करने वाला यह प्रायः पहला ग्रन्थ है।

लाखों वर्ष पूर्व 'कृत' युग से मानवी इतिहास का आरम्भ हुआ। 'कृत' का अर्थ है कि स्वयं ईश्वरी शक्ति द्वारा पूरी सिद्धता से घड़ा हुआ। जिसमें जल, वनस्पति और पशुओं के पश्चात् मानव की एक या अधिक शिक्षित पीढ़ी निर्माण की गई। उसी समय वेद भी दिए गए। वेदों की भाषा संस्कृत होने के कारण संस्कृतभाषा भी प्रारम्भिक पीढ़ियों को पढ़ाई गई। उसी तरह जिस प्रकार माता-पिता सन्तान को भाषा अवगत कराते हैं। इसी कारण वेद और संस्कृतभाषा समस्त मानवों को मूल दैवी देन है। प्रचलित इतिहास-ग्रन्थों में इस महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक तथ्य का उल्लेख तक नहीं है। विश्वयन्त्र को इस प्रकार पूरी तैयारी से चला देने के पश्चात् भगवान् दूर खड़े हो गये। यह हम कैसे सिद्ध करते हैं? तत्सम उदाहरण लेकर। जिसे आंग्ल भाषा में method of analogy यानि तत्सम द्वारा निष्कर्षपद्धति कहते हैं। इतिहास के संशोधन में इस पद्धति का बड़ा महत्त्व है। जैसे नाटककार नाटक शुरू कराने के पश्चात् दूर प्रेक्षकों में जा बैठता है। जैसे (umpire या referee यानि) क्रीडा-निर्णायक खेल शुरू होते ही दूर रहकर निरीक्षण करता रहता है वैसे ही विश्वयन्त्र चला देने के पश्चात् भगवान् भी निरीक्षणार्थ दूर बैठ गये। इस नुक्ते पर अध्यात्म और इतिहास दोनों सहमत हैं। दोनों का निर्णय एक ही है। दोनों एक ही बिन्दु पर पहुंचकर कहते हैं कि बस यही अन्तिम मुकाम है। इसके पार और कुछ नहीं है। सारी विद्याओं की चरम सीमा एक ही बिन्दु पर केन्द्रित होती है।

इस ऊपर कहे सिद्धान्त का यह एक और उदाहरण है। साथ ही यह हमारे
कथन के सत्याधार की कसौटी भी है। क्योंकि यदि अध्यात्म और इतिहास
अपने निजी भिन्न मार्गों से एक ही समान बिन्दु पर पहुंच जाते है तो
'एकं तत् सत् विप्राः बहुधा वदन्ति' की सत्यता जान पड़ती है।
अतः कोई भी समूचा इतिहास अध्यात्म से ही प्रारम्भ होना चाहिए।
कितना ही अच्छा हो यदि इतिहास का यह एकमेव वैदिक केन्द्रीय स्रोत का
सिद्धान्त अन्ततोगत्वा समस्त मानवों को वैदिक संस्कृति के सूत्र में फिर
पिरो सके। बोलचाल में संस्कृत-भाषा का प्रयोग, संस्कृत-भाषा के माध्यम
से पुनः गुरुकुल-शिक्षा का प्रसार, गुण-कर्म-विभागी चातुर्वर्ण्य धर्माश्रम
वाला समाज; सम्पूर्ण विश्व का एक राष्ट्र जिसमें प्रत्येक मानव बिना किसी
पासपोर्ट या व्हीसा के पृथ्वी के किसी भी भाग में विहर सके, आयुर्वेद का
प्रसार आदि वैदिकजीवनप्रणाली द्वारा 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भावना को
प्रस्थापित करना ही सबका लक्ष्य और ध्येय होना चाहिए। इस प्रकार
इतिहास के भी कुछ सबक सीखकर जीवन में अधिक सुधार, सुख-समृद्धि
तथा एकता लाने की प्रेरणा प्रत्येक व्यक्ति में जागृत होनी चाहिए।
इतिहास-शिक्षा को केवल गत पीढ़ियों के जीवन की जानकारी तक ही
सीमित रखना उचित नहीं। इसी कारण केवल गत घटनाओं की काल-
क्रमानुसार रट लगाने वाले को ही इतिहासवेत्ता नहीं मान लेना चाहिए।
देखना यह होगा कि क्या उस व्यक्ति में ऐतिहासिक तथ्य, निष्कर्ष और
घटनाओं से विश्व के सम्मुख कोई सुधार का प्रस्ताव सुझाने की प्रज्ञा है?
क्या ऐतिहासिक तथ्य निष्कर्ष और घटनाएं जैसी-की-वैसी सत्यस्वरूप में
लिखने की, पढ़ाने की या ललकार कर जनता और सरकार के सम्मुख
प्रस्तुत करने की हिम्मत है? ये गुण सुनने में भले ही आसान लगें, किन्तु
आचरण में बड़े कठिन हैं।

मानवी इन्द्रियों की सीमित शक्ति

यह ग्रन्थ पढ़ते समय एक बात को ध्यान में रखना योग्य होगा कि
मानव की दृष्टि, श्रोत्र, घ्राण और मस्तिष्क आदि की क्षमता सीमित होती
है। मानव को जितने ज्ञानेन्द्रिय दिये गये हैं वे कदाचित् विश्व के सारे तथ्य

आकलन भी कर न पाते हों। इसका एक उदाहरण लें। कल्पना करें किसी
व्यक्ति को नाक नहीं है या शैत्य जैसे रोग से बेकाम होने के कारण वह
सूंघ नहीं सकता। तो ऐसा व्यक्ति अदृश्य फूल, कपूर, अगरबत्ती, मृतशरीर
आदि का अस्तित्व जान नहीं सकेगा क्योंकि उसे एक ज्ञानेन्द्रिय कम है।
इस उदाहरण से हमें पता चलता है कि इस असीम विश्व में ऐसे अनेकानेक
रहस्य हो सकते हैं जिनको जान लेने वाले ज्ञानेन्द्रिय मानवी शरीर में
अन्तर्भूत न हों।

ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में उलझनें हैं

हमारी सीमित क्षमता के कारण हम इस बात की कल्पना नहीं कर
पाते कि प्रशिक्षित स्त्री-पुरुष निर्माण कर विधाता ने मानवी व्यवहार कैसे
आरम्भ किए? तथापि ऐसी उलझनें सभी क्षेत्रों में हैं, जो हम अभी तक
सुलझा नहीं पाए हैं। उदाहरणार्थ वनस्पतिशास्त्री यह नहीं बतला पाते
कि बीज पहले निर्माण किया गया या वृक्ष? जीव विज्ञानी नहीं जानते कि
अण्डा पहले हुआ या पक्षी? हम व्यवहारी मानव यह निश्चित नहीं कर
पाये हैं कि फल-प्राप्ति कर्म से होती है या दैव से? भौतिक शास्त्रियों की
समस्या है कि प्रकाश किरण रूप में फैलता है या कण कण से? सागर-
विज्ञानी कह नहीं पाता कि विश्वभर की नदियां हर पल सागर में असीम
जल गिराती रहती हैं फिर भी सागर में कभी बाढ़ क्यों नहीं आती?
डॉक्टरों को अब तक यह पता नहीं चला है कि शरीर में आत्मा कहां निवास
करती है। रोग-परीक्षक डॉक्टर जहां एक तरफ थूक को अति गन्दा रोग-
प्रसारक पदार्थ कहता है दूसरी तरफ अपनी प्रेमिका के होंठों को चूमते हुए
उसी थूक को अधरामृत कहता है। ऐसी कितनी ही बातें मानवी तर्कशक्ति
से बाहर हैं।

सृष्टि को ईश्वर-निर्मित ही मानना होगा

उन सभी प्रश्नों का उत्तर हम इस ग्रन्थ में दे रहे हैं कि ईश्वर ने बीज
और वृक्ष, अण्डे और पक्षी, स्त्री-पुरुष और कुछ शिशु आदि एकसाथ ही
निर्माण करके प्रजोत्पत्ति के चक्र को चलाया। वस्तुतः यह चक्र ही है।

इसमें सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी आदि सारे गोलाकार हैं और सारे घूम रहे हैं। इस विश्व को हम जैसा पाते हैं उसी के अन्तर्गत हमें अपना जीवन साधना पड़ता है। उदाहरणार्थ स्त्री को ही गर्भधारण क्यों होता है? पुरुष को क्यों नहीं होता? इसका उत्तर यही होगा कि भाई! ईश्वर की इस लीला को समझना या बदलना मानव के बस की बात नहीं है। विश्व-ब्रह्माण्ड के ऐसे अनेकानेक समस्याओं का रहस्य मानव कभी समझ नहीं पायेगा। अतः इतिहास के क्षेत्र में भी सारे प्रमाणों को देखते हुए हमें यह मानना पड़ता है कि मानव के साथ ही वेद और वेदों की भाषा संस्कृत इनका भी धरती पर अवतरण हुआ और वही मानवी इतिहास का प्रारम्भ है।

मानव की प्राचीनता

इस धरती पर मानव का निर्माण कब हुआ? कोई अध्यापक-प्राध्यापक इस प्रश्न का सही उत्तर दे नहीं पाता। फिर भी वह यह कहकर काम चला लेता है कि "अरे भाई जैसा भी हो हम गत २-३ सहस्र वर्षों का जो इतिहास कह सकते हैं वही बहुत है"।

पाश्चात्य विद्वान् तो कई अटकलें समय-समय पर प्रकट करते रहते हैं। जैसे Museum of National History, cleveland, ohio, USA का कहना है कि यूरोप, अफ्रीका और एशिया में प्राप्त होने वाले प्राचीन प्रस्तरप्राय अवशेषों से जीवसृष्टि अधिकाधिक प्राचीन प्रतीत होती जा रही है। मानव कैसे उत्क्रान्त हुआ यह एक जटिल समस्या बनती जा रही है। तीस लाख से एक कोटि वर्ष पूर्व मानव किन-किन विविध प्राणियों से उत्क्रान्त हुआ और उनका आपस का क्रम या नाता क्या था समझ में नहीं आता।"[1]

वैदिक संस्कृति की विश्वव्यापकता

आजकल जो हिन्दू संस्कृति कहलाती है वही आर्य, वैदिक या सनातन भी कहलाती है। विश्व के आरम्भ से उस सभ्यता का मूलस्थान गंगा-

१. पृष्ठ १३ How old is Man? Encyclopoedia of Ignorance, Pergamon, १९७७ ग्रन्थ से उद्धृत।

यमुना से या तिब्बत से व्होल्गा तक का था। तिब्बत यह त्रिविष्टप (यानि 'स्वर्ग') शब्द का अपभ्रंश है। तिब्बत, मानससरोवर, कैलासपर्वत, गंगा और ऋषीय (Russia रशिया) इनका महत्त्व उसी कारण है। वहां से सुरगण सर्वत्र फैले। उन्होंने वैदिक समाज-जीवनपद्धति और गुरुकुल-शिक्षा चलाई। व्यवहार की भाषा एकमेव संस्कृत ही थी। अतः वेद, उपनिषद्, पुराण, रामायण, महाभारत आदि जो आर्ष (यानि ऋषियों का) या दैवी कहलाने वाला साहित्य है, वही अनादि काल से मानव का मूल साहित्य रहा है।

अतएव फ्राइडिश श्लेगल इस जर्मन विद्वान् के बाबत यह कहा गया है कि he expected nothing less from india than ample information on the history of tne primitive world shrouded hitherto in utter darkness, यानि "मानव की प्रारम्भिक अवस्था के सम्बन्ध में सर्वत्र पूरा अज्ञानांधकार फैला होने के कारण श्लेगेल को भारत से ही वह पूरी जानकारी प्राप्त होने की अपेक्षा थी।"

जब वेदोपनिषद्, पुराण और रामायण-महाभारत यह सारा साहित्य प्राचीन युगों में सारे विश्व में पढ़ा जाता था तो वह अब केवल भारत में ही रह जाने का कारण क्या है? कारण यह है कि महाभारतीय युद्ध में अपार संहार लगभग ५००० वर्ष पूर्व होने पर वैदिक समाज-व्यवस्था और संस्कृत-साहित्य के पठन-पाठन की परम्परा विश्व के अन्य भागों में अस्तंगत हुई और केवल भारत में ही चलती रही। क्योंकि भारत में इसकी जड़ें थी और भारत में हिन्दू धर्म कायम रहा। अन्य देशों की तरह भारत पूरा ईसाई या इस्लामी होने से बचा। अतः यहां प्राचीन आर्ष संस्कृत ग्रन्थों का पठन-पाठन चलता रहा। इस कारण विश्व की प्रारम्भिक अवस्था का सारा इतिहास भारत में ही अब प्राप्त है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इस ग्रन्थ की विशेषताएँ

सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक का सारा इतिहास एक मूल केन्द्रीय स्रोत से शुरू करने वाले इस ग्रन्थ में अनेकानेक जटिल ऐतिहासिक

समस्याओं के उत्तर भी अपने आप मिल जाते हैं। हमारी इतिहास-संकलन पद्धति सही होने का यह एक प्रमाण भी है। जैसे (genesis) 'जेनेसिस' और (nemesis) 'नेमेसिस' शब्द देखें। इन्हें ग्रीकी समझना ठीक नहीं है। वे पूरे संस्कृत के हैं। 'जन्मस्' और 'नामशेष' ऐसे वे शब्द हैं। किसी वस्तु के प्रारम्भ को genesis और अन्त को नेमेसिस ऐसा आंग्ल भाषा में कहा जाता है। अनादि काल से संस्कृत ही सर्वत्र शिक्षा का माध्यम था इसका प्रमाण उन दो शब्दों से भी मिलता है। इस प्रकार विश्व की अनेकानेक भाषाएं संस्कृत से ही किस प्रकार निकली हैं उसका भी विवरण इस ग्रन्थ में अन्तर्भूत है।

सही इतिहास का महत्त्व

आज तक के विद्वान् भाषा का निर्माण कैसे हुआ इत्यादि अनेकानेक उलझनों से त्रस्त हैं। उन सबका उत्तर हम इस सुसूत्र इतिहास कथन द्वारा दे पाए हैं। इससे हमें एक महत्त्वपूर्ण सबक यह मिलता है कि इतिहास यदि उल्टा-सीधा, गपड़-शपड़ हो जाए तो सामाजिक जीवन-सम्बन्धी अनेकानेक प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता। सर्वांगीण सामाजिक जीवन का वृत्तान्त ही इतिहास का मूल विषय होने के कारण इतिहास यदि खंडित या विकृत हो गया तो जागतिक मानवी जीवन-सम्बन्धी कई प्रश्न अनुत्तरित रह जाते हैं।

अतः इस ग्रन्थ के द्वारा हम वर्तमान युग के आत्मसन्तुष्ट इतिहास-वेत्ताओं को इस बात के प्रति सावधान करना चाहते हैं कि वे जो इतिहास पढ़े हैं या पढ़ा रहे हैं या जिन तथ्यों के आधार पर वे अपने भाष्य या शोधप्रबन्ध लिखते हैं वे विशाल मात्रा में भ्रमपूर्ण हैं।

इस ग्रन्थ द्वारा हम इतिहासवेत्ताओं को यह भी सुझाना चाहते हैं कि रामायण, महाभारत, पुराण आदि प्राचीन संस्कृत आर्ष ग्रन्थों को केवल काव्य या साहित्य समझने की वर्तमान परम्परा छोड़ देनी चाहिए। वे इतिहास ग्रन्थ हैं। पाश्चात्य देशों में उन संस्कृत आर्ष ग्रन्थों को केवल एक अद्भुत साहित्य मानने की प्रथा इसलिए पड़ी कि १९वीं शताब्दी के योरोपीय विद्वान् उन ग्रन्थों में वर्णित महासंहारी शस्त्रास्त्र, विमान,

अन्तरिक्षयान आदि को केवल कविकल्पना समझते रहे। अब जबकि रशिया, अमेरिका आदि आधुनिक राष्ट्र उसी प्रकार के महासंहारी अस्त्र और अन्तरिक्ष उड़ानें कर सकते हैं तो आजकल के विद्वानों ने यह समझना आवश्यक है कि कृत-त्रेता-द्वापर युगों के सुरासुर, यक्ष, गंधर्व, किन्नर, नाग आदि मानव हमसे भी उन्नत और प्रवीण थे।

इतिहास नष्ट क्यों होता है ?

उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मानवों में आपस में सभी युगों में संघर्ष होता रहा है। इतिहास उसी की कहानी होती है। उन संघर्षों में होने वाले विनाश के कारण इतिहास नष्ट होता रहता है।

आपस के लड़ाई-झगड़े में होने वाले विनाश के अतिरिक्त इतिहास में ऐसे कई प्रसंग आते हैं कि विशाल जनसमूहों को अपने घरबार यकायक छोड़ अन्यत्र बसना पड़ता है। उससे भी इतिहास के साधन, प्रमाण-चिह्न आदि नष्ट होते रहते हैं।

भूचाल, जलप्रलय, अग्निकांड जैसे प्राकृतिक आपत्तियों से भी इतिहास नष्ट होता रहता है।

इतिहास के दो नए सिद्धान्त

जब बड़े-बड़े जनसमूह निर्धन, बेबस और निरक्षर हो जाते हैं तो उनका इतिहास अपने आप नष्ट होता है। क्योंकि इतिहास-ज्ञाता, अध्यापक, लेखक वर्ग ही समाप्त हो गया तो इतिहास पढ़ेगा कौन और पढ़ायेगा कौन ? दक्षिण अमेरिका के अँझटेक्, माया इनकी आदि सभ्यताएँ ऐसी ही पूर्णतया नष्ट हो गईं। हो सकता है कि भारत में या उत्तर अमेरिका में जो लोग आदिवासी या वनवासी कहे जाते हैं वे कभी प्रगत और उन्नत थे। यह एक एकदम नया ऐतिहासिक तथ्य हम पाठकों को प्रस्तुत कर रहे हैं कि जिस प्रकार एक सधन, सशक्त व्यक्ति दुर्भाग्यवश अपनी शक्ति और सम्पत्ति खो देने पर नगण्य बन जाता है वैसे ही मानव-समूह भी प्रगति और वैभव के शिखर से दरिद्रता और अज्ञान की गर्त में गिरते रहते हैं। अतः यह न समझें कि वनवासी लोग सृष्टि-उत्पत्ति समय से ही वैसे पिछड़े

हुए रह गये हैं। व्यक्तिगत जीवन की analogy यानि सम परिस्थिति से हम यह तथ्य प्रस्तुत कर रहे हैं।

उसी आधार पर हम पाठकों को एक दूसरा नया सिद्धान्त यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। वह इस प्रकार है कि एक विद्यार्थी जैसे एक तरफ अपने पाठ लिखता है। तख्ती का वह हिस्सा भर जाने पर उसे पानी से पोंछ डालता है। वह भाग सूखने तक वह तख्ती के दूसरे उलटे भाग पर लिखना आरम्भ कर देता है। क्या विधाता ऐसा ही नहीं करता ? कि पृथ्वी के जिस भाग पर विविध सभ्यताएँ पनपती हैं वे भाग कुछ अवधि पश्चात् सागरव्याप्त कराकर सारा इतिहास पोंछ दिया जाता है। अन्य कुछ भागों में सागर हट जाने से ऊपर उठे भूमि पर नई मानवी सभ्यता का आरम्भ होता है। इस प्रकार चन्द्रमा की घटती-बढ़ती कला की भाँति या सागर के ज्वार-भाटे की तरह विविध मानवी सभ्यताएँ भी बनती-बिगड़ती रहती हैं। यह भी एक कारण है कि मानवी इतिहास खंडित, अज्ञात, विस्मृत-सा होता रहता है। द्वारका, लंका आदि बड़े प्रसिद्ध प्राचीन राज्य इसी तरह नामशेष होते रहे। इस सन्दर्भ का ब्रह्माण्डपुराण का उद्धरण हम पहले दे ही चुके हैं। वर्तमान विश्व में भी ईस्टर द्वीप के निर्जन भूमि में पड़ी विशाल प्रस्तर प्रतिमाएँ, दक्षिण अमेरिका के घने जंगलों में पाये जाने वाले उत्तुंग महल, मन्दिर आदि इमारतें ऐसे कितने ही नष्ट सभ्यताओं के साक्ष्य तो विद्यमान हैं किन्तु उनका सारा इतिहास लुप्त-गुप्त हो गया है।

१०

इतिहास का आरम्भ

किसी भी समूचे इतिहास का आरम्भ मानव-निर्माण से ही होना चाहिए। अतः हम प्रथम यह देखें कि मानव का निर्माण कब और कैसे हुआ ?

वर्तमान युग में पाश्चात्य गोरे यौरोपीय लोगों का प्रभाव होने के कारण उनका मत प्रथम देखें। वैसे तो यौरोपीय क्रिश्चियन लोगों की प्रणाली अधिक से अधिक १९८५ वर्ष की ही है। तो वे बेचारे क्या जानें कि करोड़ों वर्ष पूर्व मानव का निर्माण कैसे हुआ ?

वही मुसलमानों का हाल है। उनकी परंपरा तो केवल १४०० वर्ष की ही है। अतः मानवोत्पत्ति के बाबद वे भी कुछ नहीं जानते। किसी बालक की जन्मकथा उस बालक के मातापिता, नाना-नानी आदि वयोवृद्ध व्यक्तियों से ही मालूम हो सकती है। स्वयं बालक भी कुछ बतला नहीं पाएगा।

इस्लामी और ईसाइयों से कितनी ही प्राचीन वैदिक परंपरा है। वैदिक परंपरा से प्रचीन और कोई नहीं। अतः अपने आपको जो वर्तमान समय से ईसाई या इस्लामी मानते हैं उनके दादा-परदादा भी वैदिक प्रणाली के होना स्वाभाविक ही है। अतः मानव की उत्पत्ति आदि के सम्बन्ध में हिन्दुओं से अधिक जानकार कौन हो सकता है ?

ईसाइयों से या इस्लामियों से सृष्टि-उत्पत्ति की बात पूछना उतना ही हास्यास्पद होगा जितना एक चार वर्षीय बालक को उसके दादा-परदादाओं का इतिहास पूछना। वह बेचारा क्या कह पाएगा ? उसी प्रकार ईसाई और इस्लामियों से सृष्टि-निर्माण का इतिहास जानना असंभव है। बाइ-बल या कुरान आदि उनके ग्रंथों में सृष्टि-निर्माण के सम्बन्ध में जो छुटपुट

उल्लेख है भी वे वैदिक परंपरा से लिए गए हैं।

उनकी अपनी परम्परा के अभाव में यौरोपीय इतिहासज्ञ एक बड़ा विचित्र रवैया अपनाते हैं। वे भौतिक शास्त्र पढ़ने वाले उनके यौरोपीय महाध्यापियों से पूछते हैं कि, "भाई तुम बताओ सृष्टि-निर्माण कैसे और कब हुआ ? तुम जो कहोगे हम मान लेंगे।" इतिहास तो वह होता है जो परदादा-दादा-पिता-पुत्र ऐसी परम्परा से जाना जाता है। भौतिक शास्त्र से कुछ उल्टी-सीधी अटकलें बांधने से मानवी इतिहास के खोज की अपेक्षा रखना व्यर्थ है। उसमें और एक धोखा यह होता है कि किसी भी युग में भौतिक विद्या अपूर्ण अवस्था में ही होती है। सृष्टि-निर्माण के बारे में तीन-सौ दो-सौ या सौ वर्षोपूर्व यौरोपीय भौतिक शास्त्रियों की अटकलें भिन्न-भिन्न होंगी। अतः क्या उनके कथनानुसार हम सृष्टिनिर्माण के इतिहास को बदलते रहेंगे ?

जीवोत्पत्ति के बारे में भी यौरोपीय इतिहासकार ऐतिहासिक परम्परा की अभाव के कारण डार्विन साहब का सिद्धान्त शिरोधार्य मानकर चलते हैं। डार्विन साहब के अनुसार ईश्वर ने मिट्टी के एक कण को प्रथम अर्ध जीवाणु का रूप दिया और उसी जीवाणु को बढ़ाते-बढ़ाते मच्छर, मक्खी, तितली, सांप, वानर, मानव आदि भिन्न-भिन्न रूप बना डाले।

क्या जीवोत्पत्ति का यह सिद्धान्त सही है ? डार्विन साहब स्वयं चक्कर खा गए और उन्होंने अन्य विद्वज्जनों को भी भ्रम में डाल दिया। उन्होंने गलती यह की कि सूक्ष्मतम भेद वाले विविध जीवजन्तु उन्होंने सूक्ष्म क्रमानुसार एक के आगे एक लगा दिए और उससे यह गलत निष्कर्ष निकाला कि एक घटिया जीव से दूसरा अधिक सक्षम जीव बनता गया। क्या उनका तर्क सही है ? तत्सम परिस्थिति निष्कर्ष (method of analogy) लगाकर देखें। कल्पना कीजिए कि हम किसी ग्रन्थालय में गए। वहाँ हमने ग्रन्थपाल को कहा कि एक पृष्ठ से लेकर १००० पृष्ठों वाली पुस्तक तक की सारी पुस्तकें क्रमानुसार लगा दो। वैसा क्रम लगाने के पश्चात् क्या हमारा यह कथन ठीक रहेगा कि लेखक ने एक पृष्ठवाली एक पुस्तक लिखी। उसी से 'दो' पृष्ठों वाली पुस्तक बना दी। और उसी प्रकार आगे-आगे वही मूल पुस्तक ४-२०-५०-८०० आदि क्रम से १००० पृष्ठों की बन गई ?

यदि ऐसा होता तो एक सहस्र पृष्ठ की पुस्तक को छोड़ अन्य सारी लुप्त हो जातीं। जो व्यक्ति पुस्तकें लिख सकता है वह भिन्न पृष्ठ-संख्या की पुस्तकें स्वतन्त्र प्रकार से लिखेगा। उसी प्रकार ईश्वर ने जो विभिन्न जीव निर्माण किए वे सब स्वतन्त्र रूप से बनाए। भला ईश्वर पर एक जीव को ही उत्क्रान्त करते-करते उसमें से दूसरे जीव का निर्माण करने की जबरदस्ती करने वाले हम कौन होते हैं ? सकल विश्व का कर्ता-धर्ता जो परमात्मा उसमें यदि एक जीव को उत्क्रान्त करते-करते उससे दूसरे जीवों की उत्पत्ति करने की क्षमता है तो वह प्रत्येक विभिन्न जीव स्वतन्त्र प्रकार से भी उत्पन्न कर सकता है।

दूसरा आक्षेप यह है कि यदि सर्प से पक्षी बने तो सर्प समाप्त हो जाने चाहिएँ। यदि वानर से मानव बने तो वानर समाप्त क्यों नहीं हुए ?

इस जटिल समस्या को टालते हुए डार्विनवादी कह डालते हैं कि उत्क्रांत होने वाले जीव अपने नए रूप में विरोधी परिस्थितियों से टकराते-टकराते कभी तर जाते या कभी मर जाते। कुछ नया रूप धारण कर लेते। अन्य अपने पुराने रूप में ही रह जाते। इसे डार्विनवादी survival of the fittest का सिद्धान्त कहते हैं। किन्तु यह बड़ा अटपटा सिद्धान्त है। जो वानर मानव बनकर जीवन व्यतीत कर सके उसे fittest यानि सक्षम कहा जाए या जो उस परिवर्तन को टालकर वानर का वानर ही रहे वह सशक्त और सक्षम कहलाने के योग्य है ? इसका निर्णय कौन करेगा ?

और क्या दुर्बल ही सदा मरते हैं ? रेल की किसी दुर्घटना में यदि हट्टे-कट्टे युवक मरें और कुछ बूढ़े, लंगड़े-लूले और शिशु बच गए तो डार्विनी तर्कपद्धति के अनुसार क्या हम समझलें कि जो-जो व्यक्ति मर गए वे बचने वालों से दुर्बल थे ?

आगे हम जिस भौतिक सिद्धान्त की चर्चा करने वाले हैं उसके अनुसार तो एक महान् अग्निगोले में विस्फोट होकर उससे अनेकानेक सूर्यमण्डल, ग्रह, उपग्रह आदि बन गये। इस कथन में कम-से-कम इतनी तो सतर्कता है कि एक महान् वस्तु फूटने पर उसके छोटे-छोटे टुकड़े दूर-दूर तक बिखर जाते हैं। किन्तु डार्विन साहब तो बड़ा विपरीत प्रतिपादन करते

हाथी बन जाती है।
है कि चींटी उत्क्रांति की दण्ड-बैठक लगाते-लगाते

जहाँ भी वर्णसंकर से नया प्राणी उत्पन्न होता है वह नपुंसक बनता है। जैसे नींबू और सन्तरे के संकर से मौसमी बनती है किन्तु मौसमी के बीज बोकर मौसमी नहीं उत्पन्न की जा सकती। घोड़ा और गधा के संकर से खच्चर निर्माण होता है किन्तु खच्चर की अपनी प्रजा नहीं होती। इससे भी एक जीव से भिन्न प्रकार का जीव निर्माण होने की बात तर्क-संगत नहीं लगती।

यदि मर्कटी में मानव का वीर्य डाल दिया जाए या मानवी स्त्री के गर्भ में वानर का वीर्य डाल दिया जाए तो क्या मानव-सन्तान निर्माण होगी ? नहीं होगी। तो यदि पचास प्रतिशत मानव के अंश देने पर भी मर्कटी से मानव नहीं उत्पन्न होगा तो शतप्रतिशत वानर के अंश से शतप्रतिशत मानवावतार कैसे होगा ?

और यदि अतीत में वानर से मानव बनते रहें तो वैसा इतिहास में एक भी उल्लेख क्यों नहीं है ?

यदि उस अतीत में वानर से मानव बनते रहे तो आज भी विविध जंगलों में विश्व के किसी भी कोने में वानर के मानव होने का एक भी उदाहरण क्यों नहीं दिखाई देता ?

यदि वानर के मानव बनते रहते तो परिवार-नियोजन टोलियों को प्रत्येक जंगल में जाकर मर्कट-मर्कटी दम्पतियों को फुसला-फुसलाकर उत्तुंग वृक्षों से नीचे बुलवा-बुलवाकर नसबन्दी करानी पड़ती। क्या यह नौबत किसी देश पर आ पड़ी है ?

डार्विनवादी इस समस्या का उत्तर भी नहीं दे पाते कि एक जीव दूसरे से उत्क्रांत होते-होते अंडा पहले बना कि चिड़िया ? क्योंकि अण्डे बगैर चिड़िया नहीं बन सकती और चिड़िया बगैर अण्डा नहीं हो सकता। उसी प्रकार बीज प्रथम उत्क्रांत हुआ या पेड़ ? क्योंकि बीज के अभाव में पेड नहीं हो सकता और पेड़ के बिना बीज नहीं हो सकता।

मृत्तिका कण से जीवकण बनता है यह मूल डार्विनी कल्पना ही गलत है। जीवकण और जड़पदार्थों के कण भिन्न-भिन्न होते हैं। जड़ का रूपान्तर जीव में नहीं हो सकता।

महाकाय मर्कट पिछले दो पैरों पर खड़ा होके चलता है तब वह ठेठ मानव जैसा ही दीखता है अतः मर्कट से मानव बना, ऐसी डार्विन-वादियों की धारणा है। इसमें इतना ही बतला देना पर्याप्त होगा कि बाहरी दृश्य समान दीखने से कार्यशक्ति समान नहीं होती। क्या सजीव व्यक्ति और पत्थर की बनी उसकी हूबहू मूर्ति दोनों चल-फिर सकेंगे ? क्या पत्थर की मूर्ति तालाब में जीवित व्यक्ति के साथ तैर सकेगी ?

वानर से यदि मानव बना तो वानर विद्यालय की प्राथमिक कक्षा भी क्यों उत्तीर्ण नहीं कर पाता जबकि मनुष्य विशारद भी बन जाता है ?

ऐसे अनेकानेक मुद्दों का विचार करने पर डार्विन का जीवोत्पत्ति और जीवोत्क्रान्ति सिद्धान्त बड़ा ही ऊटपटांग और तर्कशून्य प्रतीत होता है। अनेकानिक आधुनिक पाश्चात्त्य विद्वान् भी आजकल डार्विनी सिद्धान्तों से असहमति प्रकट करते हैं। तथापि आधुनिक विद्यालयों में अभी भी डार्विनी सिद्धान्त का आसन दृढ़ है। आकाशवाणी और दूरदर्शन द्वारा दिये युवाओं के और विद्यार्थियों के कार्यक्रमों में तथा विद्यालयों में डार्विनी सिद्धान्त अभी भी बड़े चाव से और अधिकारवाणी से पढ़ाया जाता है। किसी विद्यार्थी की हिम्मत नहीं होती कि वह डार्विनवाद से असहमति प्रकट करे और फिर भी परीक्षा में उत्तीर्ण हो सके।

पाश्चात्त्य विद्वानों के भौतिक सृष्टि-निर्मिति के सिद्धान्त का अब हम विचार करेंगे। उस सिद्धान्त के अनुसार आकाश या अवकाश में सृष्टि-उत्पत्ति से पूर्व एक महान् अग्निपिण्ड चक्कर काटता रहा। उसमें एकाएक एक महान् विस्फोट हुआ और उसी के टुकड़े आकाश में इधर-उधर यत्र-तत्र बिखरकर विविध सूर्यमण्डल, नक्षत्रपुंज आदि बन गए।

जड़-सृष्टि की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त भी तर्कसंगत नहीं है। विस्फोट से चालू यन्त्रणा की भी धज्जियाँ उड़ती हैं। यदि किसी मोटर के कारखाने में विस्फोट हो जाए तो क्या उसमें अन्य दस प्रकार की मोटरें तैयार होने लगेंगी या जिस प्रकार की मोटर बनती थी उसका भी निर्माण होना बन्द हो जाएगा ? अतः यह कहना कि एक अचानक धमाके से इस यन्त्रबद्ध, असीम, अद्भुत विश्व का निर्माण हुआ, सर्वथैव गलत है।

इस प्रकार प्रचलित पाश्चात्त्य सिद्धान्तों को अतार्किक सिद्ध करने के

पश्चात् हमें विश्वोत्पत्ति के अपने प्राचीन वैदिक सिद्धान्त का स्मरण होना अपरिहार्य है।

उस वैदिक सिद्धान्त के अनुसार लाखों करोड़ों वर्ष पूर्व प्रथम जड़सृष्टि और तत्पश्चात् उसके अनेकानेक ब्रह्माण्डों में ईश्वरी लीला से जीवसृष्टि का निर्माण हुआ और उस समय से विशिष्ट योजना और दैवी संकेतानुसार प्रजोत्पत्ति का चक्र भी चल पड़ा।

सृष्टिनिर्माण के सम्बन्ध में महाभारत (१-१-२९, ३२, ३६) का निम्न उद्धरण देखें—

निष्प्रभेऽस्मिन् निरालोके सर्वतस्तमसावृते।
बृहदंडमभूदेकं प्रजानां बीजमव्ययम्॥
युगस्यादो निमित्तं तन्महद्दिव्यं प्रचक्षते।
यस्मिन् संश्रूयते सत्यं ज्योतिर्ब्रह्म सनातनम्॥
अद्भुतं चाप्यचिन्त्यं च सर्वत्र समतां गतम्।
अव्यक्तं कारणं सूक्ष्मं यत् तत् सदसदात्मकम्॥
यस्मात् पितामहो जज्ञे प्रभुरेकः प्रजापतिः।
आपो द्यौः पृथिवी वायुरन्तरिक्षं दिशस्तथा॥

अर्थात् प्रथम कोई प्रभा या प्रकाश नहीं था। केवल अन्धकार-ही-अन्धकार सर्वत्र छाया हुआ था। उसमें विविध प्राणियों का बीजरूप एक तत्त्व प्रकट हुआ। युगों के आरम्भ का वही महान् दिव्य निमित बना। वही सनातन सत्य ज्योतिर्ब्रह्म, अद्भुत और अचिन्त्य सर्वत्र फैल गया। सत्-असत् का वही एक सूक्ष्म कारण था। उसी से प्रजापति, सलिल, आकाश, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष और दिशाएँ निर्मित हुईं।

उसी प्रकार मानव का निर्माण कैसे हुआ इसका दैवी संस्कृत-साहित्य में दिया विवरण देखें, भगवद्गीता (१०।६) में उल्लेख है—

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥

सात ऋषि और चार मनु जो भगवान् के द्वारा बनाये गए, उन्हीं से आगे मानवों की प्रजा बढ़ती चली गई।

आगे यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, राक्षस, सुर, असुर इत्यादि भेद, पक्ष या

जाति बन गई। इस सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण (१३।७), निरुक्त (३।२) इत्यादि का निम्न उल्लेख देखें—

मनुष्याः पितरो देवा गन्धर्वोरगराक्षसाः।
गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा यक्षराक्षसाः॥

देव असुरों से पूर्व कोई मूल पंचजन थे ऐसा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (१।४।१७) में उल्लेख है—

ये देवासुरेभ्यः पूर्वे पंचजना आसन्।

ऊपर दिये उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि देव, असुर, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, उरग (यानि सर्प नहीं अपितु नागजाति के लोग) आदि विविध गुण-कर्म के मानवसमाज ही थे। यह कोई घोड़े के मुंह वाले या पक्षियों जैसे पैर वाले विचित्रकाय मानव नहीं थे।

ऊपर दिए विवेचन में इस बात का ध्यान रहे कि बालक स्वयं अपने जन्म की कथा नहीं जानता। वह उसे मातापिता या अन्य आप्तेष्टों से अवगत करा लेनी पड़ती है। क्योंकि वे वयोवृद्ध व्यक्ति बालक के जन्म के समय उपस्थित थे। उसी प्रकार मानव भी स्व-जन्म की कथा स्वयं जानता नहीं है। उसे वह कथा उन दैवी स्रोतों से अवगत होती है जिन दैवी स्रोतों ने उसे प्रथम बार निर्माण किया। वे दैवी स्रोत हैं ब्रह्माण्डपुराण, श्रीमद्-भागवतम्, भगवद्गीता इत्यादि। अतः प्राचीन संस्कृत वैदिक साहित्य मानव के उत्पत्तिकाल से उपलब्ध कराया गया मूलगामी ज्ञान का अनमोल खजाना है।

ब्रह्म ब्रह्माण्ड का कर्ता-धर्ता एवं स्वयम्भू ईश्वर ही है, इसके बाबद गीता का कथन है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (१८।६१)

सब प्राणियों में ईश्वर का अस्तित्व है और उसी ईश्वर द्वारा ही यह ब्रह्माण्डचक्र चलाया जाता है। उस अद्भुत ईश्वरी भक्ति को ही माया कहते हैं।

इस प्रकार इतिहास का मूल अध्यात्म से ही पाया जाता है। वर्तमान युग में अणुरेणुओं का विश्लेषण करने वाले पाश्चात्य शास्त्रज्ञ भी विविध

सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण करते-करते उसी निष्कर्ष पर
चराचर कणों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण द्वारा ही यह चराचर
पहुंचते हैं कि ईश्वर की विचित्र और असीम शक्ति द्वारा ही यह चराचर
विश्व निर्माण किया गया है और चलाया जा रहा है।
ऋग्वेद (१०।१९०।३) के अनुसार इस विश्व का निर्माण पूर्वयोजना
के अनुसार किया—

सूर्याचन्द्रमसो धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चाऽन्तरिक्षमथो स्वः ॥

यह ठीक भी है कोई सामान्य-सा कार्य सम्पन्न करना हो तो उसे कुछ योजना तो बनानी ही पड़ती है। तो जहां अगणित सूर्यमण्डल, नक्षत्रपुंज हैं जो बड़ी तेजी से घूम-फिर भी रहे हैं, वह जटिल असीम विश्व क्या! अपने आप ही बन खड़ा हो गया होगा?

यहां कोई नास्तिक या अनीश्वरवादी पाठक यह कहे कि हम मानव-सदृश रूप धारण करने वाले और प्रार्थना से प्रसन्न होने वाले या दुराचरण से क्रुद्ध होने वाले ईश्वर के व्यक्तित्व को नहीं मानते तो उन्हें हमें यह कहना है कि वे भले ही ऐसे ईश्वरी व्यक्तित्व को न मानें किन्तु उन्हें यह तो मानना होगा कि इस असीम आश्चर्यजनक विश्व का बनानेवाला कोई तो होगा। वह एक व्यक्ति हो सकता है या एक मस्तिष्कहीन बुद्धिहीन यन्त्रणा समझें। उससे इस ग्रन्थ के मूल तथ्य को बाधा नहीं आती। वह तथ्य यह है कि विश्व के आरम्भ से ईसाई मत के प्रसार तक विश्व में संस्कृत भाषा और वैदिक संस्कृति का ही प्रसार था।

यह विश्व जब भी और जैसे भी निर्माण हुआ तब प्रारम्भिक पीढ़ियों के पूर्ण शिक्षित प्रजापतिपुरुष और पूर्ण प्रशिक्षित मातृकाएं ईश्वर ने स्वयं निर्माण कीं। इस तथ्य को मानने में किसी को कठिनाई नहीं होनी चाहिए। क्योंकि जैसे एक अनाथ बालक को उसके जन्म और शैशव का हाल पिता या अन्य बड़े आप्तों ने लिख छोड़े टिप्पणियों से प्राप्त होता है उसी प्रकार मानव को भी उसके जन्म का हाल उसे जन्म देने वाले दैवी शक्ति द्वारा ब्रह्माण्डपुराण आदि ग्रन्थों में अंकित है।

अतः हमारा कहना है कि कोई भी खेल, कारखाना या नाटक जैसे कोई भी प्रतिभाशाली व्यक्ति अपनी कुशलता से पूरी तैयारी से चला देता

है उसी प्रकार परमात्मा ने भी यह विश्वनाटक प्रशिक्षित प्रारंभिक पीढ़ियों का निर्माण करके ही शुरू किया। अतः उस प्रारंभिक युग का 'कृतयुग' नाम पड़ा। क्योंकि वह ईश्वर ने ही सर्वप्रथम सारी सृष्टि-चक्र चलाया था।

मानव की उत्पत्ति कैसे हुई ?

किसी को वीरान भूमि में उद्यान लगाना हो तो वह पेड़-पौधे अन्यत्र कहीं से लाकर अपने भूमि में लगा देता है। अतः (Eric Von Daniken) एरिक वॉन डॅनिकेन जैसे कुछ पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि और किसी ग्रहों से अंतरिक्षयान द्वारा मानव यहां पृथ्वी पर बसा दिए गए होंगे।

उनके उस सुझाव से प्रश्न हल नहीं होता। क्योंकि पृथ्वी पर हो या और किसी ग्रह पर हो मानव की उत्पत्ति हुई कैसे, यह हमारा मूल प्रश्न है। यदि पृथ्वी पर बस्ती कराने के लिए मानव किसी अन्य ग्रह से लाया गया हो तब भी यह प्रश्न रह जाएगा कि उस दूसरे ग्रह पर मानव प्रथम कैसे निर्मित हुए? और यदि अन्य ग्रहों पर निर्मित हुए मानव पृथ्वी पर लाए गए हों तो यह भी तो हो सकता है कि पृथ्वी पर जन्मे मानवों की बस्ती किसी अन्य ग्रह पर कराई गई हो? अतः हमारा निष्कर्ष है कि पृथ्वी पर जैसे मानव निर्मिति हुई उसी प्रकार अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के अन्य ग्रहों पर भी हुई होगी। तत्पश्चात् जैसे उद्यानों में आपस में जैसे पौधों की लेनदेन होती रहती है वैसे विविध ग्रहों के मानवों का ग्रहान्तर भी किसी कारण हुआ हो।

पृथ्वी पर भी जब आतंक मचता है तब एक प्रदेश से दूसरे में बड़ी मात्रा में मानव-समूह प्रस्थान कर जाते हैं। जैसे मूसल के प्रकोप से यादवों को द्वारका प्रदेश छोड़कर पश्चिमी प्रदेशों में जाना पड़ा। फ्रांस देश के कैथलिक क्रिश्चियनों के छल के कारण प्रॉटेस्टंट क्रिश्चियनों (ह्यूजेनॉट्स) को फ्रांसदेश छोड़कर जर्मनी में शरण लेनी पड़ी। सन् १९४७ में भारत के विभाजन पर लाखों लोग घरबार छोड़कर अन्य प्रान्तों में चले गए हैं।

उसी प्रकार पृथ्वी से अन्य, ग्रहों पर या अन्य ग्रहों से पृथ्वी पर मानवों का आना-जाना हुआ। उसके वैदिक ग्रंथों में उल्लेख है।

पतञ्जलि मुनि ने 'सप्त द्वीपा वसुमती, त्रयोलोकाश्चतुरो वेदाः' ऐसा

उल्लेख किया है। उससे प्रतीत होता है कि अमेरिका, आस्ट्रेलिया, एशिया, यूरोप, आफ्रिका आदि सप्तखण्ड प्राचीन काल से बने हुए हैं और त्रिलोकों में पृथ्वी समवेत अन्य दो ग्रहों में जन आते-जाते थे।

प्राचीन उल्लेखों में त्रैलोक्यनाथ, त्रिभुवनसुन्दर इत्यादि शब्द प्रयोगों से भी पृथ्वी और दूसरे दो ग्रहों में मानवों का आना-जाना होता था, यह बात स्पष्ट है। जैसे अपने वर्तमान समय में अमेरिका ने अंतरिक्षयान द्वारा चन्द्रमा पर कुछ अमेरिकन यात्री उतारे थे।

उस गमनागमन के प्रत्यक्ष उल्लेख भी प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में हैं।

जैसे ब्रह्माण्डपुराण के छठवें अध्याय में निम्न उल्लेख देखें—

चतुर्युगसहस्रान्ते सह मन्वन्तरैः पुरा।
क्षीणे कल्पे ततस्तस्मिन् दाहकाल उपस्थिते।
तस्मिन् काले तदा देवा आसन्वैमानिकास्तु ये।
कल्पावसानिका देवास्तस्मिन् प्राप्ते ह्युपप्लवे।
तदोत्सुका विषादेन त्यक्तस्थानानि भागशः।
महर्लोकाय संविग्नास्ततस्ते दधिरे मनः॥

इसका अर्थ है "सहस्र चतुर्युग के अन्त में, मन्वन्तरों का अन्त हो गया, कल्पनाश का समय आया, दाहकाल आ गया अतः उदास, निराश और विवश होकर जिन देवों के पास विमान (अन्तरिक्षयान) थे वे उसमें सवार होकर महर्लोक में बसने चले गए।"

इससे कितने महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं देखें। प्राचीन काल में लोग विमानविद्या एवं अंतरिक्षप्रवास में प्रवीण थे। वे अन्य ग्रहों पर जा सकते थे और पृथ्वी पर जब अग्निप्रलय (या जलप्रलय) होता था तो जिन देवगणों को (यानि रईस, प्रतिष्ठित, विद्यावान्) लोगों को विमान या अंतरिक्ष यान ऐन संकटकाल में उपलब्ध होते थे वे उनमें बैठकर दूसरे ग्रहों पर प्रयाण कर जाया करते थे।

आज भी तो ऐसा ही होता है। जब कोई सामूहिक संकट उपस्थित होता है तो जिन गिने-चुने भाग्यशाली (देवगण) लोगों को जीप, ट्रक, टैक्टर, विमान, अंतरिक्षयान उपलब्ध हो, उसमें बैठकर उनका भाग निकलना स्वाभाविक ही है।

ऐसे करोड़ों देवगणों को एकबार प्रस्थान करने का प्रसंग आया। उसका ब्रह्माण्डपुराण, अनुषंगपाद षष्ठ अध्याय का उल्लेख इस प्रकार है—

त्रीणिकोटि शतान्यासन् कोटयो द्विनवतिस्तथा।
अथाधिका सप्ततिश्च सहस्राणां पुरा स्मृताः॥
एकैकस्मिस्तु कल्पे वै देवा वैमानिकाः स्मृताः।

तीन अरब ब्यान्नवे करोड़ बहत्तर सहस्र वैमानिक देवगणों के इस उल्लेख से कोई यह नहीं समझे कि प्रत्येक देव का एक-एक स्वतन्त्र विमान था। इतने सारे व्यक्ति विमान (या अंतरिक्ष यान) द्वारा उड़ाकर अन्यत्र प्रस्थान करवाए गए। वर्तमान समय में भी अमेरिका, रशिया जैसे क्षमतावान् देश विशाल प्रमाण में (airlift यानि) विमान (या अंतरिक्ष-यान) द्वारा जनसमूह को इधर-उधर ले जाते ही हैं।

ऊपर दिए विवरण में यह देखने योग्य है कि पाश्चात्य शास्त्रज्ञों का विश्वोत्पत्ति का सिद्धान्त और डार्विनसाहब का जीव-उत्क्रांति सिद्धान्त दो विरोधी कल्पनाओं पर आधारित हैं। धमाकावादी कहते हैं कि एक विशाल अग्निगोल फटकर उसके टुकड़ों से तारका और ग्रह आदि बने। इस प्रकार एक बड़ी वस्तु के अनेक छोटे खण्ड होना बात स्वाभाविक प्रतीत होती है। किन्तु उधर डार्विनवादियों का तो बिल्कुल उलटा कथन है। वे कहते हैं कि एक सूक्ष्म जीवाणु से एक ही नहीं बल्कि असंख्य पशु-पक्षी, सर्प आदि गेंडे, हाथी, ऊंट तक सब बनते चले गए। यह बात तो पूर्णतया अव्यावहारिक लगती है। वैसे तो दोनों ही पाश्चात्य सिद्धान्त निराधार हैं ही किन्तु ऊपर कहे उनकी मूल परस्पर विरोधी भूमिकाओं से भी वे दोनों सिद्धान्त अतार्किक होने का एक और प्रमाण मिल जाता है।

उन दोनों में एक और दोष यह है कि वे सीमित बुद्धि वाले मानवों के केवल कल्पनातरंगों पर आधारित हैं। एक बालक का जन्म-वृत्तान्त और उसके पूर्वजों का इतिहास कपोल-कल्पनाओं से नहीं अपितु बुजुर्गों के कागजात और टिप्पणियों से लिखा जाता है उसी प्रकार मानवोत्पत्ति का इतिहास भी पाश्चात्य विद्वानों की कपोल-कल्पनाओं की अपेक्षा ब्रह्मांड-पुराण आदि दैवी बुजुर्गों के टिप्पणियों से ही जाना जा सकता है।

डार्विनी सिद्धान्त में और एक दोष यह है कि वह जीवजन्तुओं के शारीरिक अध्ययन से उनके निर्माण की अटकल बांधता है। यह भी व्यवहार से पूर्णतया विपरीत है। एक बालक के माता-पिता, दादा-परदादा आदि कौन थे इसका इतिहास लिखने के लिए क्या हम उस बालक की डॉक्टरी जाँच करवायेंगे ?

शारीरिक जाँच से इतिहास कदापि पता नहीं लगता। किसी का नग्न शव पड़ा हो या कबरस्थान से किसी का अस्थिपंजर प्राप्त हो तो क्या उससे कोई कह सकेगा कि मृतव्यक्ति राजा था या भिखारी, सेनानी था या व्यापारी ? वह तो इतिहास की बात है जो इतिहास से ही पता लगेगी।

अत: इस विश्व का मूल इतिहास जो संस्कृत पुराणों में और महाकाव्यों में अंकित है उसको समझने की और स्वीकृत करने की आवश्यकता है।

किसी व्यक्ति द्वारा सर्वज्ञानी होने का दावा करना या आशा रखना व्यर्थ है। इस दृष्टि से भी प्राचीन संस्कृतग्रंथों में अंकित ज्ञान का आधार लेना आवश्यक है।

११

शेषशायी विष्णु की प्रतिमाएँ

वैदिक संस्कृति ही सारे मानवों की अनादि काल से जीवन-प्रणाली रही है। इस तथ्य के जो सर्वांगीण प्रमाण इस ग्रंथ में उद्धृत हैं उनमें—शेषशायी विष्णु की प्रतिमा प्राचीन विश्व में स्थान-स्थान पर बनी थी—यह एक ठोस, दृश्यप्रमाण है।

वैदिक विचारधारा के अनुसार शेषशायी भगवान् विष्णु ने अपनी लीला द्वारा इस विशाल, असीम सृष्टि का निर्माण किया। उस निर्माण की स्मृति में सृष्टि के निर्माता और कर्ताधर्ता की प्रतिमाएँ श्रद्धाभाव से देश-प्रदेश में बनना उतना ही स्वाभाविक था जितना पुत्रपौत्रादि अपने दादा-पड़दादा के चित्र उनकी स्मृति में अपने घरों में टांग लेते हैं।

भगवान् विष्णु द्वारा देवतुल्य ज्ञानवान् मानवोंसहित हुए सृष्टि निर्माण में, जिन्हें उनकी पाश्चात्य प्रभावी विद्या के कारण विश्वास नहीं होता, वे भारतीय पुरातत्त्व खाते के भूतपूर्व प्रमुख बहादुरचन्द्र छाबड़ा जी का निम्न वक्तव्य पढ़ें। वे लिखते हैं—"वर्तमान पुरातत्त्वीय विचारधारा जिस विकासवाद पर आधारित हैं उस विकासवाद की गहराई में मैं अभी अधिक कुछ नहीं कहूँगा। किन्तु मैं यह दर्शाना चाहता हूँ कि भारतीय सभ्यता का इतिहास ज्ञानी अवस्था से आरम्भ होता है, न कि जंगली अज्ञान से। उस परम्परा का ज्ञान शाश्वत है और कुछ क्षेत्रों में तो सर्वश्रेष्ठ है। व्यक्ति के या राष्ट्र के जीवन में विकास किसी सीमा तक और विशिष्ट समय में ही होता है इतना हमें मान्य है। किन्तु आरम्भ से आज तक का मानव का सारा इतिहास वानर अवस्था से शुरू हुआ ऐसा मानना और प्रस्तरयुग, नवप्रस्तरयुग, कांसे का युग और लोहयुग आदि पुरातत्त्वीय इतिहास का विभागीकरण करना एक वंचना या विकृति है। वर्तमान शास्त्रीय प्रगति

के सहाय्य से भी वानर का मानव बनाया नहीं जा सकता क्योंकि दोनों (पशु और मानव ऐसे) पूर्णतया भिन्न बनावट के प्राणी हैं। आधुनिक रूसी पुरातत्त्वविदों ने यह भी सिद्ध किया है कि एक ही समय में भिन्न प्रदेशों में मानवों की प्रगति समान स्तर की नहीं होती। कभी-कभी तो एक ही प्रदेशों में रहने वाले जनसमूहों के जीवनस्तर भिन्न होते हैं। विकास-वाद से उसका उत्तर नहीं मिलता। उत्खनन में मिले अवशेष २००० वर्षों से प्राचीन नहीं हैं। तो फिर क्रीट, मिस्र, सुमेरिया आदि प्रसिद्ध प्राचीन सभ्यताओं के बारे में क्या कहा जाए? भारतीय विचारधारा तो जीवन-चक्र मानती है। उसके अनुसार इस चराचर विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और विलय चक्र घूमता रहता है। प्रकृति का यही नियम है। (मेघदूत २/४६)"

उक्त विचार चिन्तन योग्य हैं। विकासवाद और पाश्चात्य पुरातत्त्व-विदों द्वारा कल्पित धातु विभाग आदि विश्वासार्ह नहीं। भगवान् ने सारी सृष्टि का प्रचलन पूरी सिद्धता से एक साथ किया—यह वैदिक धारणा ही सत्य है। ईसाई पंथ के प्रसार के पूर्व सारे विश्व के मानवों में यही मान्यता थी। अतः भगवान् विष्णु के प्रति पूज्यभाव और पितृभाव व्यक्त करने-वाली शेषशायी विष्णु की प्रतिमाएँ प्राचीन विश्व के विभिन्न विभागों में प्रस्थापित थीं।

दिल्ली की शेषशायी विष्णुमूर्ति

भारत के दिल्ली नगर में तथाकथित कुतुबमीनार के तले एक सरोवर के मध्य में एक शेषशायी विष्णु का भव्य शिल्प बना हुआ था। उस मूर्ति की विशालता का अनुमान वर्तमान मीनार की ऊँचाई और मोटाई से लगाया जा सकता है जबकि मीनार विष्णु के नाभि से निकली कमल की नाल-स्वरूप है। मूलतः इस नाल के सात मंजिल बने हुए थे जो सप्त स्वर्ग के द्योतक थे। सातवीं श्रेणी पर सुवर्ण नक्काशी से सुशोभित एक संगमरमरी गुंबजरूप छत्र था। उस छत्र के नीचे सातवीं श्रेणी पर कमलासन पर बैठी चतुर्मुख ब्रह्मा की मूर्ति थी। उस ऊँचे सप्तस्वर्ग के नालस्तम्भ पर बैठे ब्रह्माजी सृष्टि-निर्माण-कार्य का निरीक्षण करते दिखलाए गए थे। जिस प्रभावान्वित आलय के मध्य में वह मीनार था वह २७ नक्षत्रों का बना सूर्य-

मण्डल कान्तिवृत्त का द्योतक था। उस नक्षत्रालय में प्रवेश दिलानेवाला भव्य आलय द्वार आज भी वहां खड़ा है जबकि २७ नक्षत्रों के मंदिर नष्ट-भ्रष्ट किए जाने का कुतुबुद्दीन ने एक अरबी शिलालेख में वहीं उल्लेख किया है। वहां का जो विष्णुमंदिर था उसके भग्नमण्डप को कुतुबुद्दीन ने कुवतुल इस्लाम मसजिद कह डाला। वर्तमान कांग्रेसशासित स्वतंत्र भारत सरकार ने अज्ञान, लज्जा, झिझक और कुछ मुसलमानों का भय ऐसे विविध समिश्र कारणों से उस मंदिर प्रांगण का इस्लामी आक्रामकों द्वारा ठोसा हुआ 'मसजिद' नाम ही चालू रखा है। हिन्दू लोग अभी तक इस्लामी और आंग्ल शासकों के मानसिक दबाव में ही जीवन बसर कर रहे हैं। इस प्रकार के अन्य अनेक चिह्न भारत में स्थान-स्थान पर बिखरे पड़े हैं।

उस नक्षत्रालय द्वार को 'अलाई' कहकर कनिंगहॅम नाम के एक अंग्रेज पुरातत्त्वप्रमुख ने वह द्वार अलाउद्दीन खिलजी ने बनवाया ऐसी सरकारी अफ़वाह फैला दी। परिणाम यह हुआ कि आंग्ल विद्या सीखनेवाले सभी भारतीयों ने उसी सरकारी धौंस को दोहराया।

महाभारत काल की राजधानी, इन्द्रप्रस्थ, उस युग में समस्त वैदिक संसार की धुरी थी। दिल्ली का अर्थ 'देहली' यानी द्वार सीमा है। इसी कारण वहाँ शेषशायी विष्णु की भव्य प्रतिमा प्रस्थापित थी। उस समय उस स्थान को 'विष्णुपदगिरी' और उस मीनार को विष्णुस्तम्भ कहा करते थे। ध्रुव स्तम्भ भी उसका अन्य नाम था क्योंकि उसके शिखर से ज्योतिषीय निरीक्षण एवं अध्ययन किया जाता था।

उस स्तम्भ के सात मंजिल राहु केतु विरहित अन्य सात ग्रहों के द्योतक थे। मूर्तिभंजक इस्लामी आक्रामकों ने नीचे तले का विष्णु और शिखर का ब्रह्मा नष्ट कर दिए। छठी मंजिल को उतार दिया। वह उतारी गई छठी मंजिल वहीं हरियाली पर जोड़जाड़ कर खड़ी करा दी गई है। सातवें मंजिल पर स्थित ब्रह्माजी की मूर्ति का तो पता ही नहीं है।

उस मीनार में २७ नक्षत्रों के सत्ताईस झरोखे बने हैं। प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर के नाम से वहीं पास की नगरी महरोली उर्फ मिहिरावली कहलाती है। शेषशायी विष्णुमूर्ति के ऊपर एक छोटा सेतु

बना हुआ था जिसके ऊपर चढ़कर मीनार के जीने के द्वार से प्रवेश कर भगवान् विष्णु के उदर के अन्दर से शिखर तक जीने से जाया जाता था। कम्बोडिया आदि देशों में जो विशाल प्रस्तर शिल्प पाया जाता है उसका मूल प्रेरणा-स्थल भारत ही रहा है। किन्तु छः सौ वर्षों के भीषण इस्लामी हमलों से भारत स्थित भव्य हिन्दू शिल्प इतना चकनाचूर हो गया कि इसका कोई नमूना तक नहीं। तथापि विशाल विष्णुस्तम्भ के आसपास शेष बचे चिह्नों से गठन किए गए भव्य विष्णु शिल्प का वर्णन ऊपर उद्धृत है।

वैदिक प्रणाली के अनुसार सृष्टि-उत्पत्ति का ऊपर चित्रित दृश्य देखें। बारीकी से इस चित्र पर सोचने से यह बात ध्यान में आएगी कि एक गर्भवती महिला द्वारा बालक को जन्म देते हुए का जो दृश्य दिखाई देता है वैसा ही यह है। शेषनाग की मृदुशय्या या खटोला बना हुआ है। भगवान् विष्णु उस पर लेटे हैं। उनके गर्भ (नाभि) से ब्रह्मा निकले हैं। ब्रह्माजी के पीछे-पीछे नाल है। यह नाल प्रसूति के पश्चात् भी कटी नहीं है क्योंकि सारी सृष्टि में चेतना, हृदयों की धक्-धक्, सूर्य और तारकों की प्रभा, सभी भगवान् विष्णु द्वारा सतत मिलने वाली ऊर्जा के कारण ही बनी

रहती है। उस नाल द्वारा भगवान् की ऊर्जा चराचर विश्व को चलाती है जैसे कोई कारखाना तार द्वारा प्राप्त होने वाले विद्युत् के प्रवाह से चलता है।

प्रसूता स्त्री की शय्या के पास जैसे दाई, माई, सास, भौजाई, वैद्यजी आदि कुछ सहायक, कुछ सम्बन्धी, सुहृद, आप्तजन होते हैं वैसे ही देवगण, यक्ष, किन्नर तथा नारद, भगवान् विष्णु के इर्द-गिर्द कुछ कुतूहल से और कुछ अपनी-अपनी भूमिका निभाने के लिए, सारे व्यक्ति इकट्ठे हुए हैं।

उस समय के वर्णन में देवी लक्ष्मी द्वारा भगवान विष्णु के पैर दबाने की बात कही जाती है। वह भी बड़ा मार्मिक है। क्योंकि प्रसव के समय कमर और दोनों लातें, इनको बड़ा कष्ट होता है। अतः इस विशाल सृष्टि का निर्माण करते समय भगवान् को जो शारीरिक कष्ट हुआ उससे कुछ आराम पाने के लिए लक्ष्मी भगवान् विष्णु के पैर दबाते हुए दिखलाई जाती है।

बृहत्स्थान (Britain) की विष्णुमूर्ति

A Complete History of the Druids (ड्रुइडों का सम्पूर्ण इतिहास) नामक पुस्तक की भूमिका के प्रथम पृष्ठ पर ही उल्लेख है कि "ब्रिटेन (आंग्ल भूमि) में पाए गए भग्नावशेषों में एक स्थान पर जो स्तम्भ, वर्तुल और सर्प की आकृति मिली उनका विवरण देना आवश्यक है।"[1]

उस ग्रंथ के पृष्ठ ६ पर लिखा है "सर्प प्रकाश और ज्ञान का प्रतीक था। उसका नाम 'सेराफ' (Seraph) कितना अर्थपूर्ण है।"

उक्त शब्द 'सेराफ' वस्तुतः संस्कृत सर्प शब्द का अपभ्रंश है। वैदिक

---

१. "It may be necessary to give an explanation of the Pillars, the Circle and the Serpent."
Preface to A Complete History of The Druids, Their Origin, Manners, Customs, Powers, Temples, Rites and Superstitions with an inquiry into their Religion and its coincidence with the Patriarchal, by Lichfield, printer T. G. Lomax, marketed by Longmann, Hurst, Reas & Orme, London.

सर्वदा नागों के फणों का छत्र होता है। अतः नाग प्रकाश
देवताओं पर सर्वदा नागों के फणों का छत्र होता है। प्रत्यक्ष जीवन में भी यह देखा गया है
और ज्ञान का प्रतीक माना गया है। प्रत्यक्ष जीवन में भी यह देखा गया है
कि जिस व्यक्ति के ऊपर नाग निजी फण का छत्र खड़ा कर बिना दंश
किए निकल जाए वह व्यक्ति बड़ा भाग्यवान होता है।

आंग्ल भाषा में सर्प, सर्पंट, सर्पंटाईन आदि शब्द होना इस बात का
एक प्रमाण है कि प्राचीन समय में आंग्लभूमि में और विश्व के हर प्रदेश में
संस्कृत ही बोली जाती थी। इसी तथ्य के अन्य बहुत सारे प्रमाण इसी
ग्रन्थ में अन्य पृष्ठों पर विविध संदर्भों में उद्धृत हैं।

उसी ग्रन्थ के पृष्ठ १५ पर कहा है, "अनेक इतिहासकारों के कथन से
यही निष्कर्ष निकलता है कि आंग्लभूमि के मूल निवासी विश्व के पूर्वी
भागों से आए थे।" इससे स्पष्ट है कि वे भारत से ही आंग्ल भूमि में जा
बसे थे। क्योंकि उतने प्राचीन काल में सभ्यता भारत में ही थी। इससे पता
लगता है कि आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा ने इतिहास कैसा उल्टा कर
रखा है। वे सिखाते हैं की वैदिक संस्कृति वाले आर्य लोग किसी अन्य
प्रदेश से भारत में आए। किन्तु वास्तविकता तो यह है जो मैंने ऊपर कही
है कि वैदिक संस्कृति का प्रसार भारत से अन्य सारे प्रदेशों में हुआ।

यहां एक और मुद्दा विशेष ध्यान देने योग्य है कि प्रचलित पाश्चात्य
विचारधारानुसार किसी अन्य प्रदेश से आर्य लोग कुछ भारत में चले गए
और कुछ यूरोप में। तो यदि भारत में प्रवेश किए हुए आर्य लोगों की जीवन-
प्रणाली वैदिक थी और भाषा संस्कृत थी तो उन्हीं जनों की जो दूसरी
शाखा यूरोप में गई उनकी जीवन-प्रणाली भी तो वैदिक और भाषा संस्कृत
ही होनी चाहिए। पाश्चात्य विद्वानों की ही धारणा से जो निष्कर्ष प्रतीत
होता है वह वे आजतक नहीं निकल पाये। यह प्रचलित सदोष संशोधन
पद्धति का एक मोटा उदाहरण है। ऐसे अनेक दोषों से ही वर्तमान इतिहास
में अनेक त्रुटियां हैं।

वैदिक संस्कृति वाले भारतीय लोग ही यदि ब्रिटेन में प्रथम जा बसे
तो उन्होंने वहां शेषशायी भगवान् विष्णु का महान् शिल्प प्रस्थापित करना
स्वाभाविक ही था।

ब्रिटेन के वेल्स विभाग में (Isle of Angelsey) आइल ऑफ

अँगलसी यानी अँगलसी द्वीप है। उसी द्वीप पर उस प्राचीन महान् विष्णु
शिल्प के भग्नावशेष अभी भी उपलब्ध है। और तो और 'अँगलसी' यह
'आंग्लेशः' यानि अंगुल भूमि का नाथ (भगवान् विष्णु) इस अर्थ का विकृत
संस्कृत शब्द ही है। ब्रिटेन भूमि का मूल प्राचीन संस्कृत नाम 'अंगुलि
स्थान' यानि 'अंगुली जैसी छोटी सिकड़ी भूमि' था। यूरोप को यदि हम
तलहस्त के आकार का भू-खण्ड मानकर चलें तो ब्रिटेन उस यूरोप खण्ड के
अंगुलि समान दिखाई देता है। इसी कारण उसका संस्कृत नाम वेदकालीन
ऋषियों ने 'अंगुलिस्थान' रखा। उसी का उच्चारण संस्कृत शिक्षा का
उस भूमि में लोप होने पर, बिगड़ते-बिगड़ते 'अंगुलिश्लैंड' और 'इंग्लैंड' ऐसा
परावर्तित हो गया।

उसी ड्रुइड्स वाले ग्रंथ में पृष्ठ ३६ पर उल्लेख है कि "ड्रुइडों के
कई मंदिरों के भग्नावशेष अभी इस आइल ऑफ मैन (Isle of Man)
और आइल ऑफ अँगलसी (Isle of Angelsey) द्वीपों पर हैं। उनमें से
कई महान् शिलाओं के हैं जैसी शिलाएं अबीरी (Abiry) और स्टोनहेंज
(Stonehenge) नामक प्राचीन स्थानों में हैं।"

पृष्ठ ५४ पर वर्णन है कि अबीरी नगर एक मैदान के ऊंचे भाग में
बसा है। वहां के भग्नावशेषों में सेराफ उर्फ सर्प की विशाल आकृति एक
वर्तुल (गोल चक्कर) से निकली दर्शायी गई है। उस गोल आकृति के
बाहर बड़ा विस्तृत और ऊँचा परिकोटा है। परिकोटे के अन्दर की तरफ
८० फुट चौड़ाई की खाई बनी हुई है। इस खाई का व्यास लगभग
१३५० फुट और घेरा ४००० फुट है। समूचे भू-भाग का क्षेत्रफल २२ एकड़
के आसपास है। इस खड्ड के बीच ऊँची खड़ी १०० महान शिलाओं से बना
एक गोल घेरा था। प्रत्येक शिला १५ से १७ फुट ऊँची थी। उनकी चौड़ाई
भी प्रायः उतनी ही थी। सन् १७२२ में जब डॉक्टर स्टयूक्ले उस स्थान
पर गए थे तब उक्त १०० शिलाओं में से ४४ ही वहाँ शेष दिखाई दे रहीं
थीं। उनमें केवल १७ शिलाएँ खड़ी थीं। अन्य २७ या तो गिर पड़ी थीं या
झुकी थीं। बाकियों में से १० टॉम रॉबिन्सन ने सन् १७०० में नष्ट कर दीं।
अन्य शिलाओं के अवशेष वहाँ दीख रहे थे। एक तरफ ये १०० शिलाएँ
और दूसरी ओर खाई। इनके बीचोंबीच प्राचीन काल में एक अच्छा मार्ग

रहा होगा। उस महान् और सुन्दर दृश्य की हम कल्पना भी नहीं कर सकते।"

पृष्ठ ५६ से ५६ पर उस ग्रंथ में लिखा है, "इस नगर के मकान, दीवारें और कुटियाँ आदि उन्हीं प्राचीन शिलाओं से या उनके खण्डों से बनी हैं जो उस स्थान में थे।'''अब हम नगर के दक्षिणी द्वार से निकल-कर परिकोटे की दिशा में चले। इसका नाम 'पवित्र मार्ग' (या देव मार्ग) था। ओवरटोन् पहाड़ियों के शिखर का 'हाक् पेन' नाम है जिसका अर्थ प्राच्यभाषा में 'शेष का शीर्ष' ऐसा होता है। अबीरी के परिकोटे से यह ७२०० फुट अन्तर पर है। यहाँ के लोगों की उस स्थान के प्रति अभी भी बड़ी श्रद्धा है। उसे वे आश्रम कहते हैं। जब वह पूरा बना हुआ था तब सत्यमेव वह विश्व का विशाल और सुन्दर मन्दिर रहा होगा। वहाँ विद्यमान सारे चिह्नों से यही निष्कर्ष निकलता है कि वह उस पवित्र त्रिमूर्ति का मन्दिर रहा होगा। 'अबीरी' का अर्थ उसके संस्थापकों के मूल प्राचीन भाषा में 'सर्वशक्तिमान् देवत्रय' ऐसा ही था।"

यह है उस ग्रंथ में लिखा वर्णन। उस पर हमारा भाष्य यह है कि जिस खड्ड का उल्लेख ऊपर आया है वह क्षीरसागर रूपी सरोवर था। क्योंकि शेषनाग पर लेटे विष्णु सर्वदा सरोवर के मध्य में बताए जाते हैं। बाइबल के 'जेनेसिस्' खण्ड के आरम्भ में यही उल्लेख है कि भगवान् जल पर बिराजमान थे। शेष के शीर्ष का नाम भी प्राच्यभाषा में था। वहाँ का मन्दिर विशाल, सुन्दर और विश्वप्रसिद्ध था। और वहाँ वैदिक त्रिमूर्ति ब्रह्मा-विष्णु-महेश की भव्य प्रतिमाएँ थीं। ड्रुइड लोग उस देवस्थान के संचालक थे। इस वर्णन से स्पष्ट है कि अँगलसी उर्फ आंग्लेश: द्वीप उसके भव्य और पवित्र देवस्थान के लिए विश्व में प्रसिद्ध था।

काबा के शेषशायी विष्णु

अरबस्थान के मक्का नगर में स्थित काबा प्राचीन काल में वैदिक तांत्रिक ढांचे पर बना एक विशाल देवमन्दिर था। एक चतुर्भुज पर तिरछा बैठाया दूसरा चतुर्भुज ऐसे वैदिक अष्टकोण के आकार का वह मन्दिर था।

हरिहरेश्वर माहात्म्य नाम की एक प्राचीन संस्कृत पोथी में दिया उस स्थान का उल्लेख इस प्रकार है—

एकं पदं गयायां तु मकायां तु द्वितीयकम्।
तृतीयं स्थापितं दिव्यं मुक्त्यै शुक्लस्य सन्निधौ ॥

उसके अनुसार विष्णु के पवित्र पदचिह्न विश्व के तीन प्रमुख स्थान में थे—एक भारत के गया नगर में, दूसरा मक्का नगर में और तीसरा शुक्लतीर्थ के समीप।

उक्त वर्णन को इस्लामी किंवदन्तियों से मिलाने पर पता चलता है कि काबा मन्दिर में शेषशायी विष्णु के इर्दगिर्द ३६० अन्य देवमूर्तियाँ थीं। उनमें शिव भी थे। मूर्तिभंजक मुसलमान बने अरबों ने सारी मूर्तियाँ तोड़फोड़कर उसी प्रांगण में दबा दीं। केवल एक निराकार शिवलिंग को दर्शनार्थियों के श्रद्धा केन्द्र के रूप में बचा रखा। वह शिवलिंग एक संमिश्र लाल-काले रंग की शिला है। काबा के मन्दिर में जब किन्हीं विशेष व्यक्तियों को प्रवेश कराया जाता है तो उन्हें भी आँखों पर पट्टी बांधकर ही अन्दर छोड़ा जाता है ताकि वह अन्दर शेष रही वैदिक मूर्तियों के बारे में किसी को कुछ बता न पाएं।

यह प्राचीन काबा (विष्णु) मन्दिर का यन्त्र है। वह अष्टकोण वाले वैदिक आकार का बना है। सऊदी अरब देश के मक्का नगर का जगप्रसिद्ध मन्दिर काबा कहलाता है। मन्दिर के आठ कोणों पर वैदिक अष्टदिक्पाल—इन्द्र, वरुण, यम, अग्नि, वायु, कुबेर, ईशान और निरुत् प्रस्थापित थे। बीचोंबीच वर्तमान टूटा-फूटा काबा का चौकोर है। उसी में शेषशायी भगवान् विष्णु की मूर्ति थी और सबसे बड़ा चमत्कार यह है कि अभी भी उस मन्दिर में गौ के दूध के घी से जलने वाला नन्दीदीप सतत लगा हुआ रखा जाता है जैसे अन्य सारे महान् पवित्र हिन्दू मन्दिरों में। वह दीप अखण्ड दैवी ऊर्जा का द्योतक होता है। शेषशायी विष्णु की नाभि से ही सारी चराचर सृष्टि का निर्माण होने के इस्लाम के मोहम्मदी वाक् प्रचार में भी इस स्थान का उल्लेख 'विश्व का नाभिकेन्द्र (Navel of the world) कहकर ही किया जाता है।

इस प्रांगण का दूसरा इस्लामी नाम 'हरम्' भी 'हरियम्' यानि

'विष्णुमंदिर' का ही द्योतक है।

मध्य में जो चौकोण है उसके बाएं ऊपरले कोणों में जो शुभ्र मोरी सी बनी है वहीं वह प्राचीन शिवलिंग दीवार में आधा चुनवाया गया है। उसकी परिक्रमा करने के लिए पूरे मन्दिर की ही परिक्रमा करनी पड़ती है। मुसलमान बनने पर भी सारे मोहम्मदपंथी जन बराबर इस शिवजी की एक-दो ही नहीं तो पूरी सात परिक्रमाएं करते हैं। वैदिक प्रथा में भी सात परिक्रमाओं का महत्त्व है। किन्तु काबा फिर कभी मुसलमानों के कब्जे से न छीना जाए इस हेतु मन्दिर के अन्दर विशिष्ट संचालकों के अतिरिक्त दूसरे किसी को प्रवेश नहीं मिल पाता।

रोमनगर स्थित शेषशायी विष्णु प्रतिमा

भारत में भी कृष्ण का कृष्ट और विष्णु का विष्टु अपभ्रंश होता है। वही प्रथा यूरोप में भी थी। इसका प्रमाण रोम की वेष्टल वर्जिन्स (Vestal virgins) प्रथा में पाया जाता है। Virgin (वर्जिन्) का अर्थ 'कुमारी' है। 'वर्ज्य जननं इति' यानि जहां जनन वर्ज्य है अतः 'कुमारी' के अर्थ का यूरोपीय 'वर्जिन' शब्द वस्तुतः संस्कृतमूलक है। वेष्टल यानि विष्णु की। भारत के मन्दिरों में ईश्वर मूर्ति को अर्पण किए जानेवाली कुवारी देवदासी-प्रथा यूरोप में भी थी। यह भी एक बड़ा ठोस प्रमाण है कि ईसापूर्व यूरोप वैदिक प्रणाली का था। देवदासी प्रथा अच्छी हो, बुरी हो, वह कैसे प्रारम्भ हुई, कब से चली, उसका मूल उद्देश्य क्या था ? आदि प्रश्नों से हमारा यहां सम्बन्ध नहीं। हम केवल एक प्रमाण के नाते यह दर्शाना चाहते हैं कि देवमूर्ति को अर्पण की कुमारी कन्याओं की देवदासी प्रथा यूरोप में भी थी। वहां उन्हें वेष्टल वर्जिन्स यानि विष्णु उर्फ विष्टु को अर्पण की हुई कुमारियां कहा करते थे। दुर्भाग्य की बात है कि सर विलियम जोन्स, विल्सन, मैक्समूलर जैसे गोरे यूरोपीय पंडितों को ऐसे कई प्रमाण ज्ञात थे। फिर भी वे उन सारे प्रमाणों को नगण्य समझकर दुत्कारते रहे। ऐसा होने का मुख्य कारण था उनकी तिहेरी अकड़। एक अकड़ थी उनके गोरे रंग की। दूसरी अकड़ थी उनके पाश्चात्य ईसाई पंथ की। और तीसरी अकड़ थी भारत पर अधिकार जमाने की। ऐसे शान और अभिमान में उनके पैरों

तले उनके अपने यूरोपीय देशों में कितने बेशुमार ऐतिहासिक प्रमाण दुर्लक्षित हो रहे हैं इसका उन्हें ध्यान ही नहीं रहता था। अभिमान से जब गर्दन ऊपर देखती रहे तो रास्ते में पड़े प्रमाण भी दिखाई नहीं देते। यूरोपीय विद्वानों के ज्ञान की यही दुर्दशा रही। छेदों वाली छलनी में से जैसे दाने निकल जाते हैं वैसे ही यूरोपीय दृष्टि में प्रमाणों के दाने टिक नहीं पाते थे। अतः किसी भी प्रकार के संशोधन में अभिमानी मनोवृत्ति से संयमी और प्रांजल मनोवृत्ति अधिक फलदायी सिद्ध होती है।

रोम नगर की प्राचीन परिभाषा सारी वैदिक संस्कृत है। जैसे रोम में St Saba Monastery अवन्तिन् (Aventine) पहाड़ी पर है। वह 'संत शिव मुनिस्थरि' (यानि संन्यासियों के निवास का आश्रम) ऐसा संस्कृत नाम है। भारत में उज्जयिनी (उज्जैन) नगर का प्राचीन नाम 'अवन्तिका' भी है। वही अवन्ति नाम रोम की एक पहाड़ी का भी है। उस पहाड़ी पर जो शिव मन्दिर था उसमें संन्यासियों का आश्रम भी था। वही संस्थान अभी तक ज्यों-का-त्यों बना हुआ है। अन्तर केवल इतना है कि ईसाई पंथ प्रसार पूर्व वह वैदिक संस्थान था। अब लगभग १६०० वर्षों से वही आश्रम ईसाइयों का समझा जा रहा है।

रोम की एक दूसरे पहाड़ी का नाम 'पैलेटाइन हिल' (Paletine Hill) है। भारत के सौराष्ट्र प्रदेश में भी पालिटाना नामक पहाड़ी के ऊपर सैकड़ों भव्य और सुन्दर मन्दिर बने हुए हैं।

रोम में 'ओल्ड वेल हाउस' (Old Well-House) यानि 'प्राचीन बावली महल' है। भारत में ऐसे बावली महल लगभग सभी प्राचीन राजधानियों में और राजपरिसरों में बने हुए हैं। ऐसे बावली महल दिल्ली स्थित अशोक महल परिसर में (जिसे आजकल फिरोजशाह कोटला कहते हैं), तेजोमहालय (जिसे ताजमहल कहते हैं) में, लखनऊ के मत्स्य भवन में (जिसे बड़ा इमामबाड़ा कहते हैं) आदि हैं। रोम का वह बावली महल कॅपिटॉल विभाग में है और उस बावली महल को तुलिर्ओनियम् कहते हैं। वह तुल्जा भवानी का मंदिर होने के कारण तुलिर्ओनियम् यह उसका संस्कृत नाम अभी कायम है।

रोमनगर और उसका परिसर (Rome and the Campagna) नाम के ग्रन्थ की भूमिका में पृष्ठ २४ पर लेखक आर० बर्न लिखते हैं कि "पैलेटाईन पहाड़ी के ऊपर रोमा क्वाड्राटा नाम की जो चौकोर गढ़ी थी उसके द्वार सादे जाने-आने के मार्ग नहीं थे अपितु वे विशाल भव्य चौकोने कक्ष थे जिनका एक द्वार अन्दर खुलता था और सामने वाला बाहर खुलता था।" यह तो ठेठ भारतीय क्षत्रियों के महलों के द्वारों की पद्धति है। भारत के राजपरिसरों के द्वार ऐसे ही होते हैं। उसी ग्रन्थ में आगे लिखा है कि "जेनस (Janus) का मन्दिर ऐसे ही एक चौकोर कक्ष जैसा था।" ग्रीस और रोम देशों में 'ग' और 'ज' अक्षरों के उच्चारण गलत-सलत हो गए हैं। संस्कृत भाषा का उनके प्रदेशों से लोप होने के पश्चात् पाश्चात्य लोगों में 'गणेश' नाम का उच्चारण Janus होने लगा या यूँ कहें कि 'गण' यानि 'जन' अतएव गणेश यानि जनेश। इस प्रकार यूरोप में गणेश का नाम 'जेनस' उच्चारण से चालू रहा।

वे द्वार यद्यपि बाहर से चौकोने लगते हैं फिर भी अन्दर उनके कोनों को जोडने वाली एक-एक पट्टी होती है जिससे हरएक कोने के दो नुक्कड़ बनकर प्रत्येक चौकोर का अष्टकोण बन जाता है।

गणेश जी का उल्लेख भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। भवन, मन्दिर या नगर के द्वार पर सर्वप्रथम गणेश जी की मूर्ति रखना वैदिक प्रथा है। वही यूरोप में थी। यूरोपीय विद्वान् इसे भली प्रकार जानते हैं। अतः भारत में आने के पश्चात् भारत में वही प्रथा देखकर उन्हें यह निष्कर्ष निकालना चाहिए था कि प्राचीन यूरोप में भी वैदिक प्रणाली ही रही होगी। तथापि ईसाई बन जाने के कारण वे ऐसे किसी विचार को निजी मन को छूने भी नहीं देते थे। ईसाई, इस्लामी और कम्युनिस्ट व्यक्तियों के स्वभाव में यह दोष आ जाता है कि वे अपने-अपने व्यक्तिनिष्ठ सिद्धान्तों की बेडियों में ऐसे जकड़े जाते हैं कि करोड़ों वर्ष पूर्व की बातें भी यदि उनको पंथ-प्रणाली से विपरीत लगीं (और वे बातें विपरीत लगनी स्वाभाविक भी हैं) तो उन बातों के प्रति वे ध्यान ही नहीं देते।

रोम की टायबर नदी के पश्चिमी तट पर वैटिकन् पर्वत और उसी से निकली एक लम्बी पहाड़ी श्रेणी का नाम 'जैनिकुलम्' (Janiculum) है। यूरोप में 'C' अक्षर का उच्चारण 'स' भी होता है और 'क' भी। उसी

का भी अदल-बदल होता रहता है। अतः
प्रकार 'ज' और 'ग' उच्चारणों
Janiculum शब्द वास्तव में गणेशालयम् है। वैटिकन् तो संस्कृत वाटिका
नाम है। उस पहाड़ी पर वैदिक आश्रमवाटिका हुआ करती थी। वह अभी
भी है। अन्तर इतना ही है कि उसमें रहने वाले पोप प्राचीन काल में वैदिक
धर्मगुरु (शंकराचार्य) होते थे। किन्तु सन् ३१२ ई० के लगभग कॉन्स्टन्टाइन
सम्राट् ने उन्हें बलात् ईसाई बनने पर विवश किया तब से वे अपने आपको
ईसाई कहलाते हैं। जहाँ शंकराचार्य रहते थे और गणेशालयम् भी था क्या
वह वैदिक परिसर नहीं था। जिस लम्बी पर्वतश्रेणी को गणेशालयम् कहते
हैं वहाँ के वर्तमान गिरजाघर ही प्राचीन गणेशमंदिर में हैं। ईसाई बनने पर
भी इटली के लोगों पर गणेश और शंकर की भक्ति का इतना अदृश्य और
अनजाना प्रभाव है कि कुछ इटालियन क्रिश्चियन विद्वान् भारत के
पुणे नगर में हर १-२ वर्षों में आकर गणेशोत्सव में गणेश जी का पूजन
करते हैं तथा उनके अपने इटली देश में नगर-नगर के चौराहों पर फव्वारे
बनाकर उन पर त्रिशूलधारी गले में सर्प लटके हुए शंकर जी की विशाल
मूर्ति खड़ी कर देते हैं। ईसाई बनने के १६०० वर्ष पश्चात् भी इटली में
वैदिक प्रणाली का इतना जबरदस्त प्रभाव अभी तक बना हुआ है।

टायबर नदी जिस खाई में से बहती है उसके एक तरफ कैपिटोलाईन पर्वतश्रेणी है और दूसरी तरफ गणेशालयम् (Janiculum) पर्वतश्रेणी है। दोनों पहाड़ियों पर वैदिक देवों के मन्दिर थे। कैपिटोलाईन पहाड़ी पर शनि का मन्दिर था और गणेशालयम् पहाड़ी पर गणेश का।

इस प्रकार जैसे मक्का में वैसे रोम नगर में भी 'वेष्टा' यानि विष्णु के प्रमुख देवालय के चारों ओर अन्य देवताओं के मन्दिर थे।

'रोम ऍड दि कॅम्पग्ना' ग्रन्थ के पृष्ठ ३१ पर लेखक आर० बर्न (R. Burn) लिखते हैं, "राजधानी रोम के इतिहासकार और कवियों के वर्णनों से किसी नई बस्ती के आरम्भ में क्या-क्या पवित्र पूजाविधि होती थी उसका हमें विवरण प्राप्त है। एक बैल और एक गौ एक साथ हल में जोते जाते थे। गौ अन्दर की तरफ होती थी। और जहाँ नई बस्ती करनी हो वहाँ हल से एक सीध में भूमि खोदने का कार्य शुभ दिन व शुभ घड़ी में सम्पन्न होता था।" यह सारी विधि वैदिक ही तो है। १७वीं शताब्दी में

बाल शिवाजी गुरु कोंडदेव के साथ पुणे नगर की निजी जागीर सँभालने के लिए आए थे तो उन्होंने ऐसे ही एक शुभ दिन और शुभ मुहूर्त पर हल को सोने की आरी लगाकर ऐसे ही भूमि खुदवाई थी।

रोम नगर का जो कॉन्स्टन्टाईन् द्वार है उसकी तीन कमान हैं। बिचली कमान ऊँची है। यह भी भारतीय वैदिक प्रथा है।

बर्न लिखते हैं कि "Hercules Victor रोमन् सम्राट् चौथे सिक्टस् ने तुड़वाया"। ईसाई बने रोमन सम्राटों में इस प्रकार निजी साम्राज्य से वैदिक प्रणाली के नामोनिशान मिटाने के लिए इस प्रकार की तोड़-फोड़ की मानो होड़ लगी थी। "कॅपिटॉल में कॉमि की हरक्युलिस की प्रतिमा अभी है। वह हरक्यूलिस व्हिक्टर के भग्न मन्दिर से पाई गई थी।" ऐसा उल्लेख बर्न महाशय करते हैं।

आप जानते हैं Hercules Victor क्या है? वह है "विजयी हरिकुल ईश" यानि 'विजय कृष्ण'। इस पर यदि कोई यह आक्षेप उठाए कि उस मूर्ति की वेश-भूषा आदि भारत के कृष्ण से भिन्न दीखती है तब वह भगवान् कृष्ण की मूर्ति कैसे हो सकती है? तो उस शंका का समाधान यह है कि महाभारत युद्ध के दो-तीन सहस्र वर्ष पश्चात् संस्कृत ग्रन्थों का पठन बन्द होने के पश्चात् अज्ञानवश, वैदिक परम्परा टूट-फूट जाने के कारण नाम तो हरि-कुल-ईश रहा किन्तु उसकी वेश-भूषा, चेहरा बदलते-बदलते कृष्ण परम्परा से भिन्न होने लगे। तथापि विजय कृष्ण (हरि-कुल-ईश) नाम बड़ा महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। उसे हरि विजय भी कह सकते हैं।

फोरम् रोमॅनम (Forum Romanum) रोम नगर का प्राचीनतम स्थान है। वह प्रांगणम् रामानम् यानि भगवान् राम का प्रांगण अर्थात् राममन्दिर का स्थान है जिसे केन्द्र मानकर रोम नगर बसाया गया। रोम भी राम नाम का ही यूरोपीय अपभ्रंश है।

बर्न जी के ग्रन्थ के पृष्ठ ४१ पर उल्लेख है कि "राम परिसर की लम्बाई २०० गज थी। उसी प्रांगण के चारों ओर रोम के लोकशाही सरकार प्रमुखतम भवन बने थे। जैसे अत्यन्त प्राचीन और पवित्र देवताओं के मन्दिर, सेनेट (यानि सेना) भवन, कॉमीटियम् और रौष्ट्रा। (Comitium and Rostra) पाँटिफेक्स मैक्सिमस यानि महत्तम पंत उर्फ धर्म-

गुरु का घर वहां से थोड़े अन्तर पर उसी पवित्र देवमार्ग पर था। उसी भवन को Regia, The Atrium Regium या Atrium Vestae कहते थे। रेजिया नाम अर्थात् राजगुरु का संक्षिप्त रूप है। अत्रियम् रेजिया इसलिए कहा जाता था कि राजगुरु को 'अत्रि' उपाधि प्राप्त थी। और अत्रियम् वेस्टे का अर्थ है विष्णुभक्त अत्रि। राजगुरु के भवन के प्राचीन रोम नगर में ऐसे वैदिक नाम थे। देव सेनापति मंगल (उर्फ कार्तिक स्वामी) के भाले वहां रखे जाते थे।"

वह उल्लेख बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। उससे रोम की वैदिक प्रणाली का पूरा प्रमाण मिलता है। भगवान् विष्णु के अवतार राम का नाम नगर को दिया गया था। ऊपर जिस केन्द्रीय मन्दिर प्रांगण का उल्लेख आया है उसके मध्य में वेष्टा यानि (शेषशायी भगवान्) विष्णु का मन्दिर था। वहां से प्रारम्भ होने वाले मार्ग को Regia (रेजिया) यानि राजमार्ग कहते थे। उसे विष्णु से वेस्टे और अत्रि ऋषि से अत्रीयम् भी कहा जाता था।

प्राचीन इटली को एट्रुरिया (Etruria) उर्फ अत्रिरीय यानि अत्रि ऋषि का प्रदेश कहते थे। उस प्राचीन इटली की जीवन-प्रणाली का एट्रुस्कन् (Etruscan) नाम भी अत्रि ऋषि से ही पड़ा है। इटली देश के पूर्व तट पर जो सागर है, उसे भी अत्रि से ही अत्रियाटिक (Atriatic) उर्फ अड्रियाटिक सागर कहते हैं। प्राचीनतम ज्ञात इतिहास में रोम नगर में अत्रि ऋषि ही महत्तम पंत उर्फ पाँटिफेक्स् मैक्सिमस् (Pontifex Maximus) थे। वे ही वहां के देवस्थान की सारी व्यवस्था देखा करते थे। संस्कृत 'पंत महान्' का लैटिन भाषा में पाँटिफेक्स् मैक्सिमस् अपभ्रंश हुआ है। उनका भवन भी उस देवप्रांगण के समीप था। इस प्रकार मक्का नगर के काबा तीर्थक्षेत्र की तरह रोम के विष्णु के इर्दगिर्द राम, कृष्ण, हनुमान्, गणेश, शिव, शनि, मंगल, मरिअम्मा आदि देवताओं के मन्दिर थे।

इटालियन में मार्ग या रास्ते को Via (विया) कहते हैं। वह संस्कृत 'वीथि' शब्द का पहला अक्षर है। सम्राट् कॉंस्टन्टाइन के अत्याचार के कारण रोमनगर के महत्तम धर्मगुरु को जबरन अपने आपको ईसानुयायी कहलाना पड़ा।

इस प्रकार दक्षिण यूरोप का एक देश इटली यदि वैदिक प्रणाली का पालन करता था तो उसी से यह अनुमान निकलता है कि सारे यूरोपखंड में वैदिक प्रणाली ही प्रसृत थी विशेषत: उस समय जब प्राचीन यूरोप रोमन साम्राज्य के आधीन था। वही इटली देश कॉंस्टन्टाईन् सम्राट् के फितूरी से ईसाई बन गया तब से धीरे-धीरे रोमन सेना के दबाव से यूरोप के अन्य देश भी एक-एक कर ६०० वर्षों में सारे ईसाई बन गए। अब सारा यूरोप ईसाई बनने पर उनकी मूल प्राचीन सभ्यता वैदिक थी यह पहचानने से या उसका संशोधन करने से यूरोपीय विद्वान् हिचकिचा रहे हैं, भयभीत हो रहे हैं, लज्जित हो रहे हैं और टाल रहे हैं।

पंथीय प्रवृत्ति

मुसलमानों का भी यही हाल है। मुसलमान सारे हिन्दुओं की सन्तान हैं फिर भी वे निजी कुल के इतिहास का पता लगाने की बात पूरी तरह टाल देते हैं। वे इतिहास की बड़ी-बड़ी बातें करेंगे किन्तु उनके अपने दादे-परदादे हिन्दू थे इसका उल्लेख वे कभी करेंगे ही नहीं। अत: सामान्यतया मुसलमान, ईसाई, कम्युनिस्ट आदि व्यक्तिनिष्ठ लोग कभी सच्चे इतिहासकार नहीं बन सकते। क्योंकि उनकी निजी विचारधारा के प्रतिकूल ऐसी जो भी बातें इतिहास में दिखेंगी उन्हें टालने की, दबाने की या नष्ट करने की पंथीय लोगों की प्रवृत्ति होती है।

सर्प क्यों ?

वैदिक प्रणाली में भगवान् विष्णु शेष पर लेटे बतलाए गये हैं। शेष उर्फ सर्प क्यों ? ब्रह्माण्डपुराण के २२वें अध्याय में इसका उत्तर है।

वहां प्रश्न उठाया है कि—

भ्रमन्ति कथमेत्तानि ज्योतिषि दिवमण्डलम्।
अव्यूहेन च सर्वाणि तथैवासंकरेण वा॥

यानि "ये चमकते वाले तारकादिगण जुड़े-जोते न होते हुए भी बिना किसी टकराव से कैसे घूम रहे हैं ?"

उसका उत्तर दिया है—

ध्रुवस्य मनसा चासौ सर्पते ज्योतिषा गणः।
सूर्याचन्द्रमसौ तारा नक्षत्राणि ग्रहैः सह।
वर्षा, धर्मो, हिम रात्रिः संध्या चैव दिनं तथा।
शुभाशुभे प्रजानां ध्रुवात्सर्वं प्रवर्तते॥

यानि सूर्य-चन्द्र नक्षत्रों सहित यह सृष्टि ब्रह्माण्ड सर्पाकार है और इसकी गति भी सर्प जैसी मोड़-मोड लेकर चलने वाली है। ध्रुव इसका अध्यक्ष है। सारे ऋतु, दिन, रात और जीवों का सुख-दुःख सभी (सर्पाकार गति) से होता रहता है।

आर्यभटीय कालकल्पपाद ६ में उल्लेख है—

उत्सर्पिणी युगार्धं पश्चादवसर्पिणी युगार्धं च।
मध्ये युगस्य सुषमादावन्ते दुःषमाग्न्यंस्यात्॥

कल्पकाल के युगार्ध में सृष्टिब्रह्माण्ड का अवसर्पण और दूसरे युगार्ध में उत्सर्पण होता रहता है। उस अवसर्पण और उत्सर्पण के भी दुःषम और सुषम ऐसे २१०००-२१००० वर्षों के दो काल होते हैं।

ऊपर दिए विवरण से यह स्पष्ट है कि शेषशायी भगवान् विष्णु का चित्र शुद्ध वैज्ञानिक आकृति है। उसमें यह दर्शाया है कि इस ब्रह्माण्ड की उत्सर्पण और अवसर्पण क्रियाएँ सागर के ज्वारभाटे की तरह स्वयंभू भगवान् के नियन्त्रण और निगरानी में चलती रहती हैं।

इससे यह भी दिखाई देता है कि असीम ब्रह्माण्ड की गतिविधियों की सूक्ष्मतम खूबियाँ जैसे पुराणों में वर्णित है वैसे आजकल के श्रेष्ठतम वैज्ञानिकों को भी मालूम नहीं होगी।

१२

वेद

विद्वज्जगत् के लिए वेद अपने आपमें एक बड़ी पहेली बने हुए हैं। वे क्या हैं, कितने हैं, उनकी रचना या संकलन किसने किया, वेद कब रचे गए या प्रकट हुए, उनका विषय क्या है, वेदों का नाम लेते ही ऐसे प्रश्न सामने आते हैं। उनके यथा तथा उत्तर भी दिए जाते हैं किन्तु प्रश्न पूछने वाले का समाधान नहीं होता। हम उन प्रश्नों का इस अध्याय में समाधान प्रस्तुत कर रहे हैं।

वेद क्या है ?

इस विराट् विश्व की समूची सर्वांगीण यन्त्रणा का ज्ञान-भण्डार ही वेद कहलाते हैं। 'अनन्ता वै वेदाः' ऐसा वचन है।

इस विराट् विश्व का कर्ता-धर्ता और निर्माता जो ईश्वर उर्फ देव उन्हीं के द्वारा वह वेदनामक ज्ञानभण्डार मानव को प्राप्त हुआ।

कुछ वाचक सोचेंगे कि वेदों को एक आध्यात्मिक चमत्कार के रूप में हम इतिहास में कैसे स्थान दे सकते हैं? तो उन्हें हमें कहना है कि अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड वाला यह असीम विश्व क्या अपने आपमें एक बड़ा रहस्यमय चमत्कार नहीं है? क्या उसमें अनेक पीढ़ियाँ निर्माण होना और गायब होना एक निरन्तर चमत्कार नहीं? अन्तरिक्ष में निराधार घूमने वाली गोल पृथ्वी को हम स्थिर और समतल समझकर जीवन बिताते हैं—क्या यह चमत्कार नहीं? ऐसे चमत्कारी विश्व का ही इतिहास जब हम लिख रहे हैं तो उसमें वेदरूपी ज्ञानभंडार मानव को दिया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

किन्तु हम उसका और वास्तववादी विवरण भी देने वाले हैं। प्रत्येक

कारखाने में जो यन्त्र तैयार होते हैं उनकी रचना और कार्यवाही समझाने
वाली पुस्तिकाएँ उसी यन्त्रालय के प्रकाशन-विभाग द्वारा प्रकाशित कर
यन्त्र खरीदने वाले प्रत्येक ग्राहक को अवश्यमेव दी जाती हैं। ऐसा कोई
यन्त्र नहीं जिसकी पुस्तिका ग्राहक उर्फ उपभोक्ता को न दी जाती हो।
उदाहरण—रेडियो, दूरदर्शन, फ्रिजिडेअर (शीतकपाट), मोटर गाड़ी आदि
कोई भी यन्त्र खरीदने वाले को यन्त्रनिर्माता द्वारा उस यन्त्र के कार्यवाही
की पुस्तक दी जाती है। यह नियम ध्यान में रखते हुए क्या यह सिद्ध नहीं
हो जाता कि भगवान् ने जब यह असीम विश्व मानव को (देव के प्रतिनिधि
के रूप में) सौंपा तो उसके साथ इस विशाल विश्व की पेचीली यन्त्रणा
समझाने वाला ज्ञानभण्डार भी मानव को दिया ?

अब तो हमें यूँ कहना चाहिए कि यन्त्रनिर्माता का यन्त्र की पुस्तक
प्रदान करने का कर्तव्य, जो सर्वप्रथम भगवान् द्वारा पालन किया गया,
तब से सारे यन्त्रालय उसी परिपाटी को चलाए हुए हैं।

ऐसा ग्रन्थ समग्र एक ही होता है किन्तु उसके भिन्न-भिन्न खंड और
विभिन्न अध्याय होना भी स्वाभाविक है। अतः वेद एक भी कहा जा
सकता है या वर्तमान युग में उसके ऋग्, यजु:, साम और अथर्व ऐसे चार
खंड भी समझे जाते हैं। समयानुसार विभिन्न युगों में उस मूल एक ज्ञान-
भंडार के अलग-अलग खण्ड सुविधा-हेतु बनाए जाते रहे।

देव और वेद

ऊपर लिखे 'देव और वेद' इन दो शब्दों पर ध्यान केन्द्रित करें।
दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। दिव याने 'प्रकाशमान'। देव वो होते हैं जो
स्वयं प्रकाशमान ऊर्जा या अमर चेतना के पुंज होते हैं। देवदत्त-ज्ञान भंडार
याने वेद। अतः उनमें भी वही ज्ञानतेज है जो देवों में है। अतः वेदवाणी
में दिव्यतेज है क्योंकि वह देववाणी है।

वेद किसी को समझ नहीं आते

यद्यपि वेद उच्चतम ज्ञानभंडार है तथापि वह किसी को समझ नहीं
आते, यह पढ़कर पाठक को कदाचित् आश्चर्य होगा। किन्तु इसमें आश्चर्य

की कोई बात नहीं। यन्त्र की रचना और कार्यतन्त्र प्रस्तुत करने वाली
पुस्तिका सबके समझ के बाहर होना बड़ी स्वाभाविक-सी बात है। जो
व्यक्ति मोटर, फ्रिजिडेअर, रेडियो, दूरदर्शन यन्त्र आदि की पुस्तक, यन्त्र
के साथ घर ले आते हैं वे उसे बगैर खोले वैसी ही धर देते हैं। जब सामान्य
से सामान्य और छोटे से छोटे यन्त्र की पुस्तक किसी को समझ नहीं आती
तो भला इस अनादि, अनन्त और असीम विश्व की यन्त्रणा के सम्पूर्ण
ज्ञान वाले वेद किसी मानव को भला कैसे समझ आ सकते हैं ?

वेदों के भाष्य यास्क, सायणाचार्य, दयानन्द सरस्वती, स्वामी
अरविन्द घोष, विविध विश्वविद्यालयों में नियुक्त वेदपंडित, विविध वेद
शोध संस्थान, मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किए गये अनुवाद
सब एक-दूसरे से भिन्न हैं।

एक-एक ऋचा का अर्थ या क्रम से आने वाली विभिन्न ऋचाओं का
अर्थ, संगतवार अर्थपूर्ण रीति से, आरम्भ से अन्त तक किसी एक तथ्य का
पूरा विवरण हो इस प्रकार समझ नहीं आता।

इसका कारण यह है कि इस अनादि, अनन्त, असीम विश्व की सर्वांगीण
कार्यप्रणाली का ब्यौरा वेदों में सूक्ष्म सांकेतिक भाषा में है। १६ विद्या
और ६४ कलाओं को सूत्र रूप में पूरा ज्ञान तथा मानव के इस जीवन की
भूमिका इन सबका संक्षेप में ज्ञान वेदों में सन्निहित है। यह सारी
विद्याशाखाओं को आदि से अन्त तक का ज्ञान कुछ सीमित ऋचाओं में
जब घुल-मिल गया हो तो सकलविद्याओं की गुत्थी को सुलझाने वाला
ईश्वरसदृश सर्वज्ञानी, सर्वसाक्षी मानवों में कोई हो ही नहीं सकता।
वास्तुशास्त्र, भौतिकशास्त्र, प्राणिशास्त्र, रसायनशास्त्र, अणुरेणु विद्या
आदि सभी जब वेदों की गिनेचुने ऋचाओं में सम्मिलित हों तो किसी को
क्या समझ आ सकेगा ?

अतः वेदों का अन्य किसी भाषा में अनुवाद करना योग्य नहीं।
उदाहरण—'धातु' शब्द लें। वेद की एक ही ऋचा में इसके विभिन्न विद्याओं
के सन्दर्भ में विभिन्न अर्थ होंगे। एक अर्थ होगा 'पुरुष का वीर्य', दूसरा
अर्थ होगा 'लोहा आदि खनिज'। तीसरा अर्थ होगा 'विधाता का'। ऐसे
और भी जितने अर्थ होंगे वे सभी वेदों में अभिप्रेत हैं। आयुर्वेदाचार्य उसे

'वीर्य' समझेंगे। खनिजशास्त्री उसे खनिज कहेंगे। दर्शनशास्त्री 'विधाता की कृति' ऐसा अर्थ लेंगे। ऐसी अवस्था में मैक्समूलर जैसा गोरा यूरोपीय पादरी या आंग्लपंडित यदि उसका 'Metal' यानी 'खनिज धातु' ऐसा अनुवाद करेंगे तो अन्य विद्याओं में लागू होने वाले 'धातु' शब्द के अर्थ आंग्ल अनुवाद पढ़ने वाले को अज्ञात ही रह जाएंगे। अतः संस्कृत वेद ऋचाओं का किसी भी अन्य भाषा में अनुवाद करना एक हास्यास्पद और निरर्थक चेष्टा है। वेदमन्त्रों से संस्कृत में ही एक समय एक विद्या के सन्दर्भ में कोई कुछ अर्थ ग्रहण कर सके तो ग्रहण करे, अन्य भाषा में अनुवादित कर ऋचा के विविध भावों को कायम नहीं रखा जा सकता।

तो वेदों का उपयोग क्या ?

ऊपर दिए विवरण को पढ़कर सामान्य वाचक के मन में ऐसी शंका आ सकती है कि यदि वेदों की एक-एक ऋचा, एक-एक शब्द या एक-एक धातु में अनेक विद्याशाखाओं के अनेक अर्थों का सम्मिश्रण कर सारे मानवों के समझ के बाहर हो ऐसी ज्ञानगुत्थी बना दी गई हो तो ऐसे सम्मिश्रित उलझे हुए ज्ञानभंडार का उपयोग ही क्या ?

उस प्रश्न का भी हम यहाँ तर्कशुद्ध उत्तर दे रहे हैं। यद्यपि वेद एक जटिल ज्ञान-गुत्थी है जो सामान्य व्यक्तियों की मानसिक पहुंच के बाहर है तथापि कुछ प्रतिभाशाली गिने-चुने व्यक्ति वेदों के ज्ञानभंडार से लाभान्वित हो सकते हैं और उनके द्वारा अन्य मानवों तक वेदों का कुछ ज्ञान सन्देश या मार्गदर्शन के रूप में पहुंच सकता है।

वेदों से ज्ञानप्राप्ति की शर्तें

वेदों से किसी को कुछ ज्ञान प्राप्त करना हो तो उसमें तीन गुण अवश्य होने चाहिएं—(१) एक यह कि वेद संस्कृत में होने के कारण उनसे ज्ञान ग्रहण करने के इच्छुक व्यक्ति को संस्कृत भाषा का ऊँचे स्तर का ज्ञान होना आवश्यक है। (२) दूसरी शर्त यह है कि वेदों में उच्च ज्ञान-भंडार होने के कारण इच्छुक व्यक्ति को किसी एक विद्या शाखा का (रसायनशास्त्र, भौतिकशास्त्र, अणुरेणु विद्या, दर्शनशास्त्र आदि) विशारद

के स्तर का ज्ञान होना आवश्यक है। तभी तो वह उस विद्याशाखा का वेदों में छिपा उच्चतर ज्ञान ग्रहण कर सकेगा। (३) तीसरी शर्त यह है कि ज्ञानपिपासु व्यक्ति योगी भी होना चाहिए जो कुछ समय के लिए ही क्यों न हो, इस जड़जगत् की चिन्ताएँ और व्यवधानों को भूलकर वैदिक ऋचाओं के चिन्तन में तल्लीन और समाधिस्थ हो सके।

हमारा यह विवरण और ऊपर उल्लिखित शर्तें यथार्थ हैं यह सिद्ध करने के लिए हम एक प्रत्यक्ष उदाहरण देते हैं। जगन्नाथपुरी के गत पीढ़ी के जो शंकराचार्य थे वे गणितज्ञ थे और अन्य भी कई शाखाओं के पंडित थे। वे संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे। और वे सर्वसंग परित्याग किए हुए विरक्त संन्यासी थे, जो वेदऋचाओं के मनन-चिन्तन में तल्लीन हो जाया करते थे। अतः वे Vedic Mathematics नाम का ग्रन्थ लिख सके। क्लिष्ट और लम्बे-चौड़े गणितीय हिसाबों को शीघ्र और सरलता से सम्पन्न करने की रीति वेदान्तर्गत छोटे-छोटे शब्दों में कैसी ग्रन्थित की गई है इसका विवरण उन्होंने उस ग्रन्थ में दिया है। उन्हीं वैदिक शब्दों में अन्य विद्याओं के भी वैसे ही कुछ उच्च नियम छिपे हों तो उनकी जानकारी उस-उस विद्या में पारंगत, संस्कृतज्ञ योगी को हो सकती है। अतः सकल विश्व ज्ञानभंडार जो वेद वह पीढ़ी-दर-पीढ़ी मुखोद्गत कर ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखना एक दैवी जिम्मेदारी है जो समझदार मानवों को निभाना आवश्यक है। वही निभाने के लिए पूरी पारम्परिक वेदपाठी, घनपाठी व्यवस्था अनादि काल से बनी हुई है जिसके अनुसार प्रत्येक प्रदेश में वेदपाठियों के कुटुम्ब के कुटुम्ब बने हुए थे जिनका यही कार्य था कि किसी और काम-धन्धे में व्यग्र न होकर केवल वेदपठन-प्रणाली को ही सुरक्षित रखें।

वेदपठन-प्रणाली का दैवी आदेश

वेदपठन करने वाले कुटुम्ब महाभारतीय युद्ध तक तो सारे विश्व में थे। तत्पश्चात् घटते-घटते वे केवल भारत में ही रह गये। सन् १६४७ के पश्चात् भारत भूमि के कुछ भाग मुसलमानों को सौंप देने के पश्चात् जो लघुभारत रह गया है, उसमें अभी तक वेदपठन की प्रणाली पीढ़ी-दर-पीढ़ी चालू रखने वाले हजारों कुटुम्ब हैं। उनका रहन-सहन अत्यन्त सादा

और शुद्ध होता है। वेदपठन की परम्परा वे कर्तव्य समझकर स्वेच्छा से बना रहे हैं जबकि उसमें अधिकार, सम्पत्ति या मान-सम्मान जैसा कोई प्रलोभन नहीं है। कुछ भी व्यवहारी, पार्थिव आकर्षण न होते हुए भी जब अनादिकाल से अनगिनत कुटुम्ब वेदपठन की निजी परम्परा कायम रखे हुए हैं, क्या वह दैवी चमत्कार नहीं है? इस परम्परा के पालन में भी वेदों की दिव्य शक्ति का प्रमाण मिलता है। यदि ऐसी दिव्य प्रेरणा और शक्ति वेदों में न होती तो हजारों कुटुम्बों का बिना किसी लाभ, प्रलोभन, आय या व्याज के वेद मुखोद्गत रखने में अपना जीवन पीढ़ी-दर-पीढ़ी बिताना असम्भव था।

मुखोद्गत क्यों?

वेदों को मुखोद्गत करने की परम्परा से पाश्चात्य विद्वानों ने ऐसा निष्कर्ष निकाला कि वेदकाल में (यानी उनकी गणनानुसार ईसा पूर्व सन् १२०० में) भारतीयों को लेखन कला नहीं आती थी। वह उनका अनुमान गलत था। वेद जैसे ज्ञानभंडार लेखन भी न जानने वाले जंगली लोगों के हो ही नहीं सकते। किसी भी प्रकार के ज्ञान-संचय के लिए एक बार ही नहीं अपितु बार-बार निरन्तर लिखने का अभ्यास आवश्यक है। तथापि वेद मुखोद्गत रखने के कारण कुछ और ही थे। एक कारण यह था कि वह ज्ञानभंडार केवल लिखित ही रखा जाता तो वह ग्रन्थालय में बन्द ही पड़ा रहता। कोई उसे देखता भी नहीं। दूसरा कारण यह कि केवल लिख रखने से और बार-बार उसकी हस्तलिखित प्रतियाँ बनाते-बनाते वेदों के शब्दों में, अक्षरों में आदि पाठभेद आते रहते। तीसरा कारण यह कि वेद केवल लिखित छोड़ देने में उनके ह्रस्व या दीर्घ उच्चारण में समय और देश-प्रदेश के अनुसार फर्क होते-रहते और उसके परिणामस्वरूप अर्थ भी बदलता रहता।

वेदों की संख्या?

इस विश्व का सकल ज्ञानभंडार जो वेद है वह तो मूलत: एक ही होना चाहिए। और श्रीमद्भागवतम् में भी वही कहा है—

एक एक पुरा वेद:। प्रणव: सर्व वाङ्मय:।
देवो नारायणो नान्य:। एकोऽग्निर्वर्ण एव च॥

यानि आरम्भ में सारे साहित्य का मूल वेद एक ही था। ईश्वर भी एक ही नारायण। अग्नि एक और वर्ण भी एक ही था।

वेदों के प्रथम संकलक और उद्घोषक सुरासुरों के पूर्वज प्रजापति कश्यप ही सर्वप्रथम वेदव्यास थे जिन्हें स्वयंभू ब्रह्मा से वेद मुखोद्गत कराया गया। तृतीय व्यास उशना (शुक्र) थे। चौथे थे बृहस्पति। पाँचवें थे विवस्वान्। छठवें थे वैवस्वत यम। सातवें थे इन्द्र। आठवें थे वसिष्ठ। नववें थे सारस्वत (अपान्तरतमा). दसवें थे त्रिधामा। ग्यारहवें थे त्रिवृषा। बारहवें थे भरद्वाज। तेरहवें थे अन्तरिक्ष। चौदहवें थे धर्म। पन्द्रहवें थे त्रैय्यारूणि। सोलहवें थे धनंजय। सत्रहवें थे कृतंजय। अठारहवें थे ऋतंजय। उन्नीसवें थे भारद्वाज। बीसवें थे गौतम। इक्कीसवें थे वाचस्पति। बाईसवें थे वाजश्रवा। तेईसवें थे सोमशुष्मायण। चौबीसवें थे ऋक्ष। पच्चीसवें थे शक्ति। छब्बीसवें थे पराशर। सत्ताइसवें थे जातुकर्ण और अट्ठाइसवें थे कृष्ण द्वैपायन पाराशर व्यास। ब्रह्माण्ड पुराण (१।२।३५) में यह व्यासों की सूची दी गई है। अन्य कुछ पुराणों में भी है।

कश्यप के समय वेदों के एक सहस्र सूक्तों में ५००४९६ मन्त्र थे ऐसा उल्लेख आचार्य शौनक लिखित बृहद्देवता (३-१२६।१३०) में है। वह संख्या विविध युगों में घटते-घटते पाराशर व्यास के समय वेदमन्त्रों की संख्या (मूल पंचलक्षाधिक से) केवल १२००० ही रह गई। यह ऊर्वरित ऋचाएँ भी मूल ईश्वरदत्त ही हैं।

पारसियों का ग्रन्थ

ईरान जबरन् इस्लामी देश बनाए जाने से पूर्व वेदपठन करने वाला ही देश था इसका प्रमाण पारसी परम्परा में सुरक्षित है। जो ईरानी उर्फ पारसी मुसलमान नहीं बनना चाहते थे वे शरणार्थी बनकर भारत में भाग आये क्योंकि उनका वैदिक धर्म भारत में ही बचा रह सकता था। वे पारसी उस समय केवल अथर्ववेद ही पढ़ते थे। अथर्ववेद का छंदोवेद भी नाम है। पारसी ग्रन्थ शँद अवेस्ता छंदोवेद नाम का ही अपभ्रंश है। महाभारत के

समय चारों (या सारे) वेदों का पठन सारे विश्व में होता था किन्तु
तत्पश्चात् वैदिक विश्वशासन, चातुर्वर्ण्य समाज और गुरुकुल शिक्षा टूटने
के कारण वेदपठन परम्परा भी टूटी। उसी कारण पूरे वेदों के स्थान पर
वेद के छोटे-मोटे विभाग ही पठन की प्रथा विविध प्रदेशों में रह गई। ऐसा
होते-होते मुसलमान बने अरबों का हमला जब ईरान पर हुआ उस समय
ईरान में जो खंडित वेदपठनप्रथा बच गई थी वह अपभ्रष्ट उच्चारण में
छंदोवेद उर्फ झेंद अवेस्ता कहलाती थी। झेंद अवेस्ता उर्फ छंदोवेद यह
पूरे वेदसंहिता का बिगडा हुआ उच्चारण था। इसके दो और प्रमाण हम
यहां दे रहे है। एक प्रमाण तो यह कि पारसी परम्परा के अनुसार वर्तमान
झेंद अवेस्ता प्राचीन समय मे एक विशाल ग्रन्थ था। इसका अर्थ स्पष्ट है
कि मूलत: वह पूरी वेद संहिता थी। धीरे-धीरे वैदिक संस्कृति के टूटने के
कारण ईरान में वेद भी टूटते-टूटते केवल वर्तमान झेंद अवेस्ता के रूप में
रह गये। दूसरा प्रमाण यह है कि झेंद अवेस्ता के संकलक ऋषि उसा
उर्फ कैकोस कहलाते हैं। वह उशना उर्फ शुक्र है जो ऊपर उल्लिखित २८
की सूची में तीसरे वेदव्यास थे।

ॐ

सृष्टि-उत्पत्ति के समय अन्तरिक्ष में ओम् ऐसी ध्वनिलहरी गूंज उठी
थी और उसी के साथ ब्रह्माजी वेद लेकर विष्णु के नाभिकमल पर प्रकट
हुए। विष्णु का ही नाम 'हरि' है। अत: 'हरि: ओम्' उच्चारण का अर्थ है
—किसी बात का प्रारम्भ। भगवान् हरि ने ओम् कहते हुए सृष्टि-उत्पत्ति
आरम्भ कर देने के कारण ही हरएक शुभकार्य का आरम्भ वैदिक परम्परा
में हरि: ओम् से ही होता है।

पाश्चात्यों द्वारा फैलाया भ्रम

भारत में जब अंग्रेजों का प्रभुत्व था तो यूरोपीय गोरे पादरियों ने
वेदादि संस्कृत धर्मग्रन्थ का इस दृष्टि से पठन करना प्रारम्भ किया कि उनको
निकम्मे सिद्ध कर भारतीयों को ईसाई बना लिया जाए। वेदों का अनुवाद
और किसी भाषा में किया ही नहीं जा सकता क्योंकि एक-एक संस्कृत

धातु के विविध अर्थ अनुवाद करने पर लुप्त हो जायेंगे। अत: यूरोपीय
भाषाओं में किए गए वेदों के अनुवाद बालकों का खेल था। उस बालिश
अनुवाद से पाश्चात्य विद्वानों ने जो निष्कर्ष निकाले वे भी बड़े अटपटे थे।
पाश्चात्य विद्वान् वैदिक परम्परा या हिन्दू, आर्य, सनातन धर्म को ब्राह्मण
प्रणाली कहने लगे। उसमें उनका एक कुटिल हेतु था कि ब्राह्मणों के विरुद्ध
अन्य हिन्दुओं के मन में घृणा, क्रोध और तिरस्कार निर्माण कर उनके
द्वारा ब्राह्मणों का जागरूक नेतृत्व भी नष्ट और वैदिक परम्परा भी त्याग
दी जाए ताकि उन्हें ईसाई बनाना सरल हो जाए।

पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली में पढ़े भारतीय हिन्दू विद्वान् भी निजी ग्रन्थों
में वैदिक प्रणाली को ब्राह्मणप्रणाली (Brahminism) कहते रहे हैं। शत्रु-
लिखित इतिहास पढ़ने से पग-पग पर वाचक ऐसा धोखा खाता है। वैदिक
प्रणाली को ब्राह्मणप्रणाली कहकर तिरस्कृत करना मूर्खता है। वैदिक
प्रणाली में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र से सबका अन्तर्भाव है। वैदिक संस्कृति
चातुर्वर्णाश्रम वाला चार घोड़ों का चार पहियों का रथ है। उसके चारों
विभाग समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं। प्रत्येक क्षेत्र के उच्चपदस्थ क्षेत्रों के
व्यक्ति ब्राह्मण कहलाते। वैदिक प्रणाली में उच्च स्तर के पत्थर, घोड़े,
गधे, हाथी आदि सबको ब्राह्मण स्तर का समझा जाता था। उत्तम
कुम्हार, मूर्तिकार, स्थपत्ति, वैद्य, भौतिक शास्त्री, गणितज्ञ, युद्धशास्त्रज्ञ
सारे ब्राह्मण कहलाते थे। अत: प्रत्येक क्षेत्र के श्रेष्ठ व्यक्ति ब्राह्मण
कहलाया करते। श्रेष्ठत्व दुहरा था। एक था कार्यकुशलता और दूसरा था
शुद्ध नैतिक आचरण।

वर्तमान पाश्चात्य विद्याप्रणाली में प्रारम्भ से अन्त तक उच्चस्तर
प्राप्त करने वाले ही सर्वत्र प्राध्यापक, सचिव, उपकुलगुरु, कुलगुरु नियुक्त
होते हैं अत: पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली सारी प्राध्यापक यानी प्रोफेसर-
प्रणाली है—तो वह भ्रमपूर्ण और कुटिल दोषारोपण होगा। किसी भी
समाज में शिक्षा ग्रहण करते-करते जो शिक्षा और शासन में निपुण दिखाई
देंगे उन्हीं के हाथों अधिकार रहेगा। उसका अर्थ ऐसा नहीं कि अधिकारी
व्यक्ति नीचे वालों से द्वेष करते हैं या निचले वर्गों पर जुल्म करते हैं।
उसी प्रकार वैदिक प्रणाली में जन्मत: प्रत्येक व्यक्ति को शूद्र ही समझा

जाता है। यथासमय जो जैसी शिक्षा, गुण, क्षमता, आचरण आदि का परिचय दे वैसा उसे समाज में स्थान और सम्मान प्राप्त होता था। अतः यह सर्व मानवों को उन्नति का पूर्ण अवसर देने वाली न्यायी समाज व्यवस्था है। वैदिक प्रणाली समतावादी मानवप्रणाली है। इसमें गुरु-शिष्य, उच्च-नीच यह भेद व्यक्ति-व्यक्ति की मान्यता के अनुसार होते हैं। उसके लिए किसी पर कोई दबाव या जबरदस्ती नहीं होती।

वेदकाल सम्बन्धी अनुमान

लगभग ३० वर्ष पूर्व महाराष्ट्र के एक पण्डित बालासाहेब हरदास ने अपने सार्वजनिक व्याख्यानों में वेदकाल सम्बन्धी विविध विद्वानों के अनुमानों की दी जन्त्री इस प्रकार थी—मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विचार-धारा के लोग वेदों को ३५०० वर्ष पूर्व के मानते हैं।

राजापुर के पाटणकर शास्त्री वेदों में उल्लिखित नक्षत्रादि स्थिति के अनुसार वेदों को २१००० वर्ष पूर्व के मानते थे।

लेले शास्त्री का अनुमान ४०,००० वर्ष था।

पण्डित सुधाकर द्विवेदी का निष्कर्ष था वेद ५४००० वर्ष पूर्व के हैं।

पण्डित कृष्णशास्त्री गोडबोले का अनुमान था कि वेद उस संख्या से भी १८००० वर्ष पूर्व के हैं।

पण्डित दीनानाथ चुलेट तो वेदों को १५ लक्ष वर्ष के पूर्व के कहते थे।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार वेद लगभग दो अरब वर्ष प्राचीन हैं।

ऊपर दिए सारे अनुमानों से एक बात पक्की दिखाई देती है कि मानव उत्पत्ति जब भी हुई हो उसी समय ही वेद मानव को मुखोद्गत कराए गए।

अतः वेद समस्त मानवों के ग्रन्थ हैं। केवल हिन्दुओं के या भारत के ही नहीं।

उसी प्रकार वेदों की भाषा संस्कृत भी सारे मानवों की भाषा है—केवल हिन्दुओं की नहीं।

वेद जब कभी प्राप्त हुए वे ब्रह्माण्ड निर्मिती के समय ही प्राप्त हुए चाहे वह निर्मिती २६००० वर्ष पूर्व हुई हो या लगभग दो अरब वर्ष पूर्व।

वेद साहित्य प्राचीनतम है, उसकी भाषा सांकेतिक है और सारी विद्याओं और कलाओं का संक्षिप्त भण्डार है। अतएव वेदमन्त्रों के सारे अर्थ एकसाथ लगाना किसी एक मानव के बस की बात नहीं। निजी मातृ-भाषा में भी सैकड़ों वर्ष प्राचीन बोली समझना कठिन होता है। प्राचीन काल के मुहावरे भी निरर्थक लगते हैं।

१२

वैदिक प्रणाली की मूल धारणाओं की यथार्थता

वैदिक अध्यात्मविद्या में भगवान् को उनके विविध कार्य और गुणों के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों से संबोधित किया गया है।

उन्हें ईशस् कहने का तात्पर्य है कि वे ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। ईश्वर या परमेश्वर का अर्थ है श्रेष्ठ और उच्चतम स्वामी।

उन्हें भगवान् इसलिए कहा है कि वे तेजपुंज हैं, शक्तिस्रोत हैं और ऊर्जा के उद्गम हैं।

हमारा नित्य का अनुभव यह है कि किसी भी शारीरिक या यांत्रिक हलचल या चेतना के लिए ऊष्णता का होना आवश्यक होता है। हृदय की धक्-धक्, श्वास-उच्छवास, पाचनक्रिया, यंत्रचालन, जीव चेतना आदि सभी किसी न किसी प्रकार की शक्ति या ऊर्जा द्वारा होते रहते हैं। इस प्रकार इस विराट् विश्वयंत्र का निर्माण कर उसे असीम, अनन्त, अखण्ड, चेतना, प्रकाश और शक्ति प्रदान करने वाला ईश्वर स्वयंप्रकाश और ऊर्जा स्रोत है। भगवान् का वही अर्थ है।

विश्व-ब्रह्माण्ड की समय-सारणी

भागवतपुराण में भगवान की विश्व कार्यप्रणाली का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार जब ब्रह्मा अवतीर्ण होते हैं तब विश्वब्रह्माण्ड का निर्माण होता है और उनके शयन करने पर सर्वत्र प्रलय हो जाता है। एक सृष्टि का काल ब्रह्मा का एक दिन (एक दिन+एक रात) है। यह वैसा ही है कि जैसे किसी कारखाने का मुखिया जब जागता रहता है, तब तक कारखाना चलता रहता है, और सो जाने पर बंद।

विश्व-ब्रह्माण्ड के इस निर्माण और प्रलय का वर्णन उनकी समय मर्यादा की सही गणना वैदिक-परम्परा में की गयी है; क्योंकि वे प्राचीनतम हैं, पैतृक परम्परा के हैं और ईश्वरीय हैं। उनकी स्वतन्त्र परम्परा है। किसी मर्त्य-मनुष्य द्वारा प्रारम्भ किए गए किसी विश्वास या धर्म—(जैसे ईसाई या इस्लामी) से उसकी तुलना नहीं करनी चाहिए।

कल्प एवं युग

पहले कहा गया है कि ब्रह्मा का एक दिन सृष्टि का कार्यकाल या जीवन काल है। इसे एक 'कल्प' कहते हैं, जो ४,३२,००,००,००० मनुष्य वर्षों का होता है। इसी प्रकार ब्रह्मा की एक रात्रि सृष्टि का शयन या लोप काल होता है जो उतने ही मानव वर्षों का होता है। इस प्रकार मानव जैसा शयन करता है और फिर जागृत होकर कार्यरत हो जाता है उसी प्रकार सारी सृष्टि भी सचेतन और अचेतन होती रहती है।

प्रत्येक कल्प १००० चक्रों का होता है। एक चक्र में चार युग होते हैं। इस प्रकार एक कल्प ४३,२०,००० वर्षों का होता है। युगों का क्रम और समय निम्न प्रकार है—

कृतयुग	:	१७,२८,०००	मनुष्य वर्ष
त्रेतायुग	:	१२,९६,०००	,, ,,
द्वापरयुग	:	८,६४,०००	,, ,,
कलियुग	:	४,३२,०००	,, ,,
(एक चक्र) कुल		४,३२०,०००	,, ,,

अत: एक कल्प में ४००० युग होते हैं।

प्रत्येक कल्प में १४ मन्वंतर होते हैं। अर्थात् चार-चार महायुगों के ७१ चक्रों का एक मन्वंतर होता है। प्रत्येक मन्वन्तर के शासक को मनु कहते हैं। वर्तमान मनुस्मृति चालू मन्वन्तर की आचारसंहिता है। वर्तमान विश्व सातवे मन्वन्तर में है। हमें प्राप्त मनुस्मृति में कुछ भाग प्रक्षिप्त हो सकता है। तथापि मनु महाराज मानवता के मूल धर्माचार प्रणेता हैं। यूरोप में भी उन्हें The first law-giver of mankind का सम्मान प्राप्त है।

प्रारम्भिक युग

कृतयुग से मानव जीवन का इतिहास आरम्भ होता है। कृत यानी (नया) तैयार किया हुआ। प्रथम कुछ पीढ़ियों के मानव आदि सारे प्राणी उत्पन्न करके ब्रह्माण्ड के सजीव सृष्टि का प्रचलन स्वयं ईश्वर द्वारा आरम्भ किया जाता है, अतः उसे 'कृत' यानि 'सिद्ध किया' या 'बनाया' हुआ (कृत) युग कहते हैं। उस कृतयुग के मानव स्वयं ईश्वर द्वारा सिद्ध किए जाने के कारण ईश्वर-समान सर्वगुणसम्पन्न, सत्यव्रती, शिष्टाचरण करने-वाले, नियमबद्ध आचरण करनेवाले, कार्यकुशल, दीर्घायु, सशक्त, निरोगी थे। तदुपरान्त प्रत्येक युग में जनों का आचरण एक-एक चौथाई घटिया बनता गया। हमारा वर्तमान कलियुग इस दृष्टि से निकृष्टतम युग है। इसमें दुराचार, असभ्यता, विश्वासघात, कलह, रोगप्रसार, पापाचरण, निर्धनता सब बढ़ती ही रहेगी। इस प्राचीन भविष्य का अनुभव वर्तमान पीढ़ी को पूरी तरह आ रहा है।

कृतयुग में ईश्वर द्वारा सब स्तरों के बीज, पेड़, अण्डे, पशुपक्षी आदि सारे जीवजन्तु और विविध क्षमता के मानव, युवा पुरुष एवं नारी, शिशु, पूर्ण प्रशिक्षित ऋषि, आदि मूल प्रजनन सामग्री का निर्माण किया जाने से ही प्रजनन प्रक्रिया चालू हो गई। वहीं से जीवन-मृत्यु-क्रम मन्वन्तरों में चलते रहे। विविध युगों में धर्म की ग्लानि होने पर दुष्कृतों के विनाश के लिए भगवान् के अवतार भी होते रहे।

आंग्ल शब्द (age) (एज्) 'युग' (yuga) शब्द का ही अपभ्रंश है।

समूचा विश्व एक यंत्र है, जिस पर आरूढ़ जीवों सहित वह घूम रहा है। ईश्वर उन्हें घुमा रहा है।

ईश्वरः सर्व भूतेषु हृद्देशे अर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्ररूढानि मायया ।।

ऐसा भगवान् कृष्ण द्वारा भगवद्गीता में कहा गया है।

वेद भगवान् की वाणी

जिस प्रकार नाटक, खेल, यंत्रचालना आदि का लेखा प्रारम्भ से ही तैयार किया जाता है, ठेठ उसी प्रकार परमात्मा ने मानव को बनाते समय

उसके पृथ्वी पर विचरण के लिए संक्षिप्त सूत्ररूप जो ज्ञान-भंडार उपलब्ध कराया, वे ही वेद हैं। यदि वेद न होते तो मानव की स्थिति इस अपार, पेचीले, जटिल विश्व में एक अनाथ, निर्धन शिशु की तरह हो जाती। जीवन कैसे बिताना है यह मानव जान नहीं पाता। घबराकर भटक जाता या उसकी हालत पागल जैसी होती।

वंशानुगत पाठ

वेदों का अनोखा उच्च ज्ञान भण्डार शुद्ध रहे, उससे कुछ शब्द या वर्ण निकल न जाएँ, या उनमें कुछ अन्य बाहरी शब्द मिलाए न जाएँ, तथा प्रत्येक अक्षर का उच्चारण देवदर्शित पद्धति के अनुसार ही हो, अतः वेद सीधे और उल्टे क्रम से मुखोद्गत करना, उनमें संकलित वर्णों की निश्चित संख्या ध्यान में रखना इत्यादि कड़े नियम बने हुए हैं। यदि वेद गड़रियों के गीत होते जैसा कि मैक्स्मुलरादि पाश्चात्य विद्वानों ने भ्रम फैला रखा है, तो न तो वेदों को मुखोद्गत रखने के इतने कड़े नियम बनते और न ही उनकी वंशपरम्परा पठन की पद्धति कायम रहती।

मानव समूह केन्द्रित थे या बिखरे ?

कृतयुग के आरम्भ में जब मानव का निर्माण तो हुआ क्या उसका निवास एक विशिष्ट प्रदेश में था या मानव वंश पृथ्वी के विविध भागों में समूहों में बिखरा हुआ था? वैसे तो इस प्रश्न का उत्तर ना भी मिले तो भी उससे इस ग्रंथ के मूल सिद्धांत को कोई बाधा नहीं पहुँचती। जैसे एक गायक प्रत्येक विद्यार्थी के घर जाकर उन्हें गाना सिखाए या इकट्ठे अपने घर गाना सिखाकर बाद में उन्हें घर-घर भेज दे। उसी प्रकार कृतयुग के आरम्भ में भगवान् ने प्रशिक्षित मानव एक ही प्रदेश में निर्माण किए हों और फिर उन्हें विविध प्रदेशों में भेजा हो या विविध प्रदेशों में बसाए मानव समूहों को मूल वैदिकी प्रशिक्षण दिया हो। तथापि हमारा तार्किक अनुमान यह है कि तिब्बत और कैलाश से होकर ऋषीय प्रदेश तक प्रथम मूल मानव रहे हों। वहां उन्हें प्रशिक्षित कर पृथ्वी के अन्य भागों में फैलने के आदेश दिए गए। इस तर्क के आधार यह है कि त्रिविष्टप (जिसका वर्तमान अपभ्रंश

निर्माण हुआ।
तिब्बत है) यह नाम इसीलिए पड़ा कि वहाँ मानव का प्रथम
कैलास, मानस सरोवर, गंगोत्री-यमुनोत्री आदि अत्यन्त प्राचीनतम
आध्यात्मिक महत्त्व के स्थान वहीं हैं। उनके परिश्रम में ऋषीय (यानि
Russia) देश का त्रिविर प्रदेश है। उस प्रदेश के मानव का कृतयुग में
निर्माण किया गया। पश्चात् उनका पृथ्वी के विविध भागों में प्रसंगवशात्
जा बसना प्रारम्भ हुआ।

मानव-निर्मिती की उलझन

वर्तमान पाश्चात्य धारणा के अनुसार मानव पाशवी अवस्था से अपने आप निजी ज्ञान और कुशलता बढ़ाते-बढ़ाते अधिकाधिक प्रगति करता रहता है।

वैदिक संस्कृति की धारणाओं का जो ब्यौरा हमने पूर्व अध्यायों में दिया है उसके अनुसार कृतयुग में मानव की निर्मिती दैवी स्तर की थी तथापि वह कलह, असूया, अत्याचार आदि के कारण कलियुग में पाशवी स्तर पर उतर आता है।

कुछ व्यक्ति समझते हैं कि ईश्वर यकायक प्रवीण मानवों की निर्मिती का चमत्कार कैसे करेगा ?

उसके उत्तर में हम यह कहना चाहेंगे कि यह अपार चमत्कृतिपूर्ण विश्वनिर्माण करने वाली महाशक्ति ने तैयार, प्रगत, देवपुत्र के रूप में मानव का निर्माण करना ही पूर्णरूप से तर्क संगत है। प्रजनन की मूल सामग्री और ज्ञान परमेश्वर द्वारा प्राथमिक तैयारी के रूप में दिए जाने के पश्चात् ही तो जीवों के प्रजनन का चक्र चालू हो सकता है। अतः महान् विस्फोट और जीव विकास जैसे पाश्चात्य ईसाई सिद्धांतों की अपेक्षा विश्वारम्भ की वैदिक कल्पना ही तर्कसंगत है।

यदि हम थोड़ा भी विचार करें तो पता चलेगा कि हमारे चारों ओर जादू ही जादू या रहस्य ही रहस्य है। किस प्रकार करोड़ों की संख्या में विभिन्न शक्ति-सम्पन्न मनुष्य एक तरफ शून्य से प्रकट होते हैं, तो दूसरी तरफ मृत्यु के कराल जबड़े में चकनाचूर होकर विस्मृति के गर्भ में विलीन होते रहते हैं ? कुछ लोग क्यों विचक्षण बुद्धि सम्पन्न हैं और कुछ लोग

बुद्धू ? कोई पुरुष रूप में और कोई नारी रूप में क्यों जन्म लेता है ? कोई धनी और कोई गरीब ऐसा भेद जन्म से ही क्यों होता है ? एक ही व्यक्ति जो डॉक्टरी भूमिका से सर के केश-संभार को गन्दी वस्तु कहता है वही कवि या प्रेमी की भूमिका में केशों को सौंदर्य प्रसाधन कहकर उनका बखान करता है।

इन तत्वों पर, विसंगतियों पर, असामंजस्यों पर विचार करने पर मनुष्य का सारा जीवन ही रहस्यमय प्रतीत होता है। इस जादुई विश्व में इसी प्रकार 'वेद' भी रहस्यमय ईश्वरीय देन है। जो ईश्वर ज्वलन्त अग्नि-पिण्ड वाले करोड़ों सूर्यों का निर्माण कर सकता है, उसके लिए ये बातें तो साधारण हैं। उसने केवल ऋषियों को वेदों में ही प्रशिक्षित नहीं किया, अपितु सांसारिक व्यापारों, विज्ञान और कलाओं में भी उन्हें प्रशिक्षित किया। अतः वेदों में उपलब्ध संगीत, स्थापत्य, चिकित्सा, गणित आदि विद्याएँ भी ईश्वरीय देन हैं। इसी कारण वैदिक परम्परा में प्रत्येक विद्या-शाखा का स्रोत ईश्वर ही बतलाया गया है।

१४

वैदिक संस्कृति का विश्व-प्रसार

विश्वभर के मानवी व्यवहारों का बारीकी से निरीक्षण करने से पता चलता है कि वैदिक संस्कृति और संस्कृत भाषा ही सबके स्रोत हैं।

बाल कथाएँ

हितोपदेश, पंचतन्त्र आदि संस्कृत बाल कहानियाँ विश्वभर में घर-घर में प्राचीन काल में पढ़ाई जाती थीं। उसका प्रमाण यह है कि महाभारतीय युद्ध के पश्चात् जब वैदिक विश्व-साम्राज्य टूट गया और संस्कृत में गुरुकुल शिक्षाप्रणाली भंग हो गई, तो अरबों ने उन्हीं संस्कृत बाल-कथाओं पर आधारित 'अरेबियन नाइट्स' नाम का कथा-संग्रह लिख डाला और उधर यूरोपीय लेखकों ने एसप्स् फेबल्स् (Aesop's Fables) नाम का उसका यूरोपीय संस्करण प्रकाशित कर लिया।

रतिशास्त्र

भारतीय शास्त्रीय विषयों में वात्स्यायन के कामसूत्र सुविख्यात हैं। कामशास्त्र को रतिशास्त्र भी कहते हैं क्योंकि काम यानी मदन और रति यानी मदन की भार्या। वही संस्कृत रतिशास्त्र सारे विश्व में ज्ञात था। इसका प्रमाण यह है कि यूरोपीय वाक्प्रचार में रतिशास्त्र को इरॉटिक्स् (erotics) कहते हैं। उस शब्द में से प्रारम्भिक e अक्षर को हटाने से वह शब्द rotics यानी 'रतिक' ऐसा संस्कृत ही प्रतीत होता है।

उसे जो 'इ' यह स्वर गलती से चिपक गया वह स्थानिक उच्चार पद्धति के कारण हुआ। जैसे भारत में भी 'स्कूल' और 'स्टेशन' जैसे आंग्ल शब्द कुछ भारतीय जन 'इस्कूल' और 'इस्टेशन' ऐसे उच्चारते हैं। वहाँ

भी मूल आंग्ल शब्द पहचानने के लिए अग्रिम 'इ' स्वर को भूल जाना पड़ता है। उसी नियम के अनुसार पाश्चात्य इरॉटिक्स् उच्चारण में से 'इ' हटा देने से वह संस्कृत 'रतिक' शब्द जान पड़ता है।

क्रीड़ा

खेल-कूद, क्रीड़ा आदि को यूरोपीय लोग (Sports) 'स्पोर्ट्स' कहते हैं। वह मूलतः संस्कृत 'स्पर्धा' शब्द है, जहाँ उच्चार भेद से 'ध' का उच्चार 'ट' होने लगा। अतः स्पर्ध का 'स्पर्ट' हुआ। और दूसरा एक नियम भी ध्यान में रखें। संस्कृत 'अ' का उच्चार आंग्ल भाषा में 'ओ' होता है। जैसे बंगाली लोग राय को रॉय या मनमोहन को मोनोमोहन कहते हैं। उसी प्रकार आंग्ल भाषा में संस्कृत 'नास' शब्द का उच्चार (nose) 'नोज्' और 'गम-गच्छ' का 'गो' होता है। अतः 'स्पर्ध' शब्द का यूरोपीय उच्चार 'स्पोर्ट्' हो गया। संस्कृत में स्पर्धा शब्द हार जीत या श्रेष्ठ और घटिया का द्योतक होता है। तो प्रत्येक क्रीड़ा में यही देखा जाता है कि हारा कौन और जीता कौन या अग्रसर कौन रहा और पीछे कौन रहा। शतरंज का खेल भी वैदिक संस्कृति का अभिन्न अंग होने के कारण सारे विश्व में खेला जाता है। राजा, मन्त्री, हाथी, ऊँट, पदाति आदि उस खेल के पात्रों का विचार करने पर भी वह खेल वैदिक भारत के स्रोत का ही दिखाई देता है। उसका नाम शतरंज यह 'चतुरंग' (सेना) इस संस्कृत शब्द का अपभ्रंश है। वैदिक सम्राटों की सेना चतुरंग होती थी। घोड़े, हाथी, ऊँट और पदाति ऐसे उस सेना के चार अंग होते थे। यूरोपीय शब्द 'चेस्' (chess) भी चतुस् उर्फ चतुरंगस् शब्द का ही टूटा-फूटा हिस्सा है।

योग

योगसाधना वैदिक संस्कृति की एक अनोखी विशेषता है।

योग शब्द संस्कृत 'युज' धातु से बना है। उसका अर्थ है 'जोड़ना'। क्योंकि उसमें आत्मा का परमात्मा से नाता जोड़ने की विधि बतलायी है।

आंग्ल भाषा में 'योक' (yoke) याने जोतना (जैसे घोड़ागाड़ी को जोता जाता है) शब्द योग का ही अपभ्रंश है। जैसे संस्कृत 'गोः' शब्द

कहा जाता है उसी प्रकार योग को अंग्रेज
आंग्ल भाषा में 'कौ' (cow)
'योक' उच्चारते रहे हैं।
कहते हैं। भारत में
French भाषा में 'जोतने' को joug (जोग)
भी तो योगी को कई लोग जोगी कहते हैं। इन उदाहरणों से जाना जा
सकता है कि प्राचीन विश्व में योगसाधना सर्वत्र होती थी क्योंकि सर्वत्र
वैदिक धर्म का ही प्रसार था।

इस्लाम में जो नमाज पढ़ा जाता है उसमें उठने-बैठने-झुकने के सारे
आसन प्राचीन यौगिक प्रक्रिया के अवशेष हैं।

इस प्रकार योग शब्द का विविध भाषाओं में अस्तित्व और यौगिक
आसनों का कहीं-कहीं होना वैदिक संस्कृति के प्राचीन विश्वप्रसार का
एक सबल प्रमाण है।

साँप-सीढ़ी का खेल

साँप-सीढ़ी का एक खेल आजकल बच्चे खेलते हैं। उसमें एक रंगीन पट पर टेढ़े-मेढ़े साँप और कुछ सीढ़ियाँ होती हैं। एस्० वाय्० वाकणकर ने (इतिहास पत्रिका त्रैमासिक २६ जून, १९८३ का अंक, पृष्ठ ६४, प्रकाशक डॉ० विजय बेडेकर, बेडेकर हॉस्पिटल, नौपाडा, ठाणे) लिखे लेख में स्पष्ट किया है कि उस खेल को महाराष्ट्र में ज्ञानदेव का मोक्षपट कहते हैं, गुजरात में सनाचोपट कहते हैं और दक्षिण भारत में परमपद-सोनपट कहते हैं। इस प्रकार विश्व में खेला जाने वाला साँप-सीढ़ी का खेल भी वैदिक स्रोत का है।

संगीत

वैदिक संगीत ही प्राचीन विश्व में प्रसृत था। अतः आंग्ल भाषा में भी गीत को सॉंग (Song) और गाने को 'सिंगिंग' (singing) कहते हैं। ये शब्द स्पष्टतया 'संगीत' शब्द से ही व्युत्पन्न हैं।

संचार साधन

कई लोग ऐसा सोचते हैं कि आकाशवाणी, दूरभाष, दूरदर्शन आदि

दूरसम्पर्क के माध्यम और विमान आदि वेगवान प्रवास के साधन प्राचीन काल में न होने से वैदिक विश्वसाम्राज्य होना असम्भव था। उनकी वह शंका तर्कसंगत नहीं है। क्योंकि मध्ययुग में सीमित साधन होते हुए भी अशोक, चंगेजखान आदि के विस्तृत साम्राज्य थे। मद्रास से पूर्व में समुद्र पार कर जावा, सुमात्रा, सिंगापुर, मलयेशिया, श्याम, काम्बोज, विएतनाम आदि प्रदेशों में भारतीय क्षत्रियों ने निजी साम्राज्य प्रस्थापित किया था—इसका उल्लेख विद्यमान इतिहास में भी है। अश्व और नौकाओं से प्राचीनकाल में विश्वविजय किया जाता था। एक बार विजय पाकर अधिकार जमा लेने पर प्रत्येक जिले पर एक-एक अधिकारी नियुक्त कर सारे विश्व का राज चलाया जा सकता है। अंग्रेजों ने जब अमेरिका से आस्ट्रेलिया तक स्व-साम्राज्य विस्तार किया तब उनके पास सिवाय घोड़े और नाव इनके अतिरिक्त था ही क्या? अतः यह सोचना कि विश्व-साम्राज्य के लिए वेगवान् संचार साधन होने चाहिएं—ठीक नहीं।

तथापि हम यह कहना चाहते हैं कि कृतयुग से लेकर महाभारतीय युद्ध तक के कालखण्ड में लोगों को संचार और सम्पर्क के शीघ्रतम साधन उपलब्ध थे। उनके विपुल उल्लेख प्राचीन संस्कृत-साहित्य में बार-बार अंकित हैं।

आस्ट्रेलिया उर्फ अस्त्रालय भू-खण्ड के पास सागर में तमिल लेख अंकित एक कांसे की घण्टा प्राप्त हुई थी। उससे स्पष्ट है कि प्राचीन काल में भारतीय नौकाओं का संचार सातों समुद्रों में दूर-दूर तक होता था।

उधर यूरोप के उत्तरी भाग में डेनमार्क के पास बर्फीले सागर में डूबी हुई एक प्राचीन हिन्दू नौका मिली थी। उस पर बुद्ध आदि की मूर्तियाँ मिली थीं। प्राचीन वैदिक परम्परा की प्रतिमाएँ, मन्दिर, नगर आदि विश्व के दूर-दूर के प्रदेशों में पाए जाते हैं। विश्व के सारे सागरी मार्गों का पूरा ज्ञान भारतीयों को होने के कारण प्राचीन विश्व के नौकानयन व्यवसाय में भारतीय खलासियों की बड़ी माँग थी। सागर संचार की सारी परिभाषा संस्कृतमूलक होने के उदाहरण इस ग्रन्थ में अन्यत्र दिए गए हैं ही।

अतः चीनी यात्रियों ने या कोलंबस नाम के यूरोपीय व्यक्ति ने

दक्षिण व उत्तर अमेरिका खण्डों का पता लगाया यह धारणा भ्रममूलक है। उस प्राचीन समय में सागर-पर्यटन का पूरा ज्ञान भारत ने ही सारे विश्व को उपलब्ध कराया था जैसे वर्तमान युग में पाश्चात्यों का विज्ञान सबको प्राप्य है।

क्या हिन्दू सागर पार नहीं जाते थे ?

सारे विश्व में जब इस्लामी आतंक मचा, लोग बलात् मुसलमान बनाए जाने लगे, स्त्रियों पर बलात्कार होने लगा और बच्चों को गुलाम बनाकर बेचा जाने लगा, तब कुछ समय पर्यन्त हिन्दू लोगों को सागर पार नहीं जाना चाहिए ऐसी एक संरक्षणात्मक सूचना भारतभर में फैलना स्वाभाविक थी। जैसे बाहर अराजक, बलवा, दंगा-फसाद होने पर माता-पिता अपने बच्चों को बाहर जाने से रोकते हैं। किन्तु उससे यह निष्कर्ष निकालना अयोग्य होगा कि भारतीय लोग कभी देश के पार जाते ही नहीं थे। भारतीय लोगों को सारे विश्व में दिग्विजय के लिए, शासन के लिए, पढ़ाने के लिए, समाज संगठन आदि विविध व्यावसायिक सेवाओं के लिए जाना ही पड़ता था।

कर्नल जेम्स् टॉड ने लिखा है (पृष्ठ ११३, खण्ड १, Annals and Antiquities of Rajasthan) कि "आद्यतम समय से भारतीय लोग सागर पार जाते रहे हैं। विविध प्रदेशों में भारतीयों के धार्मिक प्रणाली के चिह्न उसके साक्ष्य हैं।

एडवर्ड पोकॉक लिखते हैं (पृष्ठ ४४, India in Greece, by Edward Pococke) कि "हिन्दुस्तान के लोग प्राचीन काल में सागर संचार में बड़े कुशल माने जाते थे"। मनुस्मृति के उल्लेखानुसार भारतीय व्यापारी विविध देशों से माल लाकर भारतीय राजाओं को भेंट दिया करते थे। रामायण में भी सागरपर्यटन के स्पष्ट उल्लेख हैं। हीरेन (Heeren) के Indians नामक ग्रन्थ में पृष्ठ १२४ पर लिखा है कि भारतीयों की विदेश-यात्रा पर रोक लगाने वाला कोई आदेश नहीं था। उलटा मनुस्मृति में अंकित उल्लेखों में विदेशों से किए जाने वाले व्यापार में यदि हानि हुई तो उसकी भरपाई करने सम्बन्धी नियम दिए हुए हैं।

परशुराम ने इक्कीस बार विश्व में संचार कर उत्पातशील क्षत्रियों का दमन किया था। उनमें से एक बार परशुराम ने ईरान पर चढ़ाई की। पोकॉक ने अपने ग्रन्थ के पृष्ठ ४५ पर लिखा है कि परशुधारी परशुराम ने ईरान को जीतने पर उस देश का परशु (यानी कुल्हाड़ा) से पारसिक उर्फ परशीय ऐसा नाम पड़ा।

पोकॉक का निष्कर्ष है कि चाल्डियन् (chaldean) या खाल्डियन् शब्द कुलदेव यानि देव या ब्राह्मणों का द्योतक है। अपने ग्रन्थ India in Greece के पृष्ठ ४७ पर पोकॉक लिखते हैं कि ईरान, कॉलचिस और अर्मेनिया के प्राचीन नक्शे में उस प्रदेश में भारतीय बसे थे इसके स्पष्ट और आश्चर्यकारी प्रमाण हैं। और रामायण तथा महाभारत के अनेक तथ्यों के वहाँ प्रमाण मिलते हैं। उस सारे नक्शे में बड़ी मात्रा में उन प्रदेशों में भारतीयों की बस्ती का विपुल ब्यौरा मिलता है।

Oxus वहाँ की एक नदी का नाम है। उसे ग्रीक शब्द समझना भूल है। ऊक्षस् यानी बैल, संस्कृत शब्द है। उसी का संक्षिप्त रूप आंग्ल भाषा में 'ऑक्स' (ox) ऐसा रूढ़ है। उसका अर्थ बैल ही है।

पोकॉक के ग्रन्थ के पृष्ठ ५३ पर उल्लेख है कि यूरोपीय क्षत्रिय, स्कैंडिनेविया के क्षत्रिय और भारतीय क्षत्रिय सारे एक ही वर्ग के लोग हैं।

वैदिक प्रणाली में शिवपुत्र स्कंद देवों की सेनाओं का नेता (यानी सेनापति) है। उसी से उत्तरी यूरोप के डेन्मार्क, नार्वे, स्वीडन आदि देशों को स्कैंडिनेविया कहा जाता है—जो 'स्कंदनावीय' ऐसा संस्कृत शब्द है। स्कंद के नेतृत्व में वहाँ जो सागरदल या नौकादल गया था उससे वह नाम रूढ़ हुआ।

कैलास

ग्रीक लोग स्वर्ग को Koilon कहते हैं। रोमन लोगों में स्वर्ग का उल्लेख Coelum शब्द से होता है। वे दोनों संस्कृत वैदिक 'कैलास' शब्द के ही यूरोपीय अपभ्रंश हैं, ऐसा पोकॉक के ग्रन्थ में पृष्ठ ६८ पर उल्लेख है।

Thessalia

पोकॉक के ग्रन्थ में पृष्ठ ६२ पर लिखा है कि "ग्रीस का थेसालिया भाग 'देश-शालि' यानी चावल का प्रदेश इस अर्थ का संस्कृत शब्द है। Othrys नाम का ग्रीस का पर्वत 'अद्रि ईश' यानी पर्वतराज ऐसे अर्थ का संस्कृत है"।

स्वयं ग्रीस (Greece) देश 'गिरीश' अर्थ का संस्कृत है। ऑलिम्पस् पहाड़ी पर वे अपने सारे देवों का निवास मानते थे। उसी से उस देश का नाम 'गिरीश' उर्फ ग्रीस पड़ा।

काश्यपीय (Cassopoei)

ग्रीक नाम Cassopoei वस्तुतः काश्यपीय ऐसा वैदिक प्रणाली का है। उसका अर्थ है—काश्यप का अनुयायी या काश्यप का वंशज।

विश्व के प्रसिद्ध भवन

'भारतीय इतिहास की भयंकर भूलें' और 'विश्व इतिहास के विलुप्त अध्याय' नाम के मेरे ग्रन्थों में मैंने प्रमाणित किया है कि विश्व के विविध प्रदेशों में जो तथाकथित दरगाहें, मसजिदें और गिरिजाघर बने हुए हैं वे सारे प्राचीन वैदिक क्षत्रियों के बनाए महल और मन्दिर हैं। पोकॉक के ग्रन्थ में पृष्ठ १६३ पर इसकी पुष्टि होती है। वे लिखते हैं कि "उत्तर भारत के सूर्यवंशी लोगों के बनाए विशाल भवन विश्व में जहाँ-तहाँ पाए जाते हैं। रोम, इटली, ग्रीस, पेरु, इजिप्ट और सीलोन आदि प्रदेशों में सूर्यवंशी क्षत्रियों के बनाई इमारतों की मोटी दीवारें और सार्वजनिक सुविधा के उन्होंने बनाए काम (सरोवर, घाट, अन्नछत्र, विद्यालय, वेधशाला आदि) प्रेक्षक को बड़े चकित कर देते हैं।"

पोकॉक साहब ने जिन प्रदेशों का उल्लेख किया है उसके अतिरिक्त स्पेन देश में प्राचीन अलहम्ब्रा महल और कार्डोव्हा नगर की तथाकथित मसजिदें, बगदाद, बुखारा, समरकंद, इस्ताम्बूल, काबुल आदि सारे नगर और वहाँ की प्रेक्षणीय प्राचीन इमारतें सारी ईसापूर्व समय की वैदिक क्षत्रियों की बनाई हुई हैं।

यूरोप की प्राचीन पूर्वीय संस्कृति

फ्रँझ क्यूमाण्ट (Franz Cumont) (जन्म, ३ जनवरी, १८६८) घेंट के विश्वविद्यालय में प्राध्यापक थे। उन्होंने दो खण्डों का एक ग्रन्थ लिखा है। नाम है Textas et Monuments figure's relatifs aux Mysteres de Mithra। उसका आंग्ल अनुवाद Thomas J McCormack ने किया है। उस आंग्ल ग्रन्थ का नाम है The Mysteries of Moithra। क्यूमाण्ट का दूसरा ग्रन्थ है Les Religions Orientales dons le Pagani au Romain। उसका आंग्ल अनुवाद Oriental Religions नाम से हुआ है। (प्रकाशक–The Open Publishing Company, Chicago, १९११, लंडन के विक्रेता—Kegan Paul Trench, Trubner & Co.)। ईसाई पंथ जब केवल एक छोटा २५-५० व्यक्तियों का गुट था और उस ईसाई पंथ की अन्य अनेक पंथों से अधिक जनमान्य होने की होड़ लगी हुई थी तब रोम नगर में जनजीवन किस प्रकार का था उसका वर्णन क्यूमाण्ट के ग्रन्थ में है।

विस्कॉन्सिन विश्वविद्यालय के प्राध्यापक Grant Showerman ने Oriental Religions ग्रन्थ की प्रस्तावना लिखी है। उसमें शॉवरमन लिखते हैं कि "रोम में ईसापूर्व जितने मूर्तिपूजक पैगन पंथ थे उनके सिद्धान्त ईसाई पंथ के सिद्धान्तों से कहीं अधिक शरीर, मन, बुद्धि, चेतना आदि सभी का समाधान करने वाले होते थे। उनकी परम्परा बड़ी प्राचीन थी। विज्ञान और सभ्यता पर वे आधारित थीं। उनके विविध समारम्भ होते थे। उनमें लोग ईश्वरी माया की अनुभूति से बड़े मग्न हो जाते थे। उनकी देवताएँ बड़ी दयालु कही जाती थीं। उन धार्मिक समारोहों में सामाजिक समागम बड़ा अच्छा होता था। वह धार्मिक प्रणाली तर्क पर आधारित थी। अगले जन्म में अधिक शुद्धभाव और पुण्य प्राप्ति हो यह ध्येय रखा जाता था। ईसाई पंथ ने उस विरोधी परम्परा से ही अपने तथ्य बनाकर उन पंथों का खण्डन करना आरम्भ किया।"

उस ग्रंथ की भूमिका में क्यूमाँट ने लिखा है कि "इसमें कोई संदेह नहीं कि ईसाईपंथ के कुछ विधि और त्योहार मूर्तिपूजकों की प्रणाली का अनु-

करण करते हैं। चौथी शताब्दी में क्रिस्मस का त्योहार २५ दिसम्बर को
इसलिए माना गया कि इस दिन प्राचीन परम्परानुसार सूर्यजन्म का (यानी
उत्तरायण का और उसके फलस्वरूप दिन बड़ा-बड़ा होते रहने का) उत्सव
होता था।

पृष्ठ २ पर क्यूमॉट के ग्रंथ में लिखा है "पूर्ववर्ती देशों में और विशेषत:
उनकी प्राचीन धर्म-प्रणाली में हमें उनके व्यवसाय और सम्पत्ति, तांत्रिक
क्षमता, कला, बुद्धि और विज्ञान का परिचय प्राप्त हो सकता है।"

पृष्ठ ६ पर उल्लेख है कि "विख्यात खगोल ज्योतिषी, गणितज्ञ, वैद्य,
दर्शनशास्त्रों के प्रणेता एवं भाष्यकार सारे अधिकतर पूर्ववर्ती जन ही थे।
टॉलिमी और प्लोटिनस (Ptolemy and Plotinus) मिस्र के निवासी
थे, पार्फीरी (Porphyry) और यायम्ब्लीकस् (Iamblichus) सीरिया
(सुर) प्रदेश के निवासी थे, डिस्कोराइडस् और गैलेन (Discorides and
Galen) एशिया के थे। प्रत्येक विद्या में प्राच्यविज्ञान की छाप थी।
साहित्य और विज्ञान दोनों का विकास मुख्यत: पूर्ववर्ती लोगों ने ही किया।
ग्रीक प्रणाली के प्रणेता माने गए उनके साम्राज्य के लगभग सभी नेता
एशिया मायनर, सीरिया (सुर), और ईजिप्त (यानी अजपति उर्फ मिस्र)
देश के निवासी थे।···यूरोपीय लोग ही सारे क्षेत्रों में अग्रसर थे यह दंभपूर्ण
प्रतिपादन बड़ा खोखला लगता है। उस समय रोम का अपना साम्राज्य
तो था ही नहीं अपितु रोम पूर्ववर्ती देशों का अंकित था।"

यूरोप की प्राचीन वैदिक सभ्यता के प्रमाण ईसाइयों ने नष्ट किए

क्यूमॉट के ग्रन्थ में पृष्ठ १२-१३ पर लिखा है "सब-कुछ लुप्त हो
गया। दूसरी शताब्दी में Eusebius और Pallas जैसे लेखकों ने The
Mysteries of Mithra जैसी प्राचीन दन्तकथाओं के जो मोटे-मोटे ग्रन्थ
प्रकाशित किए उनमें उन प्राचीन देवी-देवताओं की कुछ कथाएँ दी गईं
थीं। उनसे उस लुप्त जीवन-प्रणाली का कुछ थोड़ा-सा ज्ञान हो सकता था।
किन्तु मध्यकाल में कर्मठ ईसाई भावनाओं के अत्यधिक कड़वे प्रभाव के
कारण उन मूर्तिपूजक पंथों के साथ-साथ उनका सारा साहित्य ही नष्ट करा
दिया गया। तीसरी शताब्दी के रोमन साम्राज्य के बारे में अत्यल्प ब्योरा

मिलता है जबकि उसी समय (वैदिक) मूर्तिपूजा-प्रणाली रोम में सर्वाधिक
प्रभावशाली थी। Heriodianus और Dion Cassius से इस्तंबूल के
लेखक और Suetonius से Ammianus Marcellinus तक के जितने
महत्त्व के ग्रन्थ थे सारे नष्ट करा दिए गए। यह इतिहास का न्यून ईसापूर्व
(वैदिक) प्रणाली के अध्ययन में बड़ी बाधा निर्माण करता है।"

वैदिक प्रणाली की ईसाई निन्दा

यूरोप में ईसाईपंथ जैसे-जैसे पनपता गया वैसे-वैसे उसने तत्पूर्व के
यूरोप खण्ड के वैदिक-प्रणाली के सारे चिह्न और सारा साहित्य निर्दयता
से और निश्चयपूर्वक नष्ट कर दिया। घाव पर नमक छिड़कने की तरह
दुष्टता से ईसाईपंथी लेखकों ने पूर्ववर्ती वैदिक प्रथाओं की खिल्ली भी
उड़ानी शुरू कर दी। उदाहरणार्थ Juvenal नाम का लेखक ईसिस देवता
के सम्मुख जो भक्त अपने शरीर पर घाव आदि लगा लेते उनका उपहास
करता है। Necromancy नाम के ग्रन्थ में Ducian महायागी (Magi)
लोगों का (स्नान आदि से) अपने आपको शुद्ध करने की विविध क्रियाओं
का कोई अन्त ही न होने की हँसी उड़ाता है। Metamorphosis नाम के
ग्रन्थ में Apulesius ईसिस देवता के दर्शनार्थियों से कराए जाने वाले
विविध धर्माचारों की निन्दा करता है। Treatise on the Syrian
Goddess शीर्षक के ग्रन्थ में Lucian ने Hierapolis (यानी हरिपुर)
के देवस्थान का उल्लेख करते समय वहाँ के पुरोहित से जो बातचीत हुई
उसका विवरण आधा-अधूरा-सा ही दे रखा है।"

अरब प्रदेशों में और यूरोप के कई नगरों में कृष्ण मन्दिरों की भरमार
होती थी। अरबों ने उन सब मन्दिरों की मस्जिदें बना डालीं तथापि वे
उन्हें हरम् यानि हरियम् (हरिमन्दिर) ही कहते हैं। यूरोपीय लोगों में
Hercules (यानी हरि-कुल-ईश श्रीकृष्ण) और Hierapolis यानी हरिपुर
के मन्दिरों का उल्लेख आता रहता है। वैदिक-प्रणाली में ईश यानि
परमात्मा। अत: प्राचीन विश्व में रोम, ईजिप्त आदि प्रदेशों में जो Isis
ईशिस देवी कही जाती है वह परमेश्वरी, पार्वती, चण्डी, दुर्गा, भवानीदेवी
थी।

यूरोपियों के भ्रम

यूरोपीय लोग सारे ईसाई हो जाने के कारण वे यूरोप की ईसापूर्व प्रणाली के अध्ययन में एक बड़ी भारी भूल करते हैं। Phrygia, Thrace, मिस्र आदि देशों में जो देवी-देवताएं थीं उन्हें वे विभिन्न धर्म और पंथ की समझ बैठे हैं। वैदिक-प्रणाली में सरस्वती, लक्ष्मी, अन्नपूर्णा, भवानी, काली आदि देवियों की जब पूजा होती है तो वे भक्त लोग विभिन्न पंथों के या धर्मों के थोड़े ही होते हैं। वे तो सारे वैदिक धर्मी ही होते हैं।

मान्यवर, यूरोपीय विद्वानों की कुछ अन्य गलतियों के उदाहरण नमूनों के रूप में नीचे दिए जा रहे हैं। उनसे सबक यह सीखना चाहिए कि एक गोरे, यूरोपीय, ईसाई व्यक्ति के वचन को स्वयंसिद्ध नहीं मानना चाहिए।

Sir Monier Monier Williams ने एक बड़ा मोटा संस्कृत-आंग्ल शब्दकोश प्रकाशित किया है। ग्रन्थ तो बड़ा अच्छा, महत्त्वपूर्ण और उपयुक्त तो है तथापि उसमें हमने एक बालिश गलती पकड़ी है जो एक साधारण पाठशाला का शिशु छात्र भी नहीं करेगा।

उस कोश में 'कंचिदेक' शब्द का अर्थ मोनियर विलियम्स साहब ने क्या दिया है देखें। साहब महाशय कहते हैं कि महाभारतकालीन किसी देहात का नाम 'कंचिदेक' था।

वह अर्थ साहब महाशय ने कहाँ से निकाला ?

महाभारत में जब भगवान् श्रीकृष्ण दुर्योधन के दरबार में युद्ध टालने हेतु समझौता करने जाते हैं तो कहते हैं—

इन्द्रप्रस्थं, वृकप्रस्थं, जयंतं वारणावतम्। प्रयच्छ चतुरो ग्रामान् कंचिदेकं च पंचमम्।

इसका सही अर्थ यह है कि "(पांडवों को तुम) इन्द्रप्रस्थ, वृकप्रस्थ, जयन्त, वरणाव्रत और 'कोई-से भी' पाँचवां ग्राम दे डालो।"

नया संस्कृत सीखने वाला शिशु भी उसका वही अर्थ करेगा क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण का वह वचन बड़ा सीधा, सादा और सरल है। तथापि मोनियर विलियम्स साहब कहते हैं कि भगवान् कृष्ण ने पांडवों के लिए जो

पाँच गाँव माँगे उनमें पाँचवें नगर का नाम 'कोई-सा भी' (कंचिदेकम्) था। परख ली यूरोपियन साहब की बात।

दूसरा एक उदाहरण देखें। M.A. Sherring नाम के पादरी ने Benares the Sacred City of the Hindus शीर्षक की पुस्तक लिखी है। उसकी भूमिका में पृष्ठ XXI (इक्कीस) पर प्रोफेसर विलसन नाम के अन्य यूरोपीय विद्वान की वैसी ही गलती बतलाई है। शेरिंग लिखते हैं कि अनेक बार प्रोफेसर विलसन ने 'काशिराज' का अर्थ राजा काशी (अर्थात् काशी नाम का राजा) ऐसा दे रखा है जबकि काशिराज का अर्थ 'काशी नगर या काशी राज्य का राजा' होता है।

ऐसे उदाहरण देखते हुए यूरोपीय विद्वानों के निष्कर्षों के और तर्कों के बारे में वाचकों को बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए।

वेदों के झूठे अनुवाद तथा निन्दा

यूरोप के कई व्यक्तियों ने वेदों के सम्बन्ध में घृणा का प्रसार करने के लिए वेदों के अनुवाद उपलब्ध कराने के बहाने कुछ अंटसंट ब्यौरे की पुस्तकें प्रकाशित कराने की घटना भी यूरोप में हुई है।

प्रत्यक्ष भारत में बम्बई के St. Xavier's College के संचालक विदेशी गोरे पादरी और पुणे नगर का भांडारकर प्राच्य विद्या संस्थान जैसे संघटनों से सम्बन्धित भारतीय और विदेशी विद्वान् मैक्समूलर आदि के पराए छप्पे के वेदों के ऊपरी अनुवाद ही प्रमाण मानकर चल रहे हैं। ऐसे सारे व्यक्तियों से और उनके अनुवादों से सावधान रहें।

तथापि कुछ अन्य पाश्चात्य विद्वानों को वैदिक संस्कृति की प्राचीन विश्वव्यापकता प्रतीत हुई है। कौंट बिऑनस्टिअर्ना ऐसे एक लेखक हैं। The Theogony of the Hindus नाम की उनकी पुस्तक के पृष्ठ १६८ पर वे लिखते हैं "हिन्दू प्रणाली की प्राचीनता की कोई बराबरी नहीं कर सकता। वहीं (आर्यावर्त में) हमें न केवल ब्राह्मण धर्म अपितु समस्त हिन्दू प्रणाली का आरम्भ प्रतीत होगा। वहाँ से वह धर्म पश्चिम में इथिओपिया से ईजिप्त और फिनीशिया तक बढ़ा; पूर्व में स्याम से होते हुए चीन और जापान तक फैला; दक्षिण में सीलोन और जावा, सुमात्रा तक प्रसारित हुआ

और उत्तर में ईरान से खाल्डीय, कॉलचिस और हायपरबोरिया तक फैला। वहीं से वह वैदिक धर्म ग्रीस और रोम में भी उतर आया।

विश्वोत्पत्ति का वैदिक-वर्णन अन्य धर्मग्रन्थों में भी उद्धृत

इसी ग्रन्थ में हमने अन्यत्र यह दर्शाया है कि प्राचीनकाल में वैदिक संस्कृति ही सर्वत्र प्रचलित होने के कारण सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन जो वैदिक साहित्य में दिया है वही कुरान, बाइबल जैसे अन्य धर्मग्रन्थों में दोहराया गया है।

उदाहरणार्थ सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन जो ग्रीक लोग देते हैं वह वैदिक प्रणाली का ही है। ऑर्फिअस (orpheus) का इस सम्बन्ध का कथन दमॅशियस (Damascius) ने इस प्रकार लिखा है, "अनाधूनी और उथल-पुथल से क्रोनॉस (Kronos) यानी सूर्य ने प्रथम Oether (यानी दिन) और Erbos (यानी रात्रि) बनाई। उसी में उसने (ब्रह्म) अंड की स्थापना की। उसी से त्रिशिर फणि—यानी ब्रह्मा-विष्णु-महेश बने। उन्होंने स्त्री और पुरुष निर्माण किए। उन स्त्री-पुरुष युगल से मानव जाति की उत्पत्ति हुई।

ईजिप्त के लोग भी वही कथा दोहराते थे कि प्रथम ब्रह्मांड की निर्मिती हुई। उस ब्रह्माण्ड के दो हिस्सों से आकाश और पृथ्वी बनी! (Bharat—India As Seen and known by Foreigners, संकलक बाबा साहेब देशपांडे, प्रकाशक—स्वाध्याय मंडल, किला पारडी जिला सूरत, सन् १९५०)।

यहूदी धारणा भी वेदमूलक है

यहूदी लोगों का नेता मोभेस (यानी महेश) भी वही कथा मानता था। उस सम्बन्ध में कौंट बियानस्टिअर्ना का उल्लेख (पृष्ठ १४४, The Theogony of the Hindus) कहता है "ईजिप्त का धर्म भी प्राचीन भारत का ही धर्म था इसका प्रमाण हमें मोभेस (महेश) के कथन से मिलता है। मोभेस के धर्मतत्त्व एक ईश्वर की कल्पना पर ही आधारित थे। वेदों का तात्पर्य भी वही है। मोभेस की धर्म-प्रणाली और सृष्टि-उत्पत्ति की धारणाएँ कुछ मात्रा में उसी हिन्दू वैदिक स्रोत की दीखती हैं।"

बाइबल और कुरान

सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन जो बाइबल और कुरान में उद्धृत है, वह बौद्ध-प्रणाली का है। और बौद्ध जो ब्यौरा देते हैं वह वैदिक-प्रणाली का है। (देखें पृष्ठ ८-९, Bharat—India as seen and known by Foreigners) "प्रथम पृथ्वी पर बस्ती नहीं थी। उस समय आकाश उर्फ भुवन के निवासी पृथ्वी पर उतरा करते। महिला और पुरुष वर्गों के उन दिव्य व्यक्तियों के भाव शुद्ध होने के कारण उन्हें कामवासना नहीं थी। बदाम के जैसा एक फल वृक्ष से तोड़कर खा लेने की जो इच्छा आदि बुद्ध ने उनमें जगाई उन स्त्री-पुरुषों में कामवासना निर्माण होकर भुवन को वापस लौटने की उन्हें कोई इच्छा ही नहीं रही। उन्हीं से मानव जाति का निर्माण हुआ।" इससे किसी को कोई शंका नहीं रहनी चाहिए कि ईसाई और इस्लामी परम्पराओं का वही स्रोत है। इस प्रकार सृष्टि-उत्पत्ति की सभी कल्पनाएँ भारतीय प्रणाली की ही हैं।

अध्यात्म

"Pantheism, Spinogism, Hegelianism आदि जो आध्यात्मिक धारणाएँ हैं वह कहती हैं कि चराचर में ईश्वर सर्वव्यापी है; उसी परमात्मा का अंश मानव में भी है; मृत्यु के पश्चात् जीव की आत्मा परमात्मा में विलीन होती है; जन्म-मृत्यु का चक्र अखण्ड घूमता रहता है—यह सारी कल्पनाएँ हिन्दू परम्परा की ही तो हैं।" (देखें पृष्ठ २९-३०, Bharat—India as seen and known by Foreigners)

दर्शनशास्त्र

"दर्शनशास्त्र में तो हिन्दू लोग ग्रीस और रोम से बड़े अग्रसर रहे हैं। क्योंकि आत्मा के अमरत्व के बाबत ग्रीक और रोमन लोगों को सन्देह था। ईजिप्त लोगों का धर्म, पौराणिक कथाएँ और दर्शनशास्त्र हिन्दुओं से लिया गया था। ग्रीक दर्शन लगभग पूर्णतया हिन्दू दर्शनशास्त्र से ही लिया गया है। उनकी समानता योगायोग से नहीं हो सकती। हिन्दू अग्रसर होने के

कारण वे गुरु और ग्रीक लोग उनके शिष्य होने चाहिए। (देखें—पृष्ठ २७ से ३३, देशपांडे जी की पुस्तक)।

विश्वसाहित्य और ईश्वर ज्ञान भी हिन्दूमूलक

W. D. Brown लिखते हैं, "बारीकी से जाँच करने पर किसी शुद्ध-भाव के व्यक्ति को यह मानना पड़ेगा कि हिन्दू ही विश्व-साहित्य और ईश्वरज्ञान के जनक हैं। मॅक्समूलर, Jacoliott, सर विल्यम जोन्स आदि को भारत के प्राचीन साहित्य से पक्के इस बात के प्रमाण मिले हैं कि ईश्वर ज्ञान के लगभग सारे ही तथ्य विश्व के लोगों ने भारत से ही प्राप्त किए हैं। इस विषय में हिन्दू इतने अग्रसर थे कि अपने-आपको बड़े प्रगत समझने वाले अन्य लोग भी हिन्दुओं की श्रेष्ठता से मन-ही-मन में जलें।" (पृष्ठ १३-१४, देशपांडे की पुस्तक)।

प्राचीनत्व

हिन्दू उर्फ वैदिक प्रणाली की प्राचीनता के बारे में Sir James Coird लिखते हैं "कुछ पाश्चात्य श्रेष्ठियों को अभी इस बात का पता नहीं है कि हिन्दू ही विश्व के प्राचीनतम शासक हैं।"

दिसम्बर १९६१ के Calcutta Review मासिक के एक लेख में (पृष्ठ १४-१५ पर) लिखा था—"इस बात का सन्देह नहीं हो सकता कि हिन्दू जाति कला और क्षात्रबल में श्रेष्ठ थी, उनका शासन बड़ा अच्छा था, उनका नीतिशास्त्र बड़ी बुद्धिमानी से बनाया गया था और उनका ज्ञान बड़ा श्रेष्ठ था। प्राचीनकाल में हिन्दू व्यापारी लोग थे इसके विपुल प्रमाण हैं। भारतीय हथकरघा के वस्त्र सारे विश्व में मान्यता पाए थे। रेशम तो अनादिकाल से हिन्दू बनाते रहे हैं। ग्रीक लेखकों का निष्कर्ष है कि हिन्दू बुद्धिमान और सर्वश्रेष्ठ थे। खगोल ज्योतिष और गणित में वे अग्रगण्य थे।" Dionysius का कथन है कि "हिन्दू जाति ने सर्वप्रथम सागर पार कर अपना माल अज्ञात प्रदेशों में पहुँचाया। उन्होंने ही आकाशस्थ नक्षत्रादियों का अगाढ़ अध्ययन कर ग्रह आदि के भ्रमण गतियों का अध्ययन किया, उनका स्थान जाना और उनका नामकरण किया। अनादिकाल से भारत

ही निजी अग्रसरत्व के लिए ख्यात है और उसमें प्राकृतिक तथा हस्तकला की सुन्दर कृतियों की सर्वदा विपुलता रही है।" (देखें पृष्ठ १४-१५ देशपांडे जी की पुस्तक)।

भारत—मानवी सभ्यता का मूल देश

विख्यात फ्रेंच लेखक क्रुइझे (Cruiser) ने लिखा है कि "पृथ्वी पर यदि ऐसा कोई देश है जहाँ मानव का लालन-पालन सर्वप्रथम हुआ या उस आद्यतम सभ्यता का गठन हुआ जो अन्य प्रदेशों में फैली और मानव को मानो नवजीवन प्रदान करने वाले ज्ञान का प्रसार जहाँ से सारे विश्व में हुआ तो वह देश है—भारत" (पृष्ठ १७, देशपांडे जी की पुस्तक)।

दूसरे एक विद्वान् Victor Cousin ने लिखा है कि—"भारत के दार्शनिक-साहित्य में इतने ओतप्रोत तथ्य मिलते हैं और वे इतने श्रेष्ठ हैं कि उनकी तुलना में यौरोपीयों के तथ्य अति हीन प्रतीत होते हैं। उससे हमें भारत के सामने नतमस्तक होकर यह मानना पड़ता है कि मानव के उच्चतम दर्शनशास्त्र की जननी भारत है भारत।"

हिन्दुत्व—विश्वधर्म रहा है

विश्व के लोगों को पता नहीं है कि सृष्टि-उत्पत्ति काल से ईसाई धर्म का प्रसार होने तक प्रत्येक मनुष्य हिन्दू था यानी वह वैदिक संस्कृति का अनुयायी था। ऊपर दिए उद्धरणों से उसी निष्कर्ष की पुष्टि होती है। ग्रीक लेखक Ctesias ने लिखा है कि "हिन्दू लोग गिनती में अन्य सभी प्रदेशों के लोगों के इतने थे।" (पृष्ठ २२०, Volume II Historical Researches)

उस कथन के अनुसार प्राचीनकाल में विश्व की जितनी जनसंख्या थी उसमें पचास प्रतिशत हिन्दू थे और शेष पचास प्रतिशत अन्य थे। किन्तु वह निष्कर्ष सही नहीं है। विविध देवताओं के मन्दिर बनाने से पंथ या धर्म भिन्न होते हैं यह यौरोपीय धारणा निराधार है। भले ही विभिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न देवताओं की मूर्तियाँ थीं तथापि सबकी जीवन-प्रणाली वैदिक ही थी।

Delbos नाम के एक फ्रेंच विद्वान् वैदिक हिन्दू-प्रणाली को विश्वधर्म ही मानते थे। उन्होंने लिखा है कि "जिस जीवन-प्रणाली का आविष्कार भारत में हजारों वर्ष पूर्व हुआ वह हमारे जीवन का एक अंग बन गई है और हमारे आसमन्त में सर्वत्र हमें उसकी अनुभूति होती है। सभ्य जगत् के कोने-कोने तक वह प्रणाली पहुँची है। चाहे अमेरिका हो या यूरोप हर प्रदेश गंगाप्रदेश आई हुई उस सभ्यता का प्रभाव दीखता है।" (पृष्ठ १८, देशपांडे जी की पुस्तक—Bharat—India as seen and known by Foreigners)

आंग्लभूमि से प्रकाशित अक्तूबर १८७२ के The Edinburgh Review में लिखा था कि "जिस प्राचीनतम सभ्यता के अवशेष हमें प्राप्य हैं वह हिन्दू सभ्यता है। कार्यकुशलता और सभ्यता में वह बेजोड़ रही है। जिन सभ्यताओं का नामनिर्देश इतिहास में है उनका उदय भी उस समय नहीं हुआ था जब हिन्दू सभ्यता चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी। हम उसकी जितनी अधिक खोज करें उतना ही उसका विशाल और विस्तृत स्वरूप सामने आता है।"

विश्वव्यापी वैदिक शासन की आवश्यकता

एक हिन्दू विद्वान् विवेकानन्द जी ने कहा है "मेरी मनीषा है कि हिन्दू-धर्म विश्वविजय करे।" (पृष्ठ ६ Hindu, Life-Line of India, लेखक-प्रकाशक, वी० एम० जगतियानी, मुंबई, सन् १९८३)

यह बड़ा महत्त्वपूर्ण और सर्वगामी विचार है। हम बार-बार कह चुके हैं कि हिन्दुत्व कोई जाति नहीं है। वह तो एक विचारधारा और जीवन-प्रणाली है जो किसी भी देश या जाति का व्यक्ति अपना सकता है। प्रत्येक का जीवन सफल हो यह हिन्दुत्व का ध्येय है। यह तभी हो सकता है जब विश्व के सारे मानव हिन्दू तत्त्वों को अपनाएं; जैसे सृष्टि-उत्पत्ति काल से महाभारतीय युद्ध तक होता रहा। स्वामी विवेकानन्द का उद्गार उसी अतीत का स्मरण दिलाता है जब सारे विश्व के लोग हिन्दू ही होते थे।

हिन्दुत्व एक ऐसा आध्यात्मिक जन-शासन होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को कर्मठ आस्तिक से लेकर कर्कश नास्तिक होने का पूर्ण अधिकार है।

पूजा या प्रार्थनाविधि की कोई जुलम जबरदस्ती या पूछताछ नहीं की जाती। प्रत्येक व्यक्ति को निजी धार्मिक मार्गदर्शक और पूजाविधि चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है। प्रत्येक हिन्दू व्यक्ति से यही अपेक्षा होती है कि वह पूजाविधि, आस्तिकता, नास्तिकता, धर्मगुरु आदि के बारे में किसी अन्य व्यक्ति के ऊपर कोई दवाब ना डाले। इसी कारण तो अन्य धर्मों के लोगों को कभी छलबल से हिन्दू नहीं बनाया गया। किन्तु अब जब मुसलमान और ईसाई जन निजी संख्या बढ़ाकर हिन्दुत्व को नष्ट करने के षड्यंत्र बना रहे हैं तब केवल आत्मरक्षण के लिए जिस प्रकार भी हो हिन्दुओं की संख्या बढ़ाना बड़ा आवश्यक हो गया। यदि हिन्दुत्व ही नष्ट हुआ तो बचे-कुचे धर्म और पंथ एक-दूसरे को खा जाएंगे और विश्व में इतना आतंक मचाएंगे कि स्त्रियां, बच्चे, निर्धन व दुर्बल लोगों की चटनी हो जाएगी। विश्व में स्वतन्त्र विचार-प्रणाली केवल हिन्दुत्व की छत्रछाया में ही रह सकती है।

यद्यपि आज सर्वत्र हिन्दुत्व के शत्रु हिन्दुत्व पर आघात कर हिन्दुत्व को नष्ट करने पर तुले हुए हैं हमें भगवान् कृष्ण के उस वचन का बड़ा आधार है जिसमें वे कहते हैं—एष धर्मः सनातनः। यह धर्म सनातन है। चाहे कितने ही संकट आएं यह धर्म उन सबका प्रतिकार करते हुए ऊपर उठेगा।

योगी अरविन्द घोष ने लिखा है (पृष्ठ १४ जगतियानी की पुस्तक से उद्धृत) "हिन्दुत्व कोई ऐसी दुर्बल फुद्दी नहीं है कि जो कुचलकर नष्ट करा दी जा सके। क्योंकि करोड़ों लोगों के हृदय में हिन्दुत्व दृढ़मूल है।"

हिन्दुत्व की वह आध्यात्मिक दृढ़ता के बारे में प्रसिद्ध बंगाली साहित्यिक रवीन्द्रनाथ ठाकुर कह गए कि "भारत में इतनी दरिद्रतामय दुःख और कष्टमय जीवन होते हुए भी हे भारत मेरी तेरे पर अपार श्रद्धा है क्योंकि तुम्हीने तो शक्तिमान् और श्रीमान् सम्राटों के सामने त्याग और सादे जीवन का आदर्श रखा है। (बुद्ध, भर्तृहरि, अशोक और हर्षवर्धन जैसे राजाओं ने उसका परिचय दिया है)। तुम्हीने विजेता को यह सबक सिखाया है कि वह शरण आए शत्रु को अपमानित न करे। (हिन्दू क्षत्रिय वीरों ने उस शिक्षा का इतना अधिक परिपालन किया कि वह एक सद्गुण

विकृति ही बनकर रह गई)। तुम्हीने निष्काम सेवा और कर्म का आदर्श सबके सामने रखा है। (भगवद्गीता का नहीं तो सार है)। तुम्हीने गृहस्थ को कहा है कि वह पड़ोसी, आप्तेष्ट, सम्बन्धी, अतिथि, शरणार्थी और दीनदुर्बलों को निजी परिवार के सदस्य समझकर सहाय्य करें। जीवन के प्रत्येक अंग में संयम बरतने की शिक्षा तुम्हीं ने दी है।" (उसी ग्रन्थ का पृष्ठ १६ देखें)

ये हैं वैदिक प्रणाली की विशेषताएं। इनके अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप को परमात्मा का एक सेवक समझता है न कि एक स्वार्थी, उद्दत लुटेरा।

वैदिक ध्वज की विशेषता

हिन्दुत्व उर्फ वैदिक प्रणाली के वे आदर्श हिन्दुत्व के केसरिया उर्फ नारंगी ध्वज में पूर्णतया प्रतिबिम्बित हैं। प्रत्येक मन्दिर के शिखर पर उसी वर्ण की पताका फहरती है। उसी वर्ण का ध्वज राजाओं के छावनियों से और हिन्दू प्रासादों पर लहराता है। हिन्दू साधु-संन्यासी भी उसी वर्ण के वस्त्र पहनते हैं। इसी से देखा जा सकता है कि पवित्रता, त्याग, निर्धनों की सेवा और दुर्बलों को सहाय्य करने के आदर्श रंकों से रावों तक सबके सामने वैदिक प्रणाली ने रखे हैं। भोग, लूट, दमन, दुष्टता, क्रूरता, अभिमान, लालसा, आलस्य, व्यसनाधीनता, रगड़ा आदि को वैदिक प्रणाली में कोई स्थान नहीं है यह हिन्दुत्व के केसरिया ध्वज से देखा जा सकता है। न ही हिन्दू ध्वज किसी दुष्ट विश्वविजेता का प्रतीक है। वह तो सर्वजन हिताय सर्वजन सुखाय ऐसे सर्वकष आदर्श सभ्यता का पवित्र चिह्न है। यह केसरिया ध्वज यदि नहीं रहा तो पृथ्वी पर लूटपाट और अत्याचारों की कोई सीमा नहीं रहेगी। इस्लामी और ईसाई लोगों ने सदियों तक जो लोगों को कत्ल करने का या पकड़-पकड़कर गुलाम समझकर विश्व के बाजारों में पशुओं जैसे बेचने का व्यवहार किया वह वैदिक प्रणाली ने कभी नहीं किया।

ऐसे उस वैदिक संस्कृति के मूलग्रन्थ जो वेद उनके बारे में मैक्समूलर साहब ने लिखा है "वेद इतने प्राचीन हैं कि ईजिप्त और निनेव्हे में पाए गए शिलालेखों की प्राचीनता में वेदों से कोई बराबरी नहीं हो सकती।

वेद तो प्राचीनतम ग्रन्थ हैं" (देखें—पृष्ठ ५५७, History of Ancient Sanskrit Literature)

प्राचीन संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक महत्त्व और प्राचीनता के बारे में मैक्समूलर ने लिखा है, "हिन्दुओं के ऐतिहासिक दस्तावेज, ग्रन्थ, साहित्य आदि सबसे अत्यधिक प्राचीन तो हैं ही तथापि वे इतने अच्छे, सुदृढ़ता से बने और व्यवस्थित उल्लेख हैं कि अतीत के खण्डित इतिहास को सुसंगत करने की सामग्री जो अन्यत्र नहीं मिलती वह उन संस्कृत ग्रन्थों में मिल जाती है।" (द्रष्टव्य—पृष्ठ २१, India—What it can Teach us)।

वेदों के विशेष महत्त्व के बारे में मैक्समूलर लिखते हैं, "वेदों का महत्त्व दो प्रकार का है—एक भारतीय इतिहास के लिए और दूसरा विश्व के इतिहास के लिए। विश्व के इतिहास में वेदों से उस न्यून की पूर्ति होती है जो अन्य किसी से नहीं होती। वेद उस अतीत तक अपने को ले जाते हैं जिसका अन्य किसी साहित्य में उल्लेख नहीं है" (पृष्ठ ६३ History of Sanskrit Literature)

मैक्समूलर का यह वचन इतना सत्य है कि बेचारे मैक्समूलर को स्वयं वेदों के परिसीमा की कल्पना नहीं थी। मैक्समूलर तो अन्त तक यही समझता रहा कि वेदों की रचना किन्हीं गडेरियों ने ईसा पूर्व सन् १२०० के लगभग की। किन्तु इस ग्रन्थ में हमने बार-बार यह दर्शाया है कि भगवान् ने जब भी मानव को इस पृथ्वी पर रखा या उत्पन्न किया तब से इस विश्व को यन्त्रणा विशद करने वाले वेद परमात्मा ने मानव को उपलब्ध कराए। इस दृष्टि से वेदों से प्राचीन कोई अन्य ग्रन्थ भी नहीं हो सकता और वेदों से अतीत इतिहास भी कोई हो नहीं सकता। पार्थिव जीवन का प्रारम्भ ही वेदों से हुआ है।

वैदिक जीवनप्रणाली के उस दैवी स्रोत के बारे में जर्मन दार्शनिक अगस्त्यस् श्लेगेल (Augustus Schlegel) लिखते हैं—"प्राचीनतम भारतीयों को दैवी ज्ञान प्राप्त था इसका इन्कार नहीं किया जा सकता। उनका सारा साहित्य स्पष्ट, शुद्ध, उदार भावों से ऐसा भरा पड़ा है कि उससे महान् दैवी शक्ति का साक्षात्कार होता है। अन्य किसी भी भाषा में ईश्वर-विषयक इतने गहरे विचार प्रकट नहीं किए गए हैं।" (द्रष्टव्य Wisdom of the

Ancient Indians)

यहाँ चलते-चलते हम एक बात कहे देना चाहते है। उस जर्मन व्यक्ति का नाम पूर्णतया संस्कृत, वैदिक परम्परा का है। श्लाघा यानी प्रशंसनीय। और अगस्त्यस नाम स्वयं अगस्त्य ऋषी का या उनके अनुयायित्व का द्योतक है।

श्लेगेल साहब यदि अपने जीवन काल में यह जान जाते कि स्वयं उनका नाम वैदिक प्रणाली का है (क्योंकि जर्मनी में भी लाखों वर्षों तक पूरी वैदिक संस्कृति रही है) तो उन्हें कितना आनन्द होता। हमारा यह सिद्धान्त यदि मैक्समूलर, श्लेगेल आदि के काल में उपलब्ध होता तो विश्व इतिहास और वेदों की प्राचीनता के सम्बन्ध में उनके जो उल्टे-सीधे, गपड़-शपड़, खिचड़ी भाव हैं वे एक सुसंगत ऐतिहासिक सूत्र में पिरोए जाते।

दूसरे एक जर्मन विद्वान् शोपेनहॉअर (Schopenhaur) ने लिखा है कि "सारे विश्व में उपनिषदों के जितना पवित्र और उदात्त अध्ययन उपलब्ध नहीं है। वह अध्ययन मेरे जीवन का समाधान रहा है और मरण समय भी उसी का मुझे समाधान रहेगा।" (पृष्ठ ६१, The Upanishads, प्रस्तावना)

History of British India नाम के ग्रन्थ में लेखक Thornton ने लिखा है "निःसन्देह सारे विश्व में हिन्दूराष्ट्र प्राचीनतम है। वह प्राचतम और सर्वाधिक तेजी से प्रगत हुआ—जब नाइल(नीलगंगा) की दर्रे पर पिरैमिड खड़े भी नहीं हुए थे, जब आधुनिक सभ्यता के स्रोत समझे जाने वाले ग्रीस और इटली के प्रदेशों में जंगली जानवर ही निवास करते थे उस समय भारत एक धनी और वैभवसम्पन्न राष्ट्र था।"

यद्यपि इस प्रकार के सारे वचन हमारे सिद्धान्त का ही मण्डन करते हैं तथापि हम उनमें कुछ संशोधन सुझाना चाहते है। बात यह है कि महाभारतीय युद्ध तक तो विश्व के सारे प्रदेशों में लगातार पूरी वैदिक संस्कृति और बोलचाल की भाषा संस्कृत रही। विखण्डन जो हुआ उस युद्ध के संहार के कारण हुआ। कई प्रदेश वीरान बन गए। कईयों में जन अत्यधिक मात्रा में हताहत होने के कारण उनकी दुर्दशा हुई। अन्य देशों में वैदिक शासन और गुरुकुल शिक्षा टूट जाने से वे अज्ञानी होकर

पिछड़ गए।

किन्तु भारत में वह वैदिक संस्कृति संभल गई और चालू रही। तथापि सन् ७१२ ईसवी से इस्लामी हमलों से भारत स्थित वैदिक संस्कृति भी तहस-नहस हो गई।

पाठक यदि इतिहास की वह रूपरेखा ध्यान में रखें तो उससे सारी घटनाएँ भी स्पष्ट हो जाती हैं, इतिहास की सगति भी लगती है और यूरोपीय विद्वानों ने हिन्दू वैदिक संस्कृति के प्राचीनत्व और महत्त्व के बारे में जो विचार प्रकट किए उन्हें अधिक व्यापक अर्थ में लेने की आवश्यकता प्रतीत होती है।

उदाहरणार्थ जब पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि वेद प्राचीनतम साहित्य है तो उसका अर्थ यह नहीं कि वे पांच या दस हजार वर्ष पुराने हैं। सही अर्थ यही होगा कि मानव के निर्माण के साथ ही वेदों का निर्माण हुआ। जब वे कहते हैं कि वेद आदि प्राचीन साहित्य बड़े उच्च कोटि का है तो उसका कारण यह जान लेना चाहिए कि वेद और भगवद्गीता तो प्रत्यक्ष भगवान् की देन है और उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराणादि ग्रन्थ देवतुल्य योगी और ऋषियों की देन हैं।

प्राध्यापक वेबर (Weber) ने कहा है (पृष्ठ ४ History of Indian Literature, सन् १८८२) "जो लिखित साहित्य हमें उपलब्ध है उसमें भारत का प्राचीन (संस्कृत) साहित्य, जो कि विपुल मात्रा में उपलब्ध है, प्राचीनतम साहित्य है। यह हमारा निष्कर्ष सुयोग्य है।"

बीसवीं ईसवी शताब्दी के अन्त में श्रीमती ऐनी बेसेंट नाम की एक आंग्ल महिला भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन में हिस्सा लिया करती थी। उसने लिखा है (Hindus, Life Line of India, by G.M. Jagtian ने मुखपृष्ठ के अन्दर के भाग में दिया उद्धरण देखें) "विश्व के विविध धर्मों का अध्ययन लगभग चालीस वर्ष तक करने के पश्चात् मुझे हिन्दूधर्म के इतना सर्वगुणसम्पन्न और आध्यात्मिक धर्म अन्य कोई नहीं दिखा। उस धर्म के बाबत जितना अधिक ज्ञान बढ़ता है उतना ही उसके प्रति प्रेम बढ़ता है। उसे अधिकाधिक जानने का यत्न करने पर वह अधिकाधिक अमोल-सा प्रतीत होता है। एक बात पक्की ध्यान में रखें कि हिन्दुत्व के

नहीं है। हिन्दुत्व ही हिन्दुस्थान की जड़
बिना हिन्दुस्थान का कोई व्यक्तित्व नहीं है। हिन्दुत्व ही हिन्दुस्थान उसी तरह
है। यदि हिन्दुत्व से हिन्दुस्थान बिछड़ गया तो हिन्दुस्थान उसी तरह
निष्प्राण होगा जैसे कोई वृक्ष उसकी जड़ें काटने से होता है। भारत में कई
धर्म और कई जातियाँ हैं तथापि उनमें से कोई भी हिन्दूधर्म के इतने प्राचीन
नहीं है और भारत के राष्ट्रीयत्व के लिए वे आवश्यक नहीं हैं। वे जैसे
आए वैसे (एक दिन) चले भी जाएँगे किन्तु हिन्दुस्थान तो बना रहेगा।
किन्तु यदि हिन्दुत्व ही नष्ट हो गया तो भारत में रह ही क्या जाएगा?
केवल एक भूमि। अतीत के श्रेष्ठत्व की केवल एक (खोखली, सूखी)
स्मृति। भारत का साहित्य, कला, ऐतिहासिक इमारतें आदि सब पर
हिन्दुत्व की ही तो छाप है। और यदि हिन्दू ही हिन्दुत्व को सुरक्षित नहीं
रखेंगे तो और कौन रखेगा? यदि भारत के सन्तान ही हिन्दुत्व को नहीं
अपनाएँगे तो हिन्दुत्व का रक्षण कौन करेगा। भारत ही भारत का रक्षण
कर सकता है। और भारत और हिन्दुत्व एक ही व्यक्तित्व है।"

यह बड़ा ही मौलिक कथन है। केवल भारत के ही नहीं अपितु सारे
विश्व के लोगों को और नेताओं को हिन्दुत्व की रक्षा करनी चाहिए। क्योंकि
भारत और हिन्दूधर्म मानो जैसे सारे मानव-जाति के और अन्य जीवों के
भी माता-पिता या पालक हैं। भारत और हिन्दू धर्म के बिना सारा विश्व
एक अनाथालय और पागलखाना बन जाएगा। विश्व से बाइबल या कुरान
नष्ट हो जाने पर विश्व की कोई हानि नहीं होगी। किन्तु यदि विश्व से
वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण, भगवद्गीता, योग, संस्कृत
भाषा आदि नष्ट हो गए तो मानो मानवता का प्राण ही चला जाएगा।
उनको बचाना हो तो हिन्दुत्व को बचाना आवश्यक है क्योंकि हिन्दुत्व के
आधार पर ही तो वे सारे टिके हुए हैं।

१५

विश्व के पंथों में वैदिक उद्गम के प्रमाण

वर्तमान युग में हिन्दूधर्म उर्फ वैदिक प्रणाली को ईसाई, इस्लामी
आदि पंथों जैसा ही एक माना जाता है। यह तो पड़दादा को प्रपौत्र के
समान मानने जैसी बात हुई। कहाँ ईसाई और इस्लाम जैसे केवल १४००
से १९०० वर्ष अवधि के आधुनिक पंथ और कहाँ करोड़ों वर्ष प्राचीन
सारे विश्व की मूल एकमेव वैदिक प्रणाली! उनमें बराबरी का नाता
जोड़ना योग्य नहीं। अतः वेद, बाइबल और कुरान को बराबरी के धर्मग्रन्थ
समझना भी बुद्धिमानी नहीं। इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रसार तक
वैदिक प्रणाली में ही तो विश्व की जनता पली थी। अतः आज अपने
आपको जो यहूदी, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान आदि कहते हैं उनके पूर्वज
सारे वैदिक धर्मी यानि हिन्दू थे। इसके प्रमाण उन सबकी परम्परा और
परिभाषा में अभी तक गुथे हुए हैं।

इस्लाम, ईसाई आदि पंथ जनताजनार्दन में गुटबाजी निर्माण करते
हैं। वैदिक प्रणाली ऐसे वैयक्तिक भेदभाव में पड़ती ही नहीं इसमें बुद्ध,
ईसा या मोहम्मद जैसे किसी एक व्यक्ति को सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्ञानसम्पन्न और
सर्वगुण-सम्पन्न माना ही नहीं। वैदिक प्रणाली प्रातः से रात सोने के समय
तक की एक शुद्ध सात्त्विक आचार-विचार पद्धति है, जिसमें प्रत्येक के शांत
सद्भावपूर्ण आचरण का महत्त्व है न कि किसी एक व्यक्ति के नाम का।

मुसलमान, ईसाई, पारसी, यहूदी, बौद्ध आदि सबके पूर्वज वैदिक,
प्रणाली के अनुयायी थे इसके जो विविध प्रमाण हैं उनमें उन सबके
अध्यात्मवाद का भी अन्तर्भाव है। मुसलमान और ईसाई व्यक्ति यदि
निजी परम्परा और परिभाषा पर यदि बारीकी से विचार करें तो उन्हें

उनमें उनके मूल वैदिक सभ्यता के चिह्न दिखलाई देंगे।

वैदिक परम्परा के अनुसार शेषशायी भगवान् विष्णु के नाभिकमल पर ब्रह्मा निर्माण हुए। ब्रह्मा ने विश्व का निर्माण किया और साथ ही वेद-मन्त्रणा का ज्ञानग्रन्थ वेद भी मानव को प्रदान किया। तभी से वेद पीढ़ी दर पीढ़ी मुखोद्गत रखने की परम्परा सारे विश्व में कई पंडित कुटुम्बों द्वारा चलाई जा रही है।

अवतार सम्बन्धी भविष्यवाणियाँ

मूल ज्ञान के संरक्षण की उस परम्परा के साथ ही भगवान् विष्णु ने मानवों के शासन का कार्य प्रशिक्षित क्षत्रियों पर सौंपा।

उसी समय यह भी कहा कि क्षत्रिय शासकों के नियन्त्रण के बाहर यदि परिस्थिति जाती रही तो अधर्म को रोकने के लिए और सच्चरित्र व्यक्तियों के रक्षण के लिए स्वयं भगवान् अवतार लेते रहेंगे।

यही भविष्यवाणी यहूदी लोगों में भी प्रचलित है। यहूदी लोग भगवान् कृष्ण के यदु लोग हैं। ईसाई लोगों के बाइबल के जो विविध भाग हैं उनमें 'प्राचीन धर्मवाणी' (Old Testament) नाम का भाग है। उसमें इस भविष्यवाणी का उल्लेख है। अतः ईश्वरावतार-सम्बन्धी मूल भविष्यवाणी वैदिक परम्परा की है। वही यहूदियों की धर्मवाणी में ली गई है और उसी का अन्तर्भाव ईसाईयों के बाइबल में भी किया गया है।

अब 'जीसस् क्राइस्ट' (Jesus Christ) इस नाम को देखें वह ईशस् कृष्ण का विकृत उच्चार है। इसलिए तो—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

यह भविष्यवाणी बाइबल में भी अन्तर्भूत है।

कुरान में भी अब्राहम से ईसामसीह (यानि जीसस् क्राइस्ट) तक की सारी अवतार-परम्परा का उल्लेख है। उसी परम्परा में आगे पुनः धर्म-संस्थापन-हेतु मोहम्मद का जन्म हुआ बतलाया गया है।

इस प्रकार यहूदी, ईसाई और इस्लामी पंथ परम्परा में जिस मूल धर्मप्रवर्तक Abraham का उल्लेख हुआ है, वे 'ब्रह्मा' ही तो हैं। ब्रह्मा

को 'अब्राहम' कहना वैसी ही विकृति है जैसे 'स्कूल' और 'स्टेशन' शब्दों को 'इस्कूल' और 'इस्टेशन' कहने में होती है।

मुसलमानों में तो वही वैदिक मूल 'ब्रह्मा' नाम अब्राहम के बजाए 'इब्राहीम' उच्चारा जाता है।

कुरान का दावा

कुरान की बात निकली ही है अतः एक और मुद्दे का स्पष्टीकरण यहाँ कर देना उचित होगा। मोहम्मद यह अन्तिम पैगम्बर होने का दावा कुरान में किया गया है। वह कतई तर्कसंगत नहीं है। क्योंकि लाखों वर्ष और मानवी पीढ़ियों का निर्माण यदि होता रहा तो समय-समय पर ईश्वरावतार या श्रेष्ठ पथप्रदर्शक व्यक्तियों के अवतार की परम्परा तो चलती रहना अनिवार्य है। प्रलय यदि निकट हो तो ही मोहम्मद का अन्तिम पैगम्बर होने का दावा सही हो सकता है। किन्तु प्रलय तो इतना निकट नहीं है क्योंकि अभी कलियुग के लाखों वर्ष शेष हैं। अतः कुरान देववाणी सिद्ध नहीं होती। क्योंकि देववाणी में कुछ गलत कथन नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर सर्वज्ञानी है। और कुरान में तो मोहम्मद ही अन्तिम पैगम्बर होने का वह दावा किया गया है जो तर्कसंगत न होने के कारण गलत सिद्ध होता है। हाँ! उसका एक और अर्थ भी हो सकता है कि इस्लाम धर्म ही नष्ट हो जाने वाला है अतः मोहम्मद के सिवाय उस धर्म का कोई और पैगम्बर नहीं होगा। उसका और एक प्रमाण है। मुसलमानों में ही कादियान का अहमदिया पंथ है जिनका दावा है कि पैगम्बरों की परम्परा मोहम्मद के पश्चात् भी चलती रहेगी। और अहमदिया पंथ के संस्थापक ही मोहम्मद उपरान्त एक और पैगम्बर हुए।

शैतान

अब यूरोपीय ईसाईयों का 'सॅटन्' (Satan) नाम और इस्लामी परम्परा का 'शैतान' नाम देखें। दोनों एक ही हैं। आंग्ल भाषा में शनि ग्रह को 'सॅटर्न्' (Saturn) कहते हैं। शनि पीड़ा-दुःख संकटकारी ग्रह है। अतः सॅटन् शब्द सॅटर्न् का ही अपभ्रंश है। Satan शब्द भी स्वयं संस्कृत

इस विवरण से स्पष्ट हो जाएगा कि छल-'सत्-न' यानि जो सत्य नहीं है, यह (असत्य) सत्-न और कपट करने वाला शैतान या सेटन् (Satan) छलकारी शक्ति के ही इस्लामी और ईसाई अपभ्रंश हैं।

वैदिक परम्परा के अनुसार आरम्भ के मानव सारे देवोत्पन्न देवपुत्र होने के कारण 'सुर' कहलाए। उनमें फूट, कलह, दुर्गुण आदि जैसे-जैसे बढ़े वैसे-वैसे वे यक्ष, किन्नर, गन्धर्व आदि पृथक् गुट बने। कुछ जो बहुत दुष्ट और घमंडी हुए, उनका सुर के बजाय असुर नाम पड़ा। उन्हीं के राक्षस, दैत्य, दानव आदि नाम भी पड़े। हो सकता है कि असुरों में राक्षस, दैत्य, दानव आदि भिन्न-भिन्न गुट हों।

अवतार

'अवतार' शब्द 'अवतरण' यानी 'उतरने' का द्योतक है। भगवान् अवतार लेते हैं तो वैकुण्ठ लोक से पृथ्वी पर अवतरण करते हैं। अतः उन्हें अवतार कहा जाता है। यूरोपीय शब्द prophet भी संस्कृत 'प्र-पत' शब्द है। प्र-पत का अर्थ है—(पृथ्वी पर) गिरना (वैकुण्ठ से)। इस्लामी भाषा में उसे पैगम्बर कहते हैं जो 'प्र-अम्बर' या प्राग-अम्बर का अपभ्रंश है। उसमें अम्बर शब्द भी आकाश का द्योतक है।

ईशस्

संस्कृत में ईश्वर का द्योतक 'इशस्' शब्द ही 'जीसस्' (iesus jesus) उच्चारित होना स्वाभाविक था। क्योंकि i और j के लेखन में यूरोपीय परिपाटी में लगभग कोई भेद ही नहीं है। उसी शब्द को यहूदी लोग jesus के बजाय issac ऐसा लिखने लगे। उसमें अन्तिम 'c' अक्षर का जब तक 'स' उच्चार होता था तब तक 'ईशस्' ही issac का उच्चार था। किन्तु आगे चलकर 'c' अक्षर का 'क' उच्चार होने पर issac नाम का उच्चार मूल संस्कृत में जो 'ईशस्' बनता है उसे छोड़कर यहूदी लोग उसे 'आयझॅक' कहने लगे। इस्लामी परम्परा में वही शब्द 'ईशाक' कहलाया गया। इस प्रमाण से यह स्पष्ट है कि सारे विश्व में प्राचीन काल में भगवान् का नाम वैदिक परम्परा के अनुसार ईशस् ही था।

प्रलय की कल्पना

वैदिक प्रलय की परम्परा भी सारे पंथों में उतर आई है। प्रलय के पश्चात् मनु के द्वारा मानव की उत्पत्ति होती है। उसी मनु को बाइबल में 'नोहा' कहते हैं और इस्लामी परम्परा में 'नूह' कहते हैं। संस्कृत में 'मनुः' यानि (मनुह्) ऐसा उच्चारण होने के कारण उसका उल्लेख यहूदी और ईसाई लोगों में 'नोहा' और मुसलमानों में 'नूह' ऐसे उच्चारण रूढ़ हुए।

आदम

ईसाई और इस्लामी परम्परा में प्रथम ईश्वर-निर्मित मानव को 'अॅडम्' (Adam) कहते हैं। इस्लामी परिभाषा में उसे 'आदम' कहते हैं। उसी से 'आदमी' शब्द बना। संस्कृत शब्द 'आदिम' यानि 'सर्व प्रथम्' है। इसी प्रकार विष्णु भगवान् को भी 'आदिनाथ' कहते हैं।

वैदिक परम्परा की वराह अवतार की आख्यायिका में स्वायंभुव मनु और उसकी धर्मपत्नी शतरूपा को ब्रह्मा द्वारा प्रजोत्पत्ति करने का आदेश दिया जाता है। उसी प्रकार ईसाई बाइबल में भी अॅडम और ईव्ह दम्पत्ति को प्रजोत्पादन का आदेश दिया जाता है। कुरान को वह सारी परम्परा स्वीकृत है।

त्रिमूर्ति

ईसाई परम्परा में ईश्वर, आत्मा और जीझस् (ईशस्) यह त्रिमूर्ति कही जाती है। तीनों एक ही ईश्वर के अंश हैं यह ऊपर दिए शब्दों से स्पष्ट है। वह वैदिक परम्परा के ब्रह्मा-विष्णु-महेश त्रिमूर्ति की ही ईसाई ऊबड़-खाबड़ नकल है।

मरिअम्मा

ईसाई परिभाषा में ईशस् उर्फ जीझस् की माता 'मेरी' (Mary) कही जाती है। यह तो मरि-अम्बा उर्फ 'मरिअम्मा' का ही अनुवाद है। मरिअम्मा के मन्दिर दक्षिण भारत में बिपुल हैं। 'मरिअम्बा, वैदिक देवी

उसी को 'मातृदेवी' कहते है। ईसाई परम्परा में वही संस्कृत शब्द Mater Dei (मैटर डेई) कहा जाता है जो 'मातृदेवी' लगभग ज्यों-का-त्यों का ही तोड़ा-मरोड़ा उच्चारण है।

रोम नगर का प्राचीन विष्णु मन्दिर

यूरोप के इटली देश की राजधानी रोम में 'वेस्टा' (Vesta) का बहुत विशाल मन्दिर था ऐसी किंवदन्ती है। 'विष्णु' नाम का ही अपभ्रंश वेस्टा था।

हनुमान्

प्राचीन यूरोप में रामायण का पाठ होता था। रामलीला भी होती थी। इसी कारण राम, हनुमान् आदि नाम यूरोपीय परम्परा में कायम हैं। जर्मन देश में Haneman लिखा जाता है। अन्य देशों में Heinemann लिखा जाता है। वह हनुमान् नाम ही है।

इस प्रकार की समानता बतलाई जाने पर कुछ अविचारी व्यक्ति ऐसी शंका उपस्थित करते है कि वैदिक प्रणाली ही ईसाई और इस्लामी परम्परा पर आधारित होने का दावा किया जाए तो ?

ऐसी जब शंका आए तो प्रत्येक परम्परा की आयु कितनी है, प्राचीनतम कौन है इसका विचार किया जाना चाहिए। जैसे किसी अस्सी वर्षीय वृद्धा में और एक आठ वर्षीय कन्या में समानता है तो पूर्वज कौन है और वंशज कौन है इसका निर्णय झट् हो जाता है। उसी प्रकार जब यह ध्यान में लिया जाए कि वैदिक परम्परा लाखों-करोड़ों वर्ष पुरानी है जबकि ईसाई और इस्लामी परम्पराएँ १६०० और १४०० वर्षों तक ही सीमित हैं तब ईसाई और इस्लामी परम्परा का उद्गम वैदिक परम्परा से ही हुआ, यही निष्कर्ष निकलता है।

संस्कृत ही विश्वभाषा थी

वेदों की और प्राचीनतम सारे वैदिक साहित्य की भाषा संस्कृत ही होने के कारण वैदिक संस्कृति के साथ-साथ संस्कृत ही प्राचीन काल में

सारे विश्व की भाषा रही है। ऊपर उद्धृत किये हुए उदाहरणों से भी वह स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत शब्दों के विकृत उच्चार ही प्रत्येक भाषा में रूढ़ हैं। एक अन्य प्रमाण यह है कि बाइबल के Genesis खंड के ग्यारहवें अध्याय में उल्लेख है कि "And the whole earth was of one language and one speech. And it came to pass as they journeyed from the EAST, that they found a plain in the land of Shiner, and they dwelt there. And the Lord said, Behold the people is one and they have all one language··· The Lord scattered them abroad from thence."

इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है "सारे पृथ्वी की एक ही भाषा, एक ही बोली थी। और जब वे पूर्व से (पश्चिम की ओर) चले उन्हें शिनेर प्रदेश में एक मैदान दिखा और वे वहीं बसे। तब भगवान् ने कहा, 'देखो सब एक ही है और सब की भाषा एक ही है'···भगवान् ने वहीं से उन्हें अलग-अलग प्रदेशों में भेजा।"

बाइबल का 'प्राचीन धर्मवाणी' (old Testament) नाम का जो पूर्वार्ध है उसके विभिन्न खंडों को Books of Moses यानि भगवान् के पुस्तक कहते हैं। Moses शब्द महेश का अपभ्रंश है। यहाँ महेश को शंकर भगवान् न समझकर महा-ईश यानि 'परमेश्वर' ऐसा ही उसका अर्थ लेना चाहिए। अतः उस परमपिता भगवान् के पुस्तक यानि वेद।

मोझेस् उर्फ महेश की जन्मकथा भी कृष्ण के जन्म-कथा की नकल मात्र है।

इस प्रकार मुसलमान और ईसाई कहलाने वाले जन मूलतः वैदिक-धर्मी ही होने के कारण कितना ही अच्छा होगा यदि वे उनके १४०० या १६०० वर्ष पूर्व के वैदिकी परम्परा में सम्मिलित हो जाएँ। इतिहास से यदि ऐसा सबक न सीखा जाए तो इतिहास पढ़ने का लाभ ही क्या ?

१६

बाइबल एवं कुरान सृष्टि-निर्माण का वैदिक वर्णन ही दोहराते हैं

यद्यपि ईसाई और इस्लामी पंथ वैदिक प्रणाली के विरोधक और प्रतिस्पर्धी माने जाते है तथापि वे दोनों वैदिक प्रणाली में दिया सृष्टि-निर्माण का वर्णन ही दोहराते हैं। अतः मुसलमान और ईसाई जो अपने आपको वैदिकप्रणाली से भिन्न समझते हैं उनका इतिहास, धर्म और अध्यात्म-सम्बन्धी ज्ञान अधूरा और विकृत ही माना जाना चाहिए।

यहां यह ध्यान रहे कि कुरान अपने आपमें एक पूरा ग्रन्थ नहीं है। इसके अनेक कारण हैं जिनमें से एक यह कि बाइबल में उल्लिखित ईसाईयों की पूरी परम्परा मानकर कुरान इस्लाम को ईसाइयत की अगली कड़ी के रूप में प्रस्तुत करता है। अतः जो बाइबल में उद्धृत है उसे कुरान स्वीकृत करता है। अतः हम यदि यह सिद्ध करें कि बाइबल स्वयं वैदिक प्रणाली को दोहराता है तो उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुरान भी उसी वैदिक परम्परा को शिरोधार्य समझता है।

प्राचीनतम वैदिक साहित्य में मत्स्यपुराण का अन्तर्भाव होता है। इस पुराण में भगवान् द्वारा किए गये सृष्टिनिर्माण का वर्णन मिलता है। वह डार्विन की तरह किसी एक व्यक्ति की कपोलकल्पना नहीं है। उसमें परमात्मा द्वारा सृष्टि-निर्माण का वर्णन उसी प्रकार अंकित है जैसे किसी बालक के जन्म की कथा उसके माता-पिता या दादा-दादी के हाथों उनके बही में लिखी मिलती है।

सृष्टि-निर्माण

पुराणों में दिए वर्णनानुसार सर्वशक्तिमान् स्वयंभू भगवान् विष्णु क्षीरसागर में सहस्र फन वाले अनन्तनाग पर लेटे हुए हैं। उनके मन में

विश्वनिर्माण की इच्छा जागृत होती है। अनन्त नाग के मोड़ एक प्रकार युगों-युगों के ढके भविष्य के मोड़ हैं। अनन्त नाग के शरीर में भी कुछ हलचल प्रतीत होती है। नाग के एक एक मोड़ की लपेट जैसे-जैसे खुलती है वैसे एक-एक युग के इतिहास का आविष्कार होता रहता है। सृजन का यह आरम्भ था। मन्द-मन्द वायु बहने लगी। वातावरण में ओम्-ओम् की ध्वनि गूंजने लगी। विष्णु के नाभि से निकले नाल समान कमलदंड पर चतुर्मुख ब्रह्मा प्रकट हुए। उनके एक हाथ में वेद थे जिनमें उल्लिखित योजनानुसार ब्रह्माजी ने परमात्मा की आज्ञा से और परमात्मा की निगरानी में सृष्टि-निर्माण का कार्य आरम्भ कर दिया। किसी मानवी कारखाने का निर्माण भी तो ऐसा ही किया जाता है। आरम्भ में तैयार किए लेखा के आधार पर ही अधीक्षक कारखाने के एक-एक भाग को सम्पन्न करता है। या हम यूं कहें तो अधिक उचित होगा कि ब्रह्मा जी ने मूल वैदिक लेखा के आधार पर जैसे सृष्टि रचना की, ठीक उसी आधार पर मानव अपने विविध यन्त्रालय आदि सिद्ध करते रहते हैं।

ब्रह्मा ने ही मुखिया और प्रबन्धक बनकर अनन्त तारकापुंज, नक्षत्र, कोटि-कोटि सूर्यमंडल, वनस्पति, पशु-पक्षी, नरनारी, ऋषि-मुनि, विभिन्न विद्या और कलाओं में प्रवीण गुरुजन आदि से सुसज्जित ऐसे इस विश्व का निर्माण किया। इस प्रकार विविध वनस्पति, जीव-जन्तु, पशु-पक्षी और मानव-इत्यादि प्रजनन की पूर्व तैयारी करके ही विश्व का यह नाटक आरम्भ हुआ।

बाइबल में भी वही वर्णन

वर्तमान बाइबल में सृष्टिनिर्माण का वही वर्णन प्रथम पृष्ठ के आरम्भ के तीन-चार वाक्यों में समेटा गया है। उस प्रथम खंड का नाम है Book of Genesis यानि जन्म-कथा खंड। Book यह आंग्ल शब्द संस्कृत 'पुस्तक' शब्द का ही अपभ्रंश है। इसका विवरण देखें। पुस्तक शब्द का मध्य जोड़ाक्षर 'स्त' इतिहास के उथलपुथल ढीले पुर्जे की तरह गिरकर लुप्त हो गया। शेष रह गया 'पुक'। उसमें 'प' का उच्चारण या अपभ्रंश 'ब' होने से 'पुक' का उच्चारण 'बुक' होने लगा। पुस्तक को अंग्रेजी में

इसी कारण 'बुक' कहते हैं 'जेनेसिस' (Genesis) भी 'जन्मस्' शब्द है।

बाइबल में दिया वर्णन इस प्रकार है—"In the beginning God created heaven and earth. And the earth was without form and void: and darkness was upon the face of the deep. And the spirit of God moved upon the face of the waters."

यानि बाइबल के अनुसार प्रारम्भ में ईश्वर ने आकाश और पृथ्वी (यानि कोटि-कोटि विश्व) निर्माण किए। उन्हें प्रथम कुछ विशेष आकार नहीं था। सर्वत्र अन्धकार छाया था और शून्यावस्था थी। और भगवान् की प्रतिमा जल के ऊपर विराजमान थी।"

यह वही क्षीरसागर में शेष पर लेटे भगवान् विष्णु का ही तो वर्णन है। कुरान को भी स्वाभाविकतया वह मान्य है। अतः बाइबल की और यहूदी लोगों के Old Testament नामक प्राचीनतम जितने संस्करण मिलें उन्हें संशोधकों को बारीकी से देखना अत्यन्त आवश्यक है। हो सकता है कि उनमें वैदिक पुराणों में दिया सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन ज्यों-का-त्यों हो। क्योंकि बाइबल प्रथम अरेमाइक भाषा से ग्रीक, लैटिन आदि भाषा में अनुवादित होते-होते आधुनिक यूरोपीय भाषाओं में अनुवादित की गई। ऐसा करते-करते उसके ब्योरे में से कई उल्लेख छोड़ दिए गये तो कई मनगढ़न्त बातें बाइबल में समाविष्ट होती रहीं। अतः प्राचीनतम बाइबल और यहूदियों के धर्मग्रन्थों का बारीकी से अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। उनमें वैदिक पुराणों की परम्परा की छवि अधिकाधिक प्रमाण में दिखलाई देगी।

बाइबल में ओ३म् का उल्लेख

बाइबल के 'न्यू टेस्टमेंट' (New Testament) नाम के उत्तर खंड में 'जॉन' (John) विभाग में लिखा है—In the beginning was the word, and the word was with God, and the word was God. इसका अर्थ है सर्वप्रथम एक ध्वनि (शब्द) निकला, वह शब्द ईश्वर का था अपितु वह शब्द ब्रह्मा ही था।"

तुलसी के पौधे की पूजा

जिस प्रकार तुलसी के पौधे को वैदिक परम्परा में सर्वोच्च सम्मान एवं स्थान दिया गया है, उसी प्रकार यहूदी, मुसलमानों एवं क्रिश्चियनों में भी प्राचीनकाल में इसे सम्मान प्राप्त था।

तुलसी के बारे में फॅनी पार्क्स लिखते हैं—"इस पौधे को हिन्दू एवं मुसलमानों में उच्च सम्मान प्राप्त है। यह प्रोफेट में लिखा है कि उसने कहा 'हसन एवं हुसैन इस दुनियां में मेरे दो प्यारे तुलसी के पौधे हैं।" (पृ० ४३, vol-I : 'wanderings of a Pilgrim in Search of the Picturesque' by Fanny Parks, Oxford University Press, London, 1975).

रुद्राक्ष माला

जप की संख्या गिनने के लिए, विश्वभर में काठ की माला या रुद्राक्ष माला का प्रयोग, प्रमाणित करता है कि ईसाई धर्म एवं इस्लाम वैदिक संस्कृति के ही अंश हैं। फॅनी पार्क्स लिखती हैं—रुद्राक्ष की मालाओं का प्रयोग इरान एवं भारत में मुसलमानों और हिन्दुओं में एक ही काम के लिए है।..."यह ध्यान देने की बात है कि ईसाईयों, मुसलमानों एवं हिन्दुओं में माला का प्रयोग समान है। जबकि वे दूर रहते हैं तथा अलग हैं। (पृ० २५८, वही)

अंग्रेजी का रोझरी (rosary) शब्द रुद्राक्ष का ही अपभ्रंश है।

काबा का शिवमन्दिर

फॅनी पार्क्स लिखती हैं 'हिन्दू लोगों का दावा है कि काबा की दीवार में फँसा पवित्र मक्का के मन्दिर का काला पत्थर (संगे अस्वद) महादेव ही है। मुहम्मद ने वहाँ उसकी स्थापना तिरस्कारवश की। तथापि अपने प्राचीन धर्म से बिछुड़कर नए-नए बनाए गये मुसलमान उस देवता के प्रति उनके श्रद्धा भाव को छोड़ न सके और कुछ बुरे शकुन भी दिखलाई देने के कारण नए धर्म के नेताओं को उस श्रद्धाभाव के प्रति आनाकानी करनी पड़ी।" (The Hindoos insist that the Black stone in the wall

of the Kaaba, or sacred Temple of Mecca, is no other than a form of Mahadeo, and that it was placed there by Mohamed out of contempt; but the newly converted pilgrims would not give up the worship of the Black Stone, and sinistrous portents forced the ministers of the new religion to connive at it."

विश्वभर के मुसलमान उसी शिवलिंग का दर्शन करने जितनी बार मक्का जा सकें जाते रहते हैं। इतना ही नहीं वे हिन्दू-परम्परा के अनुसार उसकी सात परिक्रमाएँ भी करते रहते हैं। क्या यह शिवजी के दैवी प्रभाव का चमत्कार नहीं है कि वे काबा में उन मुसलमानों को परिक्रमा करने पर विवश करते हैं जो मुसलमान और किसी मस्जिद में कभी परिक्रमा नहीं करते?

कुरान में वेदों का उल्लेख

कुरान के दसवें अध्याय की सैंतीसवीं आयत में उल्लेख है कि "यह कुरान ऐसा नहीं कि कोई अपनी ओर से गढ़ लाया हो। बल्कि इससे पूर्व आए धर्मग्रन्थों की पुष्टि और भगवान् की किताब का विस्तार ही कुरान में है।"

भगवान् की किताब यानि वेद। अतः कुरान में यह बात स्पष्ट की गई कि कुरान का मूलाधार और स्रोत वेद ही है। अतः कुरान के अर्थ लगाने में जहाँ मतभेद या शंका हो वहाँ वेदों का ही आश्रय लेना योग्य होगा।

१७

विविध धर्मग्रन्थ

अनेक बार लोग विविध धर्मग्रन्थों का एकसाथ उल्लेख कर यह अविचारी मत प्रकट कर देते हैं कि सारे धर्म अच्छे है, कोई भी धर्म कोई बुरा उपदेश नहीं करता अतः सारे धर्मग्रन्थों का समान सम्मान करना चाहिए, किसी धर्म या धर्मग्रन्थ को बुरा नही कहना चाहिए'''इत्यादि-इत्यादि।

सार्वजनिक शान्ति बनाए रखने के लिए विविध गुटों के नेता भले ही ऊपर लिखित प्रकार के वचन बार-बार कह देते हों तथापि उनका वह कथन इतिहास और तर्क की दृष्टि से बड़ा भ्रमपूर्ण और गलत है।

मूल एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि धर्म एक ही होता है। अनेक धर्म हो ही नहीं सकते। धर्म वह होता है जिसमें आचारसंहिता होती है—कि प्रत्येक मानव को सारा जीवन प्रातः से रात्रि तक कैसा आचरण करना चाहिए।

ऐसा आचार धर्म केवल वैदिक प्रणाली में ही कहा गया है। प्रातः सूर्योदय पूर्व जागना, रात को जल्दी सोना, दिन-भर पिताधर्म, पुत्रधर्म, मातृधर्म, राजधर्म आदि अपनी-अपनी भूमिका भली प्रकार निभाना, आहार उतना ही करना जितना शरीरपोषण के लिए आवश्यक हो, परोपकार करना, चराचर विश्व के कण-कण में भगवान् का अस्तित्व पहिचानना, अनासक्ति, अपरिग्रह, दान, तप आदि तत्वों के अनुसार जीवन बिताना, आचार, विचार और उच्चार की अभिन्नता रखना, सत्य ही बोलना, किसी जीव को पीड़ा नहीं देना आदि-आदि।

ऐसी आचारसंहिता ईसाई या इस्लामी धर्मग्रन्थों में अन्तर्भूत नहीं है। अतः वे केवल पंथ या विशिष्ट नेता के नाम से संघटित अधिकार के

अभिलाषी गुट है। ईसाई पंथ की मूल धारणा है कि ईसा ने अपने आपको
इसलिये सूली पर चढ़वा लिया कि सृष्टि के अन्त तक उसके अनुयायी
कहलाने वाले सभी के सारे ही पाप धुल जाएं। इसका अर्थ यह है कि
विश्व-भर के हजारों पीढ़ियों के करोड़ों मानव चाहे जितने पाप करते रहें
वे यदि इतना कह दें कि हे ईसामसीह, मैं तेरा अनुयायी हूँ तो उनके पाप
क्षम्य समझकर उन्हें मोक्ष दिया जाता है।

कुरान का तो कहना ही क्या है? उसके अनेक आयतों में काफरों को
लूटने के, मारने के और छलने के आदेश दिए गए हैं।

उदाहरण कुरान (६:५) की यह आयत पढ़ें, "फिर जब (मियाद
वाले चार) अदब के महीने बीत जावें तो उन (अहद तोड़ने वाले) मुशरिकों
को जहाँ पाओ कत्ल करो और उनको गिरफ्तार करो, उनको घेर लो
और हर घात की जगह उनकी ताक में बैठो। फिर अगर वह लोग (कुफ्र
और शिर्क से) तोबा करें और नमाज कायम करें और जकात दें तो उनका
रास्ता छोड़ दो। अल्लाह माफ करनेवाला बेहद मेहरबान है।" (पृष्ठ ३१९,
कुरान का हिन्दी-अनुवाद, प्रकाशक, भुवन वाणी, १०९ रानी कटरा,
लखनऊ-३)।

कुरान के ऐसे अनेक आदेशों से ही प्रथम अरबों ने और पश्चात् उनके
दबाव से मुसलमान बने ईरानी, तुर्की, अफगान, मंगोल आदि लोगों ने
इस्लाम के नाम पर सारे विश्व में अत्याचार और व्यभिचार का आतंक
मचा दिया। ऐसे कुरान के पठन पर प्रतिबन्ध लगाए जाने सम्बन्धी कुछ
आवेदन भी भारत स्थित कुछ न्यायालयों में दाखिल किए गए हैं।

इसी कारण इस्लाम और ईसाई पंथों को धर्म नहीं कहा जाना
चाहिए। और धर्म न होने के कारण उनकी और उनके साहित्य की वैदिक-
धर्म प्रणाली और धर्मसाहित्य से बराबरी करना या एकसाथ उनका
उल्लेख करना तर्कसंगत नहीं है।

अरबों की हिन्दू प्रणाली

ऊपर दिए उद्धरण में योगायोग से ऐसे दो उल्लेख हैं जिनमें इस्लाम-
पूर्व अरब वैदिकप्रणाली के हिन्दू थे ऐसा निष्कर्ष निकलता है। एक है

अदब के चार महीनों का। वे चार मास जिनमें विशेष संयमों का और
नियमों का पालन करना चाहिए। इस्लामी त्योहार आदि ऋतुबद्ध नहीं
होते। प्रति वर्ष ११ दिन घटाकर त्योहारों की तारीख निश्चित करने की
प्रथा के कारण इस्लामी त्योहार भिन्न-भिन्न ऋतु में घूमते रहते हैं। अतः
उनके लिए संयम के चार मास किसी विशिष्ट ऋतु से सम्बन्धित नहीं हैं।
हर वर्ष विभिन्न ऋतु के चार मास विशेष संयम के समझना बड़ा अटपटा-
सा लगता है। अतः उनका स्रोत कोई और है। वह स्रोत है 'वैदिक'।
वैदिक परम्परा में वर्षाकाल के चार मास चातुर्मास के नाम से प्रसिद्ध हैं।
उनमें लोग विविध व्रत करते रहते हैं। इस्लामी प्रथा में भी चातुर्मास का
उल्लेख और महत्त्व अरब, ईरानी, तुर्क आदि लोगों के प्राचीन वैदिक
प्रणाली का साक्ष्य है।

तोबा करना

'दूसरा उल्लेख है 'तोबा' का। 'तोबा' करना यानी किसी बात से दूर
रहना। उससे परहेज करना। वह न करना। आंग्ल भाषा में वही शब्द
(taboo) 'टॅबू' बन गया है। अर्थ वही है। वह अथर्ववेद का शब्द है।
अथर्ववेद में 'ताबूवं' ऐसा उल्लेख है। ताबूवं यानी निषिद्ध। जिसे करना
नहीं चाहिए। इससे स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि इस्लाम और ईसाई बने
देशों में प्राचीनकाल में अथर्व और अन्य वेद पढ़े जाते थे। अस्तु

सर्व धर्म समान समझने वालों की तर्कपद्धति के कुछ दोष तो हम
ऊपर बता ही चुके हैं। एक यह कि धर्म एक ही हो सकता है—वह है शुद्ध
कर्तव्याचरण का। धर्म कभी भी अनेक नहीं हो सकते। दूसरा दोष है
अधिकार-लालसा से बने गठबंधन पंथों को धर्म समझकर वैदिक प्रणाली
के बराबर मानना।

तीसरा दोष यह है कि विभिन्न आकार-प्रकार और समय के बने सारे
पंथ कभी एक ही तोल, मोल, लाभ और परिणाम के हो ही नहीं सकते।
जैसे वैद्यक शास्त्र में यदि कोई कहे कि कोई भी औषधि लो, सबके परिणाम
समान होंगे; या आहार के बाबत कोई कहे कि दूध-पकोड़े-मकोड़े आदि
जो भी खाओ स्वास्थ्य के लिए सब का परिणाम समान रहेगा तो वह

उतना ही सारे धर्मपंथ या धर्मग्रंथ को
कथन जितना अज्ञानी सिद्ध होगा
समान कहना अतार्किक और सदोष है।
कोई भी गुट या संगठन

एक और ध्यान देने योग्य मुद्दा यह है कि कोई भी गुट या संगठन निजी ग्रन्थ को पवित्र और ईश्वरदत्त कहे तो उस दावे को मान लेना उचित नहीं। मान्यता प्रदान करने की कोई निश्चित कसौटियाँ होती हैं। मुसलमानों के कुरान को और ईसाई लोगों के बाइबल को धर्मग्रन्थों की जो स्वीकृति प्राप्त हुई है वह उनके सैनिक शक्ति के भय के कारण हुई न कि उन ग्रन्थों के गुण के कारण। कुरान और बाइबल में लिखे ब्यौरे का अर्थ जानना तो दूर ही रहा, पूरा कुरान पढ़े हुए मुसलमान या पूरा बाइबल पढ़े हुए ईसाई गिने-चुने ही होंगे। इन गिनेचुने व्यक्तियों में कुरान या बाइबल में उद्धृत वचनों का अर्थ समझने वाले तो और भी कम होंगे। और कुरान तथा बाइबल में वैदिक प्रणाली के अनेकानेक उल्लेख पहिचान सकने वाला तो शायद ही कोई व्यक्ति होगा।

सृष्टि-निर्माण के समय के धर्म ग्रन्थ

जो भी ग्रन्थ ईश्वरदत्त होने का दावा करता है वह सृष्टि-निर्माण के समय मानव को प्राप्त होना आवश्यक है। तभी इसका मार्गदर्शन हर मानव को प्राप्त होगा। बाइबल और कुरान तो सृष्टिउत्पत्ति के करोड़ों वर्ष बाद आए। अत: इन्हें ईश्वरदत्त नहीं माना जा सकता।

बाइबल का उत्तरार्ध तो ईश्वरदत्त होने का दावा भी नहीं करता। न्यू टेस्टामेंट यानी नया खंड कहलानेवाला बाइबल का भाग तो जॉन, ल्यूक, मैथ्यू आदि व्यक्तियों ने कपोलकल्पित रूप से लिखा है। ईसा से अनेक वर्ष पश्चात् बाइबल का नया खंड लिखा गया।

कुरान और बाइबल में दूसरा दोष यह है कि उनमें प्रारम्भ से अन्त तक कोई एक तथ्य या सिद्धांत, प्रमाणों के तर्कसंगत क्रम से समझाकर उनसे कोई बड़ा निष्कर्ष निकाला हो ऐसी भी बात नहीं है। पानी की वेगवान् धारा में जैसे भंवरें निर्माण होकर पानी एक ही स्थान पर घूमता हुआ दीखता है वैसे कुरान और बाइबल में एक ही बात अनेकों बार दोहराई गई है और विभिन्न वचन और विषयों के अव्यवस्थित ढेर लगा दिए गए हैं।

मुहम्मद पैगम्बर द्वारा कुरान स्वर्ग में से पृथ्वी के मानवों को उपलब्ध कराने की जो बात इस्लामी परम्परा में कही जाती है वह भी इसलिए तर्कसंगत नहीं है कि मुहम्मद स्वयं लिखना-पढ़ना नहीं जानते थे। वे अकेले एक अंधेरी गुफा में ध्यानमग्न अवस्था में यदि आकाशवाणी से कुरान की आयतें सुनते थे तो वे स्वयं तो लिख नहीं पाते थे। और कोई व्यक्ति वहाँ था भी नहीं जो मुहम्मद के कथन के अनुसार आयतें उतार सके। ऐसा कोई लिपिक होता भी तो वह भी कुछ लिख नहीं पाता क्योंकि गुफा में अंधेरा भी था और वहाँ कागज, लेखनी आदि कोई लेखन-सामग्री भी नहीं थी। अतः यह कहना कि मुहम्मद द्वारा सुनी गई आयतें पत्थर, ईंट या कवेलू के टुकड़ों से भूमि पर, गुफा के छत पर, दीवारों पर या किसी ईंट या पत्थर पर लिखी गईं और मुहम्मद के मृत्यु के पश्चात् वह सारी सामग्री इकट्ठी की गई—यह बात विश्वासयोग्य नहीं है। इस्लाम की तलवार के डर से उस किवदंती के हाँ-में-हाँ मिलाना साहित्यिक या इतिहासकारों को शोभा नहीं देता।

विश्व भाषा में ही धर्मग्रन्थ होना आवश्यक है

भाषा की भी एक कसौटी है जो ईश्वरीय संदेश मानवों के मार्गदर्शन के लिए दिया गया हो वह ऐसी भाषा में हो जो समस्त मानव बोलते हों। बाइबल और कुरान जब लिखे गए तब तो विश्व में कई भाषाएँ बोली जाती थी। ऐसी अवस्था में किसी एक विशिष्ट भाषा में लिखा बाइबल या अरबी में सुनाया गया कुरान उन्हीं चंद लोगों के लिए हो सकता था जो उस भाषा को जानते थे।

वेदों की बात नितान्त भिन्न है। वेद सृष्टि के प्रारम्भ में दिए गए। तब संस्कृत ही समस्त मानवों की एकमेव भाषा थी। अतः संस्कृत में लिखे वेद सारे मानवजाति के लिए हैं।

इसी कारण वेद और अन्य पंथों के ग्रन्थों में हाथी और चींटी जितना अन्तर है, उनकी कोई बराबरी हो ही नहीं सकती।

विषय-भिन्नता

वेदों का विषय भी औरों से भिन्न है। असीम अनंत सृष्टि की यंत्रणा का विवरण और ८४ लक्ष योनियों में से जीवों की भ्रमणगाथा—यह है वेदों की व्याप्ति। कुरान और बाइबल में इस प्रकार का विशाल और सर्वकष विवरण नहीं है। अतः बाइबल और कुरान तो केवल पंथीय ग्रन्थ हैं जबकि वेद समस्त सृष्टि के, सारे मानवों के युगयुगांतर के शाश्वत ग्रन्थ हैं।

कुरान और बाइबल के पीछे चाहे कितनी भी सैनिक शक्ति क्यों न हो, उससे भयभीत होकर कुरान और बाइबल की आध्यात्मिक श्रेष्ठता का समर्थन करना अनिवार्य नहीं समझा जाना चाहिए। प्रत्येक बात की सत्यासत्यता की कसौटियाँ होती हैं। उन कसौटियों पर खरी उतरनेवाली बात को ही स्वीकार करना चाहिए। शाश्वत धर्मग्रन्थों की क्या कसौटियाँ होती हैं उनका उल्लेख ऊपर किया है। सामान्य जन ऐसा नहीं करते। वे देखते हैं कि अधिकतर लोग क्या कहते हैं। उन्हीं के हाँ-में-हाँ मिलाने की सामान्य प्रवृत्ति होती है। उस परिपाटी को छोड़ प्रत्येक तथ्य का तर्क-संगत विश्लेषण करते हुए सिद्ध इतिहास पाठकों को प्रस्तुत करने का इस ग्रन्थ का ध्येय है।

१८

भाषा सिद्धान्त

वर्तमान पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली में मानवों की भाषाएँ कैसे बनीं इसके सम्बन्ध में अनेकानेक विभ्रम हैं। पाश्चात्य प्रणाली में भाषा शास्त्र को फायलॉलॉजी (philology) कहते हैं। भाषाशास्त्र सम्बन्धी पाश्चात्य विचारधारा की गहराई में यदि कोई उतरे तो वहाँ उसे विभिन्न आधे-अधूरे निराधार कल्पनाओं के ढेर दिखाई देंगे।

सामान्य पाश्चात्य धारणा यह है कि वानर से मानव बना और वह वनमानव पशु-पक्षियों की ध्वनि की नकल करते-करते मानवी भाषा बना पाया। इस पर यदि उन विद्वानों को पूछा जाए कि वह मूल भाषा कौन-सी थी? तो वह कहेंगे उस भाषा का नाम उन्हें ज्ञात नहीं।

कोई पाश्चात्य प्रणाली का विद्वान् यह नहीं बता पाता कि विभिन्न भाषाएँ कैसे बनीं? क्या वे एक भाषा की अनेक शाखाएँ हैं या आरम्भ से ही पृथ्वी के विविध भागों में भिन्न-भिन्न भाषाएँ बनीं। ऐसे मूलगामी प्रश्नों का समाधानकारक साधार और तर्कसिद्ध उत्तर पाश्चात्य प्रणाली के भाषाविज्ञ न दे पाने के कारण वे उतने गहराई में उतरने का कष्ट कभी करते ही नहीं। विद्यालयों में भाषाशास्त्र पढ़ाने का कार्य या सैद्धान्तिक चर्चा आदि वे सब अपने ऊपरी, निराधार मान्यताओं से ही चला लेते हैं।

उनकी अन्य निराधार धारणा यह है कि (Indo-European) इंडो-यौरोपीयन नाम की एक भाषा थी। ग्रीक-लैटिन और संस्कृत उसी की उपभाषाएँ हैं। तत्पश्चात् ग्रीक और लैटिन से जर्मन, फ्रेंच आदि यौरोपीय भाषाएँ बनीं और बंगाली गुजराती आदि भारतीय भाषाएँ संस्कृत से बनीं।

उसी प्रकार अरबी-हिब्रू आदि सेमेटिक वर्ग की भाषाएँ हैं, तमिल,

तेलुगु आदि द्राविडी वर्ग की भाषाएं हैं; अफ्रीका खंड की भाषाएं एक भिन्न वर्ग की है इत्यादि अनेक मनगढन्त सिद्धान्त पाश्चात्य विद्वानों ने वर्तमान भाषाओं का वर्गीकरण करके कामचलाऊ पद्धति से चला दिए हैं। यदि वह सिद्धान्त सही मान भी लिए जाएं तब भी यह प्रश्न रह जाता है कि इंडोयोरोपियन, सेमेटिक, द्राविडी, आफ्रीकी, मंगोली आदि मूल भाषाएं जो बनीं, वे कैसे बनीं ?

उस प्रश्न का उत्तर उन्हें यह देना पड़ेगा कि बन्दर से बने वनमानस जो भारत में थे उन्होंने पशुपक्षियों की ध्वनि की नकल करते-करते जो भाषा बनाई वह संस्कृत कहलाई। ग्रीस, इटली आदि देशों के वनमानवों ने जो भाषा बनाई वह ग्रीक-लैटिन बन गई इत्यादि इत्यादि। इस प्रकार के अनेकानेक विभ्रम पाश्चात्यों में फैले होने के कारण वास्तव में उनका तथाकथित भाषाशास्त्र दोषपूर्ण है।

भाषा स्वाभाविक प्रक्रिया नहीं है

कोई भी ज्ञान, चाहे भाषा का हो या विज्ञान का वह ज्ञानी एवं प्रौढ व्यक्तियों द्वारा कम आयु के अनपढ़ व्यक्तियों को सिखलाए जाने पर ही सीखा जाता है। यदि अनपढ़ व्यक्ति ही अपनी प्रगति आप कर सकते हों तो विद्यालयों में छात्रों को पढ़ाने के लिए श्रेष्ठ उपाधियां पाए हुए शिक्षकों को भारी वेतन देकर नियुक्त करने की आवश्यकता होती ही नहीं।

फ्रेंच, जापानी, तामिल आदि भाषाएं शिशु इसलिए सीख पाते हैं कि उनके माता-पिता वर्षों तक हर घड़ी वह भाषाएं सिखाते रहते हैं।

अकबर का परीक्षण

भाषा-निर्माण मानव स्वयं कभी नहीं कर पाता, यह निष्कर्ष योगायोग से तीसरे मुगल बादशाह अकबर के एक निर्दय प्रयोग से हमें उपलब्ध है।

अपनी मनमानी चलाने वाले अकबर के मन में एक दिन यह प्रश्न उठा कि माताओं की गोद में से दूध पीते बच्चे यदि छीनकर अलग रख दिए जाएं जहां उन्हें मानव का कोई शब्द सुनाई ना पड़े तो वे कौन-सी भाषा बोलेंगे ?

कल्पना ही आने की देर थी। बादशाह की आज्ञा से ऐसे दूध पीते शिशु उनकी माताओं से छीनकर अकबर के कब्जे में रखे गये। बादशाह की आज्ञा थी कि उन बच्चों को एक अलग कोठरी में रखकर भोजन और वस्त्र दिए जाएं किंतु उनके कान पर किसी मानव का शब्द न पड़ पाए। इस प्रकार ७-८ वर्ष वे बच्चे अलग रखे गए। पांच, सात वर्ष के पश्चात् देखा गया तो वे निरे गूंगे निकले।

जंगल में पला मानव शिशु

दूसरा एक उदाहरण पशुओं के संगत में वन में पले एक अनाथ मानव शिशु का है। लगभग तीस वर्ष पूर्व एक बड़ा विचित्र दैनिक समाचार पत्रों में छपा था। उसके अनुसार जंगल में भेड़िये, तरस आदि के संगत में रेंगने वाला एक मानव कुमार किसी ने लखनऊ नगर के समीप जंगल में देखा। तब उसे उठाकर लखनऊ के सरकारी अस्पताल में लाया गया। उसकी शारीरिक जांच करने पर वह लगभग आठ वर्ष का सिद्ध हुआ। वह कुछ बोल नहीं पाता था। जंगली जानवरों की तरह ही उसके मुंह से आवाज निकलती थी। उसके दांत होंठ और मुंह जंगली पशुओं के तरह ही भयंकर दीखते थे। अस्पताल के डॉक्टर, दाई आदि कर्मचारिओं ने उस मानव शिशु को भाषा और मानवी रहन-सहन सिखाने का बहुत यत्न किया किंतु वह शिशु ना मानवी भाषा सीखा ना व्यवहार। इससे हमें कई महत्वपूर्ण सबक मिलते हैं। एक यह कि पशुओं में रहकर और पशुओं के व्यवहार और आवाज की नकल कर मानव पशु ही बनता है। यानी जैसा शिक्षक हो, वैसा शिष्य तैयार होता है। शिक्षक या आदर्श यदि पशु हो तो मानवी बुद्धि का कपाट बंद रहकर मानव पशुकोटि का बर्ताव करेगा। दूसरा सबक यह मिलता है कि बच्चा ३-४ महीनों का होते ही उसकी बुद्धि विकसित होती रहती है। उस समय से ५-७ वर्ष तक यदि विविध मानवी व्यवहार, भाषा आदि के संस्कार उस पर नहीं हुए तो उस मानव शिशु का मस्तिष्क पशु कोटि का ही रह जाता है।

विद्वानों से शिक्षा और दैवी प्रेरणा आवश्यक

यदि मानव अपने आप प्रगति करता रहता तो शिशुओं को विद्यालयों में भेजने की आवश्यकता ही नहीं होती। देखा तो यह जाता है कि वर्तमान रईसों के घरों में आकाशवाणी, दूरदर्शन, दूरभाष, मोटरगाडी आदि अनेकानेक यांत्रिक साधन होते हैं, विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ होते हैं, दैनिक, मासिक, साप्ताहिक आदि साहित्य उपलब्ध होता है, विद्वान् व्यक्ति के घर में आकर विविध विषयों की चर्चा चलते रहते हैं तथापि उस घर का बच्चा विद्वत्ता की छलांग मारकर यकायक १०वीं या बारहवीं कक्षा में नहीं पहुँच पाता। उसे श्रीगणेश और १-२-३ से ही पढ़ाई आरम्भ करनी पड़ती है।

बुजुर्गों और विद्वानों के मार्गदर्शन से विद्या प्राप्त करने पर भी उच्च प्रकार के वैज्ञानिक या अन्य शोध तभी लगते हैं जब उसके पीछे कुछ दैवी प्रेरणा होती है। जैसे किसी पहिए को गतिमान करने के लिए एक धक्का देना पड़ता है या लात मारनी होती है। किसी कारखाने में यंत्र या अन्य वस्तुएँ निर्मित तभी होती हैं जब उसे चलानेवाला कोई उच्च प्रशिक्षित प्रवीण व्यक्ति हो।

विश्व ब्रह्माण्ड पूरी तैय्यारी के साथ आरंभ हुआ

विश्व के सारे जीवजंतु और मानव ईश्वर ने प्रथम तैयार कर इस विश्व की प्रजनन प्रणाली जिस प्रकार आरम्भ कर दी, उसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड की पूरी यंत्रणा का विवरण जिन वेदों द्वारा ब्रह्मा ने मानव को दी उन वेदों की भाषा संस्कृत भी ईश्वर ने मानव को सिखा दी। तथा धन्वन्तरि विश्वकर्मा, गंधर्व आदि के द्वारा १६ विद्याएँ और ६४ कलाएँ मानवों की प्रारम्भिक पीढ़ियाँ सिखलाकर तैयार कीं। भाषा, विद्या, कला आदि श्रेष्ठ, ज्ञानी व्यक्तियों द्वारा ही अज्ञानी व्यक्तियों को सिखलाई जाती हैं। अतः बंदर द्वारा बने वनमानव अपने आप प्रगति करते गए यह पाश्चात्यों की धारणा निराधार है। कई देशों में वनवासी जातियाँ हैं। उनके समीप के शहरी लोगों की सभ्यता, विद्या आदि ऊँचे स्तर की होती है तथापि वे वनवासी जातियाँ अपने आप कुछ भी प्रगति नहीं कर पाती। अतः ईश्वर ने ही शुरू में ब्राह्मण

से शूद्र तक सारे स्तर के (प्रगत-अप्रगत) मानव निर्माण कराकर ही इस विश्वयंत्र को चलाया यह वैदिक धारणा पूर्णतया सही और शास्त्रीय है। इसी कारण प्रथम युग को 'कृत' यानी (ईश्वरद्वारा) तैयार किया हुआ युग कहते हैं।

कृत, त्रेता और द्वापर युग के महाभारतीय युद्ध तक सारे विश्व की जीवनप्रणाली वैदिक और भाषा संस्कृत रही। उन दिनों भी संघर्ष होते ही थे। उन्हीं सुरासुर संग्राम या देव और दैत्यों के संघर्ष की बातें पुराणों में वर्णित हैं। तब भी कुछ बातों में वे सहकार्य भी करते थे। जैसे समुद्रमन्थन में। किंतु सागरमन्थन-से प्राप्त वस्तुओं के बटवारे में फिर मतभेद होकर संघर्ष छिड़ गया। सभी युगों में मानवों का यही हाल रहा। देव और दानवों की संस्कृति एक जैसी ही थी। फिर भी संघर्ष होता रहा। जैसे आजकल रशिया और अमेरिका इन दोनों राष्ट्रों की सभ्यता एक होते हुए भी इनमें तनातनी बनी रहती है। ईरान-इराक दोनों मुसलमान देश होते हुए भी उनमें कई वर्षों से लड़ाई हो रही है। इसी प्रकार गत युगों में वसिष्ठ और विश्वामित्र, हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र, राम और रावण, पांडव और कौरव इनमें संघर्ष होते रहे हैं। भारतान्तर्गत रियासतों में हिन्दू राजा एक दूसरे पर आक्रमण करते थे। तथापि ऐसे संघर्षों में शांति प्रिय प्रजाजनों के जीवन में कोई बाधा नहीं आती थी। दोनों पक्ष के राजा और प्रजा सबकी संस्कृति एकजैसी होती थी और उनमें धर्मयुद्ध की भावना होती थी। अतः युद्धरत सेनाएँ एक मैदान में जाकर युद्ध किया करती थीं। जीता हुआ राजा पराभूत राजा का प्रदेश अपने राज्य में जोड़ लेता था। किंतु इस्लामी आक्रामकों का रवैया ऐसा नहीं था। वे सरहद के अंदर घुसते ही निहत्थे किसान, मजदूर आदि जो भी मिले उन्हीं को मारना, पीटना, लूटना, उसको जबरन् मुसलमान बनाकर उसी के बांधवों के विरुद्ध लड़ने को बाध्य करना, स्त्रियों पर बलात्कार करना, खेत और गाँव के गाँव जला डालना, ऐसा आतंक मचाया करते थे।

गत युगों में संघर्ष होते रहे तथापि समस्त सप्तखंड पृथ्वी पर आस्ट्रेलिया (अस्त्रालय) से अमेरिका तक और यूरोप से अफ्रीका तक सारे देशों में सामाजिक जीवन वैदिक पद्धति का ही था और सारे मानवों की भाषा

संस्कृत ही थी।

द्वापर युग के अन्तिम भाग में महाभारतीय युद्ध छिड़ा। वह घटना ५००० से कुछ अधिक वर्षों की है। यहूदी लोगों का एक प्रयाण संवत् होता है। सन् १९८४ में उनका लगभग ५७४२ वाँ प्रयाण वर्ष था। द्वारकानिवासी यादवों पर स्वप्रांत छोड़ दूर के अन्य-अन्य प्रदेशों में जा बसने का संकट मूसल-उत्पात के कारण ५७४२ वर्ष पूर्व आ पड़ा था इसकी विश्वसनीय गिनती यहूदियों के 'प्रयाण संवत्' के रूप में हमें उपलब्ध है। महाभारत में मूसलउत्पात से हुई यदु लोगों की दुर्दशा का काल उस यदु (यानी यहूदी) लोगों के प्रयाण वर्ष से पूरा मेल खाता है। तथापि इतने महत्त्वपूर्ण प्रमाण को आजतक के इतिहास में दुर्लक्षित किया गया है। ऐसे-ऐसे प्रमादों के कारण हमारा कहना है कि वर्तमान इतिहास संशोधन-पद्धति अधूरी और त्रुटिपूर्ण है। अतः वर्तमान इतिहासकारों को सही संशोधन-पद्धति का प्रशिक्षण देना बड़ा आवश्यक है। इतिहास या पुरातत्त्व आदि विषय लेकर B.A., M.A. या Ph.D. जैसी उपाधि पा लेने से व्यक्ति इतिहासज्ञ कहलाने का अधिकारी होता है यह प्रचलित धारणा सही नहीं है। उस शिक्षा से पाश्चात्यों के रटे-रटाए निष्कर्ष विद्यार्थियों के गले उतारे जाते हैं किंतु वे सिद्धांत सही हैं या गलत यह परखने की क्षमता उनमें जागृत नहीं होती।

वैदिक विश्व साम्राज्य टूट जाने पर सीरिया (सुर), असीरिया (असुर) आदि खंडराज्य निर्मित हुए। आज तक के इतिहास में सीरिया, असीरिया, बैबिलोनिया (बाहुबलिनीय), मेसोपोटेमिया (महिषिपट्टनम्) आदि नामों की कोई ऐतिहासिक या भाषाशास्त्रीय व्युत्पत्ति इतिहासज्ञ या भाषाशास्त्री आदि कोई दे नहीं पा रहे थे। अब हमारे इस ग्रंथ में वह व्युत्पत्ति प्रथमबार दी जा रही है। ऐतिहासिक व्युत्पत्ति यह है कि वैदिक विश्व साम्राज्य टूटने से जो खंडराज्य निर्मित हुए उनके नाम भी वैदिक प्रणाली के ही नाम होना अटल था।

वैदिक साम्राज्य भंग होने से संस्कृत गुरुकुल-शिक्षा की जागतिक व्यवस्था भी टूट गई। अतः हर प्रदेश में पीढ़ी दर पीढ़ी के लोग टूटी-फूटी संस्कृत बोलते रहे और लिखते गए। उससे प्रादेशिक उच्चारण और

प्रांतीय लेखन शैली में टूटी-फूटी संस्कृत बोलते-लिखते विभिन्न भाषाओं का वर्तमान रूप उभर आया। यह है सारी भाषाओं के उद्गम का रहस्य। इस प्रकार वे सारी भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं।

इस हमारे सिद्धान्त की तुलना में वर्तमान भाषा सिद्धांत अनेक उल्टे-सीधे तर्कों का एक गड़बड़ घोटाला ही है। प्रचलित विचारधारा का मूल सिद्धांत है कि वनवासी मानवों ने विविध प्रदेशों में निजी भाषाएँ जैसी-तैसी बना लीं। यदि वह धारणा सही है तो उससे यह निष्कर्ष निकलेगा कि भारत के जंगलों में बंदर से उत्क्रान्त मानव 'त···त···प···प' करते-करते जो भाषा बना पाए वह संस्कृत कहलाई। उसी प्रकार अन्य-अन्य विभागों में चीनी, जापानी, यूरोपीय, अरबी, हिब्रू, आदि अनेक भाषाएँ बन गईं। भारत के वनवासियों का केवल संस्कृत से काम न चला अतः उन्होंने तमिल, तेलगु, कन्नड आदि द्राविड कहलाने वाली ५-७ भाषाएँ बना लीं।

इससे पाश्चात्य विचारधारा के विद्वान् जागतिक भाषाओं के इण्डो-यूरोपियन, द्राविड़ी, आफ्रीकी, सेमेटिक आदि वर्ग बना लेते हैं। ऐसा वर्गीकरण क्यों और कैसे हुआ? उस वर्गीकरण में केवल भारत और यूरोप की भाषाओं का एक वर्ग क्यों हुआ? आदि प्रश्नों का उत्तर पाश्चात्य भाषाविज्ञ भली प्रकार दे नहीं पाते हैं। उनके ऐसे वर्गीकरण में यूरोप के इण्ड भारत के द्रविड़ आदि की भाषाएँ भी कहीं ठीक बैठ नहीं पातीं।

जाति और भाषा दो भिन्न प्रश्न हैं

विश्व में काले (नीग्रो), पीले (चीनी और जापानी), गोरे (यूरोपीय) और श्यामवर्णी भारतीय लोग हैं। अतः इनके वर्णभेद के अनुसार इनकी भाषाएँ भी भिन्न होनी चाहिएँ ऐसा एक अस्पष्ट सिद्धांत पाश्चात्य विद्वान् प्रथम मान लेते हैं। किंतु दूसरे ही क्षण में वे यह भी कह देते हैं कि भारतीय और यूरोपीय भाषाओं में बड़ी समानता है। उस सिद्धांत के विपरीत वे तीसरा तर्क यह भी जोड़ देते हैं कि भारतीय भाषाओं में भी दो वर्ग हैं जिनमें उत्तर और दक्षिण भारत की भाषाएँ परस्पर भिन्न हैं। ऐसे परस्पर विरोधी विभ्रमों के जाल में फँसे पाश्चात्य विचारधारा की परिस्थिति शंकर की जटा में अटकी गंगा जैसी हो जाती है। उन विभ्रमों में से

निकलकर सारी जटिल समस्याओं का समाधान करने वाला कोई सिद्धांत
वह निकाल ही नहीं पाते। यूरोपीय और भारतीय भाषाओं की समानता

पाश्चात्य विद्वानों ने यूरोपीय और भारतीय भाषाओं की शाखाएँ होने से
का कारण यह बतलाया है कि वे दोनों आर्य जाति की शाखाएँ होने से
उनकी भाषाएँ समान हैं। वह निष्कर्ष इसलिए गलत है कि यूरोपीय और
भारतीय यदि एक जाति के होते तो उनके रंग-रूप और शरीरयष्टि में
इतना भेद क्यों? अतः वे एक जाति के नहीं। दूसरा प्रमाण यह है कि आर्य
नाम की कोई जाति थी ही नहीं। आर्य तो वैदिक संस्कृति के नियमानुसार
आचरण करने वाले व्यक्ति का नाम होता है चाहे वह किसी भी प्रदेश का
या रंग का हो। अतः जाति के अनुसार भाषा विभागों की कल्पना निराधार
सिद्ध होती है।

सब की मूल भाषा संस्कृत थी। संस्कृत बोलने-लिखने-सीखने की
प्रथा महाभारतीय युद्ध तक लगातार चलती रही। तत्पश्चात् जो विघटन
हुआ उससे विविध प्रदेशों में रहने वाले समूहों में टूटी-फूटी संस्कृत भाषा
का प्रयोग होते-होते विभिन्न भाषाएँ बनीं।

ब्रिटिश ज्ञानकोष (Encyclopaedia Britannica) में उल्लेख है
कि द्रविड़ भाषाएँ (तमिल, तेलुगु, कन्नड, मलयालम्, गोंडी, कुरुप और
तुलु) कैसे निर्माण हुईं? इस प्रश्न का उत्तर कोई नहीं जानता। तथापि
उस ज्ञानकोष ने आगे यह भी लिखा है कि द्रविड़ भाषाओं की कई विशेष-
ताएँ ऋग्वेद में पाई जाती हैं। इससे हमारे सिद्धांत का समर्थन होता है
कि सभी भाषाएँ संस्कृत के विकृत उच्चारणों से ही बनी हैं। यह सिद्धांत
मान लेने से इतिहास की सारी समस्याएँ हल हो जाती हैं। यह द्रविड़
लोग कौन हैं।

प्रथम पीढ़ी के ईश्वर निर्मित जो द्रष्टा और ज्ञाता थे (द्र=द्रष्टा;
विद=ज्ञाता) उनका द्रविड़ नाम पड़ा। किंतु उनकी और सामान्यजनों की
भाषा संस्कृत ही थी। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र (१७/१८/२९) में दिया
यह वचन देखें—

> अतिभाषातु देवानामार्यभाषा भू भुजाम्।
> संस्कारपाठसंयुक्ता सप्तद्वीपप्रतिष्ठिता॥

इससे हमारे ऊपर कहे कई तथ्यों की एक साथ पुष्टि होती है। एक तो यह कि वेदों की अतिभाषा और लौकिक संस्कृत एक ही देवदत्त मूल भाषा के दो प्रकार थे। अन्तर इतना ही था कि लौकिक भाषा संकुचित थी और उसकी वाक्य-रचना वेदों में प्रयुक्त शब्द रचना से भिन्न थी। उसका भी कारण हमने बतला दिया है कि वेदों की भाषा सांकेतिक और सारे विश्व की यंत्रणा का संक्षेप में यत्र-तत्र वर्णन करने वाली होने के कारण लौकिक संस्कृत से उसी प्रकार भिन्न जान पड़ती है जैसे आधुनिक विमान-यंत्र का विवरण देने वाली आंग्लभाषा किसी सार्वजनिक सभा के वर्णन वाली आंग्लभाषा से भिन्न होगी। ऊपर उद्धृत श्लोक से यह भी स्पष्ट है कि पृथ्वी के सात खंड बड़े प्राचीन काल से बने हैं। और एक बात की भी इस उद्धरण से पुष्टि होती है कि संस्कृत भाषा सातों खंडों में बोली जाती थी।

वेदाधिकार क्यों नहीं?

अतः वेदों की भाषा संस्कृत ही मानवों की मूलभाषा है और वैदिक प्रणाली का समाज-जीवन ही विश्व के सारे मानवों की मूल संस्कृति है। क्योंकि वेद प्राचीनतम हैं, वे सृष्टि-निर्माण के साथ ही मानवों को प्राप्त हुए और विश्व के सारे मानवों को दिए गए हैं।

ऐरे-गैरे व्यक्ति को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं, ऐसी जो धारणा चलती आ रही है उसका उचित कारण यह है कि जिन्हें वेदमुखोद्गत रखने का प्रशिक्षण मिला हो वे ही लोग उसका ठीक उच्चारण और पाठ कर पायेंगे। अन्य अनभिज्ञ व्यक्ति वेदों के स्वरों की और शब्दों की एक गँवार व्यक्ति जैसी-ऐसी खिचड़ी-पचड़ी बना देंगे कि उन वर्णों का मूल सांकेतिक भावार्थ नष्ट हो जाएगा। अतः हमें वेद पढ़ने का अधिकार क्यों नहीं? ऐसे दुराग्रह से आजकल के कुछ जनसमूह जब तोड़-फोड़ या दंगा-फँसाद करते हैं तो उन्हें यह समझा दिया जाना चाहिए कि आजकल वेदों को मुद्रित ग्रंथ मूल्य देने पर कोई भी खरीदकर अवश्य पढ़ सकता है। किसी प्रकार की कोई रोक-टोक नहीं है। किन्तु समझने की बात यह है कि वेद पढ़कर किसी के पल्ले कुछ पड़ता ही नहीं क्योंकि वेद एक जटिल ज्ञानभंडार है जो सारे ही

व्यक्तियों की समझ के बाहर है।

अगस्त्य ऋषि के नेतृत्व में ऋषि-मुनियों का एक जत्था प्रथम बार उत्तर भारत से दक्षिण में उतर आया और उन्होंने सागर किनारे वेदारण्य स्थापन कर उसमें वैदिक गुरुकुल शुरू किया। नौकाओं में आने वाले अरबी व्यापारी उस विद्यालय को 'मदरसा' कहते रहे। उसी से 'मद्रास' यह नाम चल पड़ा।

तमिल बाराखड़ी के उच्चारण वैदिक बाराखड़ी के ही हैं। उसी प्रकार वैदिक संस्कार, त्योहार, मंत्र, दर्शनशास्त्र, आचार-पद्धति आदि सभी द्रविड़ लोगों में पूर्णतया पाए जाते हैं। तथापि तमिल भाषा यदि कुछ बातों में संस्कृत से भिन्न सी लगती है वह इसलिए कि लौकिक संस्कृत से बिछुड़ने के पश्चात् तमिलभाषी लोगों की कई पीढ़ियाँ बीत गई हैं।

१९

समस्त मानवों के आचार-विचार-उच्चारों की जननी—संस्कृत

भाषा-निर्माण और विविध भाषाओं का स्रोत इसके सम्बन्ध में प्रचलित धारणाएँ सभी भ्रमपूर्ण हैं।

वर्तमान में पाश्चात्य सिद्धान्तों को अधिक मान्यता प्राप्त है क्योंकि जिसकी लाठी उसकी भैंस। वे यह समझे बैठे हैं कि ग्रीक-लैटिन-संस्कृत तीनों किसी और प्राचीन भाषा की सन्तान हैं। उस ज्येष्ठ भाषा का नाम वे जानते नहीं। अतः उस काल्पनिक जननी भाषा को वे इण्डो-यूरोपियन ऐसा ऊटपटाँग नाम देकर काम चला लेते हैं। वस्तुतः विश्व-भाषाओं की जननी संस्कृत ही है।

दूसरा भ्रम 'संस्कृत' नाम से निर्माण हुआ है। पाश्चात्य लोग कहते हैं कि 'संस्कृत' यानी अच्छी घड़ी हुई भाषा। अतः वह किसी अन्य और प्राचीन ऊबड़-खाबड़ प्राकृत भाषा से बनाई गई होगी। जैसे निराकार पत्थर से मूर्ति बनती है।

किन्तु वास्तव में 'संस्कृत' शब्द का भावार्थ है कि जो भाषा ईश्वर द्वारा निर्मित होने के कारण अच्छी घड़ी गई है।

पाश्चात्य विचारधारानुसार प्राचीनकाल में मानव जो बर्बर था, वैसी अवस्था में वह संस्कृत जैसी अप्रतिम भाषा कैसे बना पाता?

प्राकृत भाषाओं से संस्कृत बनाई जाने के बजाय संस्कृत के टूट-फूट जाने से ही प्रादेशिक भाषाएँ बनीं। प्राकृत का अर्थ भी 'प्र—आकृत' यानी किसी और मूल भाषा से जिन्हें आकार प्राप्त हुआ है—ऐसा होता है।

संस्कृत भाषा टूट जाने पर उसका व्याकरण भी टुकड़ों-टुकड़ों में अन्य भाषाओं में बँट गया। अतः पाणिनि का व्याकरण ही अन्य सभी भाषाओं को लागू है।

मानव बना ही नहीं पाता। मानव का
संस्कृत जैसी अप्रतिम भाषा
हाथ लगते ही वस्तुएं दूषित होती रहती हैं। इसका स्वयं मानव देता है।
उदाहरणार्थ—वर्तमान कारखानों से जो खाद्य-सामग्री या ओषधि आदि
बनकर तैयार होती है वे अति शुद्ध हैं यह जतलाने के लिए उन पर लिखा
होता है Untouched by any human hand यानी 'किसी भी व्यक्ति
के हस्तस्पर्श बिना बनी वस्तु'।

रॉयल एशियाटिक सोसायटी, (Royal Asiatic Society) लंदन में पढ़े गए एक प्रबन्ध में कहा गया है कि "बड़े आश्चर्य की बात यह है कि जिस भारत के ऊपर कई क्रुद्ध आक्रामकों का आक्रमण होता रहा और जिनके पदचिह्न उस भूमि पर पाए जाते हैं उसी भारत में समय और शासन बदलते रहने पर भी एक भाषा ऐसी टिकी हुई है कि उसके विभिन्न पहलुओं की और वैभव की तो कोई सीमा ही नहीं जो ग्रीक लैटिन जैसी मान्यताप्राप्त यूरोपीय भाषाओं की जननी है; जो ग्रीक से भी लचीली और रोमन् भाषा से भी सशक्त है; जिसके दर्शनशास्त्र की तुलना में पायथागोरस के कथन कल जन्मे हुए शिशु जैसे बालिश लगते हैं; जिसकी वैचारिक उड़ान के आगे प्लेटो की ऊँची-से-ऊँची कल्पनाएँ निष्प्रभ और सामान्य-सी लगती हैं जिसके काव्यों में व्यक्त प्रतिभा अकल्पित-सी है और जिसके शास्त्रीय ग्रन्थ तो इतने प्राचीन हैं कि उनका कोई अनुमान ही नहीं लगता। वह सारा साहित्य इतना विपुल और विशाल है कि उसका तो जितना वर्णन किया जाए कम ही पड़ेगा। उस सारे साहित्य का (विश्व में) अपना एक विशिष्ट स्थान है। वह साहित्य एकाकी निजी बल पर टिका हुआ है। ऐसी उस भाषा में प्रवीण बनना जीवन-भर का लक्ष्य हो सकता है। उसकी पौराणिक कथाओं की तो कोई सीमा ही नहीं है। उसके दर्शनशास्त्र में हर प्रकार की समस्या या पहेली का विचार किया है। तथा वैदिक समाज के प्रत्येक वर्ण और वर्ग के लिए उसके धर्मशास्त्र के नियम बने हुए हैं।"[1]

१. पृष्ठ ३६२ Appendix No. XVI, W.C. Taylor का दिसम्बर का प्रबन्ध, Journal of the Royal Asiatic Society, Vol. II. E Pococke द्वारा लिखित India in Greece ग्रन्थ से उद्धृत।

Indian Antiquities नाम का सात खण्डों का ग्रन्थ सन् १७९२ से १८०० तक प्रकाशित हुआ। उसका सम्पादक है थॉमस् मॉरिस (Thomas Maurice)। उसके चौथे खण्ड के पृष्ठ ४१५ पर उल्लेख है कि "Hollhead का सुझाव है कि वह (संस्कृत ही) भाषा ही पृथ्वी की मूल भाषा है।"

पाश्चात्य प्रणाली के अन्य विद्वान् भी यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो वे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि संस्कृत ही विश्व-भर के मानवों की प्राचीनतम मूलभाषा थी। वह वेदों के साथ ही देवों ने मानवों को भेंट दी। वह भाषा किसी मानव द्वारा बनाई नहीं गई है। अन्य भाषाएँ संस्कृत के ही टुकड़े हैं।

संस्कृत सबकी भाषा

पाश्चात्य प्रणाली के कई विद्वानों ने तथा उनके अनुयायियों ने ऐसी भी एक धारणा फैला रखी है कि संस्कृत केवल रईस व्यक्तियों की भाषा थी। इतिहास के अधूरे ज्ञान पर वह कल्पना आधारित है। हम निजी अनुभव से कह सकते हैं कि कोई भी भाषा, उदाहरण—फ्रेंच या इंग्लिश, राव से लेकर रंक तक सभी बोलते हैं। उनका बोलने का ढंग भले ही भिन्न-भिन्न हो किन्तु भाषा एक ही होती है। उसी आधार पर हम कह सकते हैं कि सृष्टि-उत्पत्ति समय से महाभारतीय युद्ध तक और उस युद्ध से सैकड़ों वर्ष पश्चात् भी प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह राजा था या भिखारी, वृद्ध हो या बालक, स्वामी हो या सेवक, संत हो या दुष्ट, न्यायाधीश हो या आरोपी, सिपाही हो या सैनिक, माई हो या दाई, भंगी हो या बाबू, चोर हो या गृहस्थ और वेश्या हो या सुवासिनी, सारे संस्कृत ही बोलते थे। क्योंकि उस समय अन्य कोई भाषा थी ही नहीं। इसी कारण विविध प्रकार का प्राचीन साहित्य सारा संस्कृत में ही है। यह भी इतिहास का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है जो विपुल प्रमाणों की उपलब्धि पर भी आज तक के इतिहासकार निकाल नहीं पाए। इससे उनमें आत्मविश्वास और गहरे चिन्तन का अभाव दीखता है।

उन प्राचीन संस्कृतभाषी जनसमूहों का अभी भी दूर-दूर के प्रदेशों में

पता लगता रहता है। दैनिक Times of India ने ६ जुलाई, १९८० के अंक में पंजाब विश्वविद्यालय के एक अध्यापक डी० डी० शर्मा का एक वक्तव्य प्रकाशित किया था कि निचले स्तर के लोग भी संस्कृत ही बोला करते थे। हिमालय के पट्टन दरें में बसने वाले चिनाल लोग केवल शब्द-भण्डार में ही नहीं अपितु व्याकरण में भी संस्कृत से मिलती-जुलती भाषा ही बोलते हैं। उसी प्रकार जम्मु गाँव के लोहार भी संस्कृत जैसी भाषा ही बोलते हैं। अन्तर इतना ही है कि उन लोहारों की भाषा चिनालों जितनी शुद्ध संस्कृत नहीं है।

मैक्समूलर का निष्कर्ष

मैक्समूलर नाम का जो जर्मन विद्वान् अंग्रेजी शासन का एक अधिकारी था, उसे संस्कृत ही मानव की मूल भाषा थी, इस तथ्य की कुछ धुंधली कल्पना थी। उसका एक कथन है कि "सारी प्राचीन प्राच्य भाषाओं में संस्कृत की एक बड़ी विशिष्टता है। वह इतनी आकर्षक है और उसकी इतनी प्रशंसा की गई है कि उसके बड़प्पन की बाबत स्त्रियों जैसी मन में असूया की भावना निर्माण होती है। हम भी तो इण्डो-यूरोपीय हैं जो एक प्रकार से आज भी संस्कृत में ही बोलते हैं और सोचते हैं। या यूँ कहा जाए कि संस्कृत मासी जैसी हमें प्यारी है और हमारी माता जीवित न होने के कारण संस्कृत ही हमें माँ जैसी ही लगती है।"[1]

ऊपर दिए वक्तव्य में मैक्समूलर ने जो टेढ़ा-मेढ़ा तर्क प्रस्तुत किया है वह पाश्चात्य विद्वानों के मन में बैठी उलट-पुलट धारणाओं का प्रतीक है। मैक्समूलर की पहली गलती यह है कि वह संस्कृत को अनेक प्राचीन भाषाओं में से एक मानकर संस्कृत को केवल पूर्ववर्ती प्रदेशों तक ही सीमित समझता है। वस्तुतः सारे विश्व के मानवों की एकमेव भाषा लाखों वर्षों तक संस्कृत ही रही है। मैक्समूलर आगे चलकर मान्य करता है कि भारतीयों जैसे यूरोपीयजनों का भी बोलने का, सोचने का माध्यम संस्कृत ही है। ऐसे उल्टे-सीधे भावों से यह निष्कर्ष निकलता है कि

१. पृष्ठ १६३, खण्ड १, Chips from a German Workshop.

मैक्समूलर ने जो ज्ञान ग्रहण किया था उससे उसे यह प्रतीत हो रहा था कि संस्कृत ही सारे विश्व की भाषाओं की और विद्वत्ता की जड़ रही है। तथापि मैक्समूलर में ईसाई, यूरोपीय और ब्रिटिश अधिकारी होने की जो अकड़ मन में गुप्त रूप से वास कर रही थी उससे संस्कृत की प्रधानता का मैक्समूलर का निष्कर्ष ढीला पड़ जाता था।

पिकेट (Picket) नाम के एक अन्य यूरोपीय विद्वान् ने लिखा है कि "संस्कृत सबसे सुन्दर भाषा है और लगभग सभी प्रकार से परिपूर्ण है।"[1]

संस्कृत-आर्ष-साहित्य

वैदिक परम्परा के अनुसार वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत और पुराण यह सारा ऋषियों से प्राप्त है, अतः आर्ष-साहित्य है। जर्मन विद्वान् ऑगस्टस् स्लेगेल को उस वाङ्मय के दिव्यत्व का अनुभव हुआ था क्योंकि उसका कथन है कि "प्राचीन भारतीयों को परमात्मा का ज्ञान था। उनके सारे विचार, कल्पना, सिद्धान्त, विश्लेषण, भाव आदि सब बड़े शुद्ध, सात्त्विक, पवित्र हैं। परमात्मा सम्बन्धी उतना गहरा और स्पष्ट निवेदन अन्य किसी लोगों के साहित्य में नहीं मिलता।"[2]

दूसरे एक ग्रन्थ में स्लेगेल ने लिखा है कि "यूरोपीय लोगों का उच्चतम दर्शनशास्त्र, जो ग्रीक साहित्य में आदर्श तर्कवाद कहलाता है, वह प्राच्य आदर्शवाद के चकाचौंध कर देने वाले प्रकाश की तुलना में इतना फीका दीखता है जैसे प्रखर सूर्यप्रकाश में कोई टिमटिमाता दीया।"[3]

दूसरे एक जर्मन लेखक शोपेनहॉअर ने कहा है कि "सारे विश्व के साहित्य में उपनिषदों जैसा उपयुक्त तथा सत्त्वगुणयुक्त साहित्य नहीं है। मेरे जीवन में उससे मुझे बड़ा समाधान प्राप्त हुआ है और मृत्यु के समय भी वही मेरा सहारा रहेगा।"[4]

१. पृष्ठ १२, Origin of Indo-Europeans, by Picket.
२. Wisdom of the Ancient Indians, by A. Schlegal.
३. History of Literature, by A. Schlegel.
४. पृष्ठ ६१, The Upanishads, Introduction by Schopenhaver.

संस्कृतोद्भव लैटिन भाषा

लैटिन भाषा ग्रीक से निकली है। इस पाश्चात्य सामान्य धारणा के विरुद्ध गॉडफ्रे हिगिन्स् नाम के ग्रन्थकार का मत है कि "लैटिन का उद्गम तो संस्कृत में पाया जाता है क्योंकि लैटिन के कई शब्द ग्रीक शब्दों से बड़े विकृत से लगते हैं।"[1]

KOI≡OM IIA≡ ऐसे ग्रीक में लिखे जाने वाले शब्दों का अर्थ ग्रीक लोग इसलिए नहीं समझ पाते थे कि वे शुद्ध संस्कृत हैं और प्रत्येक धार्मिक विधि के अन्त में ब्राह्मण लोग अभी भी उन शब्दों का उच्चारण करते हैं। हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों की देवभाषा में वे वैसे ही लिखे जाते हैं।

"Causcha OM Pachsa" इस उक्ति में Causcha इच्छित वस्तु होती है। ॐ तो वह प्रसिद्ध अक्षर है जो मन्त्रोच्चारण के आरम्भ में और अन्त में भी उच्चारा जाता है जैसे (ईसाइयों का) 'आमेन्' शब्द है। Pachsa एक लुप्त लैटिन शब्द है जो देवों के या पितरों के सम्मान में अर्घ्य देते समय उच्चारा जाता है और जिसका अर्थ स्थान या कार्य आदि में कुछ परिवर्तन कराना ऐसा होता है। मुझे कोई आशंका नहीं है कि जिन लोगों ने इटली में संस्कृत भाषा लाई उन्हीं और उन्हीं के देश के वे गूढ़ शब्द हैं। ग्रीकों के दैवी रहस्यों के ग्रन्थ जिस समय के हैं उससे कहीं पूर्व हिन्दू धार्मिक प्रथाएँ पक्की बनी हुई थीं। जब ग्रीकों ने निजी इतिहास लिखना प्रारम्भ किया उन्हें पता नहीं था कि उनका मूल स्थान कौन-सा है।

ऊपर दिए गए उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन्त्रोच्चारण के प्रारम्भ और अन्त में ॐ कहना तथा संस्कृत मन्त्रों का उच्चारण ही विश्व के सारे मानवों में होता रहा है।

भारत ही मूलभूमि

'दुर्लभ भारते जन्म'—इस कहावत का भावार्थ है कि वैदिक संस्कृति की जो मूल पावन उद्गम भूमि भारत, उसमें जन्म होना बड़े भाग्य की

१. पृष्ठ ६१, The Celtic Druids, by Godfrey Higgins.
२. वही, पृष्ठ ६४-६५

बात मानी जानी चाहिए। हिगिन्स के संशोधन के अनुसार भी हिन्दू, वैदिक, आर्य, सनातन संस्कृति ही मूलतः सारे मानवों की जीवन-प्रणाली थी। हिगिन्स् लिखते हैं, "सारे देशों में भारत में ही प्रथम मानव-बस्ती हुई और वे भारतीय ही अन्य सारे जनों के प्रजनेता रहे। प्रलय के पूर्व ही भारतीयों की सभ्यता चरम सीमा तक पहुँच चुकी थी। सारे विश्व में फैल जाने से पूर्व मानव की जो श्रेष्ठतम प्रगति हो चुकी थी वह भारत के लोगों में स्पष्ट दीखती थी। यद्यपि हमारे पादरियों ने उस सभ्यता को छुपा देने का बहुत यत्न किए लेकिन वे पादरी उनके कुटिल दाव में अयशस्वी रहे।"[1]

ईसाई लेखकों में गॉडफ्रे हिगिन्स बड़ा निष्पक्षपाती और सूक्ष्म निरीक्षक प्रतीत होता है। वह स्पष्टतया कहता है कि वैदिक संस्कृति और संस्कृत भाषा ही प्राचीनतम है; उनका उद्भव भारत में ही हुआ; उस सभ्यता-स्तर श्रेष्ठ था और पादरियों ने उस सभ्यता के श्रेष्ठत्व को और मूल स्रोत को छिपाए रखने का भरसक यत्न किया।

संस्कृत भाषा का दैवी स्रोत

आंग्ल ज्ञानकोश (Encyclopaedia Britannica) के १९५१ के संस्करण के खण्ड १३ के पृष्ठ ७० पर अप्रत्यक्ष रीति से माना गया है कि संस्कृत दैवी स्रोत की भाषा है। उस ज्ञानकोश में लिखा है कि "कुछ विद्वान् (जिनमें आजकल W. Schmidt भी है) भाषा-उत्पत्ति की प्रचलित (पाश्चात्य) धारणा से सन्तुष्ट नहीं हैं। भाषा-उत्पत्ति के (पाश्चात्य विद्वानों के) विवरण उन्हें न जँचने के कारण वे अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पहली भाषा प्रत्यक्ष भगवान् ने ही मानव को प्रदान करने का चमत्कार किया।"

वैसे देखा जाए तो प्रत्येक मानव का जन्म और मृत्यु ऐसे रहस्य हैं कि जो प्रतिक्षण हजारों की संख्या में होते रहते हैं तथापि मानव उसे चमत्कार नहीं मानता। उन चमत्कारों का मानव इतना आदी बन गया है कि उन्हें वह चमत्कार मानता ही नहीं। वही नियम भाषा को भी लागू

१. पृष्ठ ६६, The Celtic Druids.

है। प्रथम पीढ़ियों को स्वयं भगवान् ने भाषा सिखलाई। तत्पश्चात् प्रत्येक
दम्पत्ति ने और समाज ने बच्चों को भाषा सिखाने का क्रम चालू रखा।
यदि प्रतिदिन के जीवन-मरण के चमत्कार का मानव को आश्चर्य नहीं
होता तो प्रारम्भ में एक ही बार प्रत्यक्ष परमात्मा ने मानव को भाषा-
ज्ञान कराने का जो चमत्कार कर दिखलाया उसे मानव भूल गया हो तो
उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। ऐसी अकृतज्ञता तो मानवी व्यवहार
में पग-पग पर दीखती है।

तर्क से यदि मूल भाषा (संस्कृत) का स्रोत दैवी प्रतीत होता है तो
उस निष्कर्ष को अंधश्रद्धा का दूषण लगाकर अस्वीकार करना उचित
नहीं। यदि समस्त असीम विश्व ही देवनिर्मित है तो उसके अन्तर्गत अन्य
कुछ बातें यदि ईश्वर-निर्मित प्रतीत हुईं तो वह निष्कर्ष शास्त्रीय ही
कहलाएगा। अध्यात्म भी तो एक शास्त्र है। बल्कि अध्यात्म तो शिखर
शास्त्र है क्योंकि इस विश्व में सम्मिलित बातें इतनी ओत-प्रोत और
विविध हैं कि उनका पारस्परिक सम्बन्ध और मूल स्रोत का ज्ञान अध्यात्म
के द्वारा ही किया जा सकता है। अत: भाषा-निर्माण का रहस्य टटोलते-
टटोलते यदि मानव को यह प्रतीत होने लगा कि मूलभाषा निर्मिति भी
ईश्वर द्वारा की जाने के सिवाय कुछ चारा दीखता नहीं तो वह निष्कर्ष
भी विज्ञानमूलक ही माना जाना चाहिए।

दूसरे भी एक पाश्चात्य लेखक ने मूल भाषा को ईश्वरप्रदत्त ही माना
है। वे लिखते हैं कि "बड़ी लम्बी व्यर्थ चर्चा के पश्चात् भाषाशास्त्रज्ञों ने
यह निष्कर्ष निकाला कि भाषा निर्मिति के बारे में कुछ पता ही नहीं
चलता।"[1]

दूसरे एक लेखक का कहना है कि "यदि सारे भाषाविज्ञ किसी एक
तथ्य पर सहमत हैं तो वह यह है कि मानवी भाषा-निर्माण की समस्या का
अभी तक कोई उत्तर नहीं मिला।"[2]

---

१. पृष्ठ ४०, An Introduction to Linguistic Science, New Haven.

२. पृष्ठ १८, The Story of Languages, London.

उसी ग्रन्थ के पृष्ठ ३१५ पर लिखा है कि "भाषा निर्मिति की समस्या
का कोई समाधानकारक हल नहीं हो पाया है।"

इस प्रकार जब भाषाशास्त्र के अध्येता स्वयं भाषानिर्मिति के सम्बन्ध
में निश्चित कुछ कह नहीं पा रहे हैं तो भाषा-निर्माण के सम्बन्ध में जो
वैदिक धारणा है, उस पर अधिक आदर और श्रद्धा से विचार करना
अनिवार्य है।

वैदिक संस्कृति ने तो स्पष्ट रूप से यह कहा है कि परमात्मा ने जब
पूरी पूर्व सिद्धता करके इस विश्वचक्र को चलाया तभी चातुर्वर्ण्यधर्माश्रम
समाज को वेद, वेदों की भाषा संस्कृत और १६ विद्याएँ तथा ६४ कलाएँ
सिखलाकर ही आरम्भ किया। यदि ऐसा नहीं होता तो यह विश्वचक्र
चल ही नहीं पाता।

सारी लिपियों का स्रोत भी समान है

भाषाओं के मूल अक्षर और लिपि के स्रोत ढूंढने में असफल हुए
लेखकों में L. W. King, S. H. Langdon, F. L. Griffith, W. F.
Petrie, L. A. Waddell, E. Burrows, C. L. Woolley, G. A.
Barton, Sir E. A. Wallis Budge, E. Burrows, Hunter,
E. J. Evans ऐसे कई विद्वान् सम्मिलित हैं। बेचारों ने अपने-अपने ग्रन्थों
में भाषा के मूल अक्षर और लिपि का उद्‌गम ढूंढ निकालने का भरसक
यत्न किया तथापि सारे ही हार मान गए। डेविड डिरिंजर नाम के एक
इतालवी लेखक ने The Alphabet नाम की अपनी पुस्तक के आंग्ल
अनुवाद के पृष्ठ १६५ पर यह निष्कर्ष लिखा है कि विश्व में जितनी
लिपियाँ हैं वे सारी एक ही मूल लिपि की शाखाएँ हैं।"

वह लिपि या लिपियाँ ब्राह्मी और देवनागरी ही हो सकती हैं क्योंकि
प्राचीनतम जो भाषा है संस्कृत उसकी वह दो देवदत्त लिपियाँ हैं ऐसा उन
दो लिपियों के नामों से ही स्पष्ट है। खरोष्ट्री लिपि का नाम वैसा नहीं
है। यदि कोई कहे कि देवनागरी लिपि के प्राचीन अवशेष उपलब्ध न होने
के कारण वह अर्वाचीन है तो वह तर्क गलत है। कुछ एक सीमा के पार के
लिखित अवशेष या वस्तुएँ प्राप्त होना बन्द हो जाता है। इसे भी चाहे तो

एक चमत्कार ही समझिए।

The Alphabet ग्रन्थ की भूमिका में Sir Ellis Minns (पृष्ठ XI पर) लिखते हैं कि "इस ग्रन्थ के लेखक ने (यानी डेविड ड्रिजर ने) सर्वांगीण तर्कों द्वारा यह आश्चर्यकारी निष्कर्ष निकाला है कि सारी ही प्रमुख लिपियों के मूल अक्षर एक ही समान स्रोत से बने हैं और अन्य टेढ़ी-मेढ़ी या आधी-अधूरी लिपियों के प्रस्तुतकर्ता भी उन मूल सुष्ट-पुष्ट अक्षरों से परिचित थे। इससे वाचक दंग रह जाता है। इतना स्पष्ट और सर्वग्राही सिद्धान्त कसौटी पर खरा उतरना क्वचित् ही साध्य होता है।

ऋग्वेद समस्त मानवों का साहित्य

ऊपर दिए विवरण के सन्दर्भ में Rev. Morris Philip का यह कथन देखें "Old Testament (बायबल का प्राचीन भाग) का इतिहास और कालक्रम इनका आधुनिकतम संशोधन ध्यान में लेकर हम सरलतया यह कह सकते हैं कि ऋग्वेद यह केवल आर्यों का ही नहीं अपितु सारे मानवों का प्राचीनतम ग्रन्थ है।"[1]

ऊपर के उद्धरण में आर्यों को एक विशिष्ट प्रकार या जातिवर्ण के लोग माना गया है सो ठीक नहीं है। वैदिक नियमानुसार जीवन बिताने वाले सभी आर्य कहलाते थे। नियमों का उल्लंघन अनार्य आचरण कहा जाता था। जैसाकि सैनिक का पेशा स्वीकृत करने वाले अर्जुन ने जब महाभारतीय रण से भाग जाने का प्रश्न उठाया तो भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को चेतावनी दी कि वैसा करना अनार्य आचरण होगा। अतः आर्य और अनार्य, सुर-असुर आदि आचरण-पद्धतियां थीं। वह कोई जन्मजात वर्ग-भेद नहीं थे। अतः पाश्चात्य लेखक जहां आर्य को विशिष्ट जाति मानकर चलते हैं वहां वे गलती कर जाते हैं। उतना प्रमाद छोड़कर ऋग्वेद (या समस्त वेद) संस्कृत भाषा, संस्कृत लिपियां आदि को प्राचीनतम देन कहा है सो सर्वथैव योग्य है।

---

१. पृष्ठ २१३, The Teaching of the Vedas, by Rev. Morris Philip.

संस्कृत समस्त मानवों की भाषा

H. H. Wilson नाम के एक यूरोपीय विद्वान् ने लिखा है कि "जिन-जिन भाषाओं में संस्कृत का रिश्ता दिखाई देता हो वे सभी उस मूल देवदत्त साहित्य के ही अंग हैं जिसे किसी एक मूलस्थान में पढ़कर मानव पृथ्वी के विभिन्न प्रदेशों में जाकर बसते रहे।"[1]

इस प्रकार विविध विद्वानों के विवरणों से और निष्कर्षों से यह निश्चित हो जाता है कि सारा संस्कृत आर्ष साहित्य, संस्कृत भाषा और उसकी दो देवदत्त लिपियां सारे मानवों को दी गई मूल दैवी देन है।

---

१. पृष्ठ c iii, preface to Vishnu Puran, Oxford.

२०

वेद-विज्ञान

प्रदीर्घ इस्लामी और यूरोपीय शासन की परतन्त्रता में शत्रुभाव से किए प्रचार द्वारा हिन्दुओं को इतना हतोत्साह किया गया है कि कई हिन्दू अपने आपको सबसे बुद्धू और पिछड़े हुए मानने लगे। उदा० केवल पाश्चात्य विद्या पढ़े हुए कई हिन्दूजन ऐसा कहकर हिन्दू जाति का मजाक उड़ाया करते थे कि मानवी शरीर में रुधिराभिसरण यानी रक्त का चक्री संचलन कैसे होता है वह यूरोपीय डॉक्टरों के ढूंढ निकालने पर विश्व को पता चला नहीं तो हिन्दू-वैद्यक शास्त्र तो उसके बाबत कुछ जानता ही नहीं था। उसी प्रकार शत्रु द्वारा पढ़ाए गए कुछ हिन्दू-जन समझते रहे कि पृथ्वी गोल है और घूमती है यह भी पाश्चात्य संशोधकों ने बतलाया तब हमें पता चला। ऐसे आत्मघातक प्रचार से अपने ही देश, संस्कृति और बांधवों की निन्दा करने वालों पर हमें तरस आता है।

यदि उनका वह कथन सही होता तो हम अवश्य मान लेते। केवल हमारी उसमें निन्दा होती है इसलिए किसी ऐतिहासिक सत्य को छिपाना हमें भी मान्य नहीं। किन्तु जब अपने आपको बड़े विद्वान् और अधिकारी समझने वाले व्यक्ति अपने गहरे अज्ञानवश कुछ ऊटपटांग प्रचार करें जिससे वैदिक संस्कृति की और हिन्दू-परम्परा की वृथा और अन्यायी निन्दा होती हो तो ऐसे व्यक्तियों की जितनी कड़ी भर्त्सना की जाए उतनी कम ही है। शत्रु-लिखित इतिहास पढ़ने में इस प्रकार बड़ा धोखा होता है।

वे लोग यदि प्राचीन संस्कृत-साहित्य का सम्यक् अध्ययन करेंगे तो उन्हें पता चलेगा कि जीवोत्पत्ति, गर्भधारण आदि से लेकर अणु-विज्ञान तक के सूक्ष्मतम ज्ञान का जो विवरण प्राचीन संस्कृत-साहित्य में प्राप्त है वह वर्तमान अग्रसर समझे जाने वाले अमेरिकी या रशियन शास्त्रज्ञों को अवाक् कर देगा।

वैदिक संस्कृति का उपहास करने वाले व्यक्ति शत्रु-लिखित कुछ ऊपरी एकतरफा बातों को पढ़कर जो मत बना लेते हैं वह सर्वप्रकार से अज्ञानी, अन्यायी और त्याज्य समझा जाना चाहिए।

हम यह पहले ही कह चुके हैं कि वैदिक ज्ञान १६ विद्या और ६४ कलाओं को समेटता हुआ कृतयुग के दैवी स्तर से आरम्भ हुआ। अतः वैदिक संस्कृति के ग्रन्थों में न हो ऐसा कोई ज्ञान है ही नहीं। हाँ, यह हो सकता है कि कृतयुग का वह उच्चतम ज्ञान युगों-युगों के उथल-पुथल में कहीं लुप्त हो गया हो, या टूट-फूट गया हो या प्राचीन ग्रन्थों की वैज्ञानिक भाषा हम कलियुग के व्यक्तियों को आकलन न होती हो।

आक्रामक शत्रु जैसे खड्ग से कत्ल करता है, उसी प्रकार निन्दा और गाली-गलौच से भी परतन्त्र लोगों को हतोत्साह, हताश, निराश करता रहता है। यह एक घिसापिटा आक्रमण-तंत्र है। ऐसी निन्दा सुन-सुनकर कई व्यक्ति पागल हो जाते हैं या आत्महत्या कर लेते हैं। अतः राष्ट्रीय स्तर पर जो हिन्दू निजी संस्कृति को और देश को निकम्मा समझते हैं उनके स्वाभिमान ने एक तरह की आत्महत्या ही कर ली होती है।

भारत पर सन् ७१२ से १९४७ तक लगातार १२३५ वर्ष भीषण और प्रदीर्घ आक्रमण होने के कारण पाश्चात्य प्रणाली में पले, पढ़े बहुत सारे हिन्दू आत्मनिन्दा की बातें सुनाते रहते हैं। ऐसे व्यक्तियों को अपने आपको घोर अज्ञानी समझकर तुरन्त प्राचीन वैदिक साहित्य के अध्ययन में मग्न हो जाना चाहिए।

पायथँगोरस, गैलीलियो, कोपरनिकस, न्यूटन आदि के नामों से यूरोपीय लोगों ने जो ढिंढोरा पीटा है वह यूरोपीयों को भले ही शोभा देता हो हमें शोभा नहीं देता। यूरोपीय लोग दो-चार सौ वर्ष पूर्व इतने पिछड़े हुए थे कि जन्तुओं से रोग होते हैं, पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है आदि प्राथमिक बातें भी उन्हें ज्ञात नहीं थीं। पायथँगोरस नाम ही पार्थ-गुरु का अपभ्रंश है यह भी वे नहीं जानते। यूरोपीय अपप्रचार से हमें यह समझ लेना आवश्यक है कि महाभारतीय युद्ध के अपार संहार के पश्चात् लगभग चार सहस्र वर्ष यूरोपीय लोग गुरुकुल शिक्षा से वंचित रहने के कारण घोर अज्ञान के दलदल में फँस गए। पाश्चात्यों को अब वह ज्ञान

लेना चाहिए कि वैदिक आर्ष-साहित्य में ज्ञान के भण्डार बन्द पड़े हैं। उन्हें आधुनिक विज्ञान की कुंजी के सहाय्य से ज्ञात करने की आवश्यकता है।

खगोल ज्योतिष का ज्ञान

पण्डित रघुनन्दन शर्मा के हिन्दी ग्रन्थ 'वैदिक सम्पत्ति' (पृष्ठ २६०) में उद्धृत वैदिक ऋचाओं में पृथ्वी गोल होने का, आकर्षण शक्ति आदि का उल्लेख है। जैसे—

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परिस्पशो अदधात् सूर्येण॥

ऋग्वेद १०/१४६/१

इसका तात्पर्य है कि पृथ्वी गोल है। उसके आधे भाग पर सूर्य चमकता है और दूसरे अर्द्ध पर अंधेरा होता है। पृथ्वी सूर्य से आकर्षित टंगी रहती है।

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णान् अस्कंभने सविता द्यामदृंहत।

सौरयन्त्र पृथ्वी को परिभ्रमण कराता है। अन्य ग्रह भी उसी प्रणाली से घूमते रहते हैं।

दशलक्षवर्ष प्राचीन रामायण में लिखा है—

गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद्बहिः।
नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ ते तु ज्योतिषु जाज्वलम्॥

(बालकाण्ड, सर्ग ६०)

अर्थात् 'आकाश में अपने सूर्यमण्डल के पार अगणित ज्वलन्त नक्षत्र हैं।

इस प्रकार प्राचीन संस्कृत आर्ष ग्रन्थों में असीम आकाश में दीखने वाले या केवल बुद्धिगम्य ऐसे अनेकानेक रहस्यों का पूरा विवरण है।

वस्तुतः आधुनिक शास्त्रज्ञों ने यदि ध्यानपूर्वक उस साहित्य का अध्ययन किया होता तो उनकी कई शास्त्रीय उलझनों के उत्तर उन्हें मिल गए होते।

प्राध्यापक लुडविग (Ludwig) कहते हैं कि पृथ्वी का अक्ष भूमध्य रेखा के प्रति झुका होने का उल्लेख ऋग्वेद में (१-१०-१२ और १०-८६-४) है। (द्रष्टव्य, बालगंगाधर तिलक का ग्रन्थ Orion, पृष्ठ ५८)।

दूरवीक्षण यन्त्र

एक प्राचीन यान्त्रिक ग्रन्थ शिल्पसंहिता में दूरबीन उर्फ दूरवीक्षण यन्त्र का उल्लेख इस प्रकार है—

मनोर्वाक्यं समाधाय तेन शिल्पीन्द्र शाश्वतः।
यन्त्रं चकार सहसा दृष्टव्यं दूरदर्शनम्॥
पललाग्नौ दग्धमृदा कृत्वा काचमनश्वरं।
शोधयित्वा तु शिल्पीन्द्रो नैमल्य क्रियते च॥
चकार बलवत्स्वच्छं पातनं सुपविष्कृतम्।
वंशपर्वसमाकारं धातुदण्ड-कल्पित्तम्॥
तत्पश्चापदग्रमध्येषु मुकुरं च विवेश सः।

इसका तात्पर्य है—"मिट्टी भून के उससे प्रथम कांच बनती है। एक पोली नलिका के दोनों नुक्कड़ पर वह कांच लगाई जाती है। दूर के नक्षत्रादि देखने में तुरी यन्त्र जैसा उसका उपयोग किया जाता है।

चुम्बक

'वैशेषिक' नामक ग्रन्थ में (५-१-१५) एक प्राचीन शास्त्रज्ञ कणाद लिखते हैं कि चुम्बक की अदृश्य कर्षण शक्ति के कारण लोहा चुम्बक के प्रति खींचा जाता है।

गुजरात प्रान्त के अन्हिलपुर नगर के जैन ग्रन्थालय में संस्कृत भाषा का 'शिल्पसंहिता' नाम का ग्रन्थ है। उसमें ध्रुव मत्स्य यन्त्र बनाने की विधि लिखी है। पारा, सूत्र, तैल और जल आदि सामग्री लेकर तापमापन यन्त्र (थर्मामीटर) बनाने की पद्धति भी उसमें वर्णित है।

'सिद्धान्त शिरोमणि' नामक दूसरे प्राचीन ग्रन्थ में भी एक प्राचीन तापमापनयन्त्र का वर्णन है।

प्राचीन खगोल ज्योतिष के ग्रन्थों में रेत की घड़ी का उल्लेख है। उस समयमापन यन्त्र को मानव, मयूर या कपि का आकार दिया जाता था।

बैरोमीटर

वायु-भार मापन का भी एक यन्त्र प्राचीन काल में होता था। उससे

वर्षा, तूफान आदि का अग्रिम पता लगा लिया जाता था। उसी यन्त्र का वर्तमान यूरोपीय नाम बॅरोमीटर है।

मोटरगाड़ी

'भोजप्रबन्ध' नामक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ में राजा भोज के एक काष्ठाश्व (लकड़ी का घोड़ा) का वर्णन है जो २४ मिनटों में २२ मील अन्तर काटता था। एक पंखे का भी उल्लेख है जिसके स्वयंचलित भ्रमण से हवा लगा करती थी।

विमान

एक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ 'समराङ्गणसूत्रधार' में मयूर जैसे आकार के विमान का उल्लेख है। भागवतम् में शाल्व राजा के विमान का उल्लेख है। शनिस्तोत्र में, रामायण आदि में विमानों के उल्लेख हैं। भरद्वाज-लिखित यन्त्रबोधिनी ग्रन्थ में विमानों के विवरण का एक पूरा अध्याय है। भरद्वाज ऋषि का लिखा 'बृहद्विमानशास्त्र' नामक ग्रन्थ सार्थ और सटीक छपा आज भी बाजार में बिकता है। लगभग १५ वर्ष पूर्व बॅंगलोर नगर के Institute of Science के विमान-विभाग (Aeronautics Division) के पाँच विद्वान् संशोधकों (Research Scholars) का लिखा पत्र मद्रास के प्रान्त दैनिक The Hindu में प्रकाशित हुआ था। उस पत्र में उन विद्वानों ने लिखा था कि "भरद्वाज मुनि द्वारा लिखित बृहद्विमानशास्त्र' ग्रन्थ में वर्णित विविध विमानों में से 'रुक्म' प्रकार के विमान का वहनतन्त्र या उड़ानविधि समझ में आती है। उस विधि द्वारा आज भी विमान की उड़ान की जा सकती है। किन्तु अन्य विमानों का ब्यौरा समझ नहीं आता।

प्राचीन संस्कृत वैमानिक ग्रन्थों का अधिकांश भाग आकलन न होना स्वाभाविक ही है। उस युग के यन्त्रशास्त्र की परिभाषा का ज्ञान कई सहस्र वर्षों के अनवधान और अनभ्यास से लुप्त हो गया है।

ऊर्जा

यन्त्र चलाने के लिए जो ऊर्जा लगती है उसके आठ प्रकार के स्रोत प्राचीन काल के वैदिक शास्त्रज्ञों को ज्ञात थे। वे इस प्रकार हैं—विद्युत-शक्ति से चलने वाले यन्त्रों को 'शक्त्योद्गम' कहा जाता था। जल या अग्नि जैसे प्राकृतिक स्रोतों से चलनेवाले यन्त्र 'भूतवह' कहलाते। बाष्प यानी भाप से संचालित यन्त्र 'धूमयान' कहे जाते थे। हीरे, माणिक जैसे रत्नों से गति प्राप्त करने वाले यन्त्र 'सूर्यकान्त' या 'चन्द्रकान्त' कहे जाते थे। वायुशक्ति से चलने वाले यन्त्र भी होते थे। भूगर्भ तेल (पेट्रोल, डीजल इत्यादि) की ऊर्जा से चलने वाले यन्त्र 'पंचशिखी' कहलाते थे। सूर्यताप से भी यन्त्र चलाए जाते थे। चुम्बकीय शक्ति से भी चलने वाले यन्त्र थे।

पारे की भाप (mercury vapour) की ऊर्जा का उल्लेख प्राचीन शास्त्रीय संस्कृत ग्रन्थों में बार-बार आता है। किन्तु आधुनिक पाश्चात्य प्रभावित शास्त्रज्ञों को वह बड़ा अटपटा-सा लगता है। क्योंकि उनके अनुभव में पारे की भाप बनाने के लिए अत्यधिक तापमान की अग्नि की आवश्यकता होती है अतः वह शक्य नहीं है। हो सकता है कि प्राचीन काल में वह किसी प्रकार शक्य था। क्या वे प्राचीन शास्त्रज्ञ किसी रासायनिक प्रक्रिया के पश्चात् पारे की भाप कम तापमान से बना लेते थे? कौन जाने? पारे को प्रभावी ऊर्जा-स्रोत बनाने की बात तक वर्तमान शास्त्रज्ञ सोच नहीं पाते. तब बताइए प्राचीन वैज्ञानिक-प्रगति कितने ऊँचे स्तर की थी?

शुक्रनीति

बन्दूक, पिस्तौल, तोप आदि आग्नेयास्त्र बनाने की विधि 'शुक्रनीति' नाम के प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थ का विषय है।

यान्त्रिक मानव

रामायणान्तर्गत वर्णन के अनुसार रावण ने युद्ध के अन्तिम दिनों में ऐसी एक कृत्रिम यान्त्रिक सीता बनवाई थी जो राम के नाम से हू-ब-हू

बिलाप भी करती देखी गई थी। आजकल जापान आदि देशों के कार-खानों में बड़े भद्दा और बहुड दीखने वाले लोहे के मानवाकृति कर्मचारी होते हैं। वैसे प्राचीन काल में भी बनते थे ऐसा अनुमान ऊपर उद्धृत रामायण के उल्लेख से निकाला जा सकता है।

दूरभाष

'वैदिक सम्पत्ति' ग्रन्थ में (पृष्ठ ३१५) पर लेखक पण्डित रघुनन्दन शर्मा ने उल्लेख किया है कि निजाम हैदराबाद रियासत के पत्थरघाटि गाँव के एक निवासी डॉक्टर मुहम्मद कासीम कहलाया करते थे। वे ब्राह्मण-कुल से मुसलमान बने थे। वह ब्राह्मण-कुल बीजापुर शासकों का राजपुरोहित कुल था। अतः उनके घर में प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का बड़ा भण्डार था। उसमें से एक ग्रन्थ में दूरभाष की यन्त्रणा का विवरण था और दूसरे में मृत-शरीरों को सुरक्षित रखने की विधि वर्णित थी।

शुक्रनीति (अध्याय १, श्लोक ३६७) में एक विधि का वर्णन है जिससे २० सहस्र मील दूरी पर चलनेवाली बातों का पता राजा को उसी दिन लग जाता था।

पृथ्वी का घेर लगभग २५००० मील का है। अतः वर्तमान युग में जैसे दूरदेश में रहनेवाले व्यक्ति एक-दूसरे से दूरभाष, दूरदर्शन, आकाश-वाणी आदि द्वारा बोल लेते हैं और एक-दूसरे को देख भी पाते हैं उसी प्रकार राजा भोज के पूर्व भी शक्य था।

'अयुत श्रवशजां वार्ता हरेदेकदिनेन वै' ऐसा वह उल्लेख है।

दूरदर्शन

महाभारतीय युद्धारम्भ के पूर्व अंधे धृतराष्ट्र को युद्धक्षेत्र का प्रति क्षण का जो प्रत्यक्ष आँखोंदेखा हाल राजप्रासाद में बैठकर संजय ने सुनाया वह दूरदर्शन यन्त्र के बिना शक्य ही नहीं था। आजकल हम विदेशों में चले क्रिकेट, फुटबाल, टेनिस आदि खेलों की स्पर्धा घर बैठे प्रत्यक्ष देख सकते हैं और उस खेल का दिया जाने वाला विवरण सुन सकते हैं। वही धृतराष्ट्र ने किया। अतः उस प्राचीन काल में (यानी ईसापूर्व वर्ष ३१३८ में) भी दूरदर्शन आदि यन्त्र थे।

गीता में भगवान् कृष्ण ने 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' ऐसा कहा है। घूमने वाले यन्त्रों की उपमा तभी दी जा सकती थी जब ऐसे यन्त्र नित्य परिचित होते।

अर्जुन को विराट् रूप बताने के पूर्व 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' ऐसा भगवान् कृष्ण ने कहा है। इससे भी यह पता लगता है कि मानवी चक्षु और कर्ण की सीमित क्षमता ध्यान में लेते हुए विविध विशाल या दूरदृश्यों का ज्ञान कराने वाली यन्त्रणा अतिप्राचीन काल में भी होती थी।

चन्द्रमा से जल

एक प्राकृतिक या कृत्रिम चन्द्रकान्तमणि नाम का हीरा चन्द्रमा के प्रकाश से औषधि-जल तैयार करने में प्राचीन काल में सहायकारी होता था। वह जल विशिष्ट रोगियों को दिया जाता था।

सुश्रुत का श्लोक ४५/२७ उस जल का उल्लेख इस प्रकार करता है—

रक्षोघ्नं शीतलं हादि जारदाहविषापहम्।
चन्द्रकान्तोद्भवम् वारि पित्तघ्नं विमलं स्मृतम्॥

बैटरी

मेसोपोटेमिया (आधुनिक इराक आदि प्रदेश) से प्राप्त २००० वर्ष प्राचीन बैटरी (battery) जिससे अभी भी ऊर्जा-निर्माण की जा सकती है। यह चार-पाँच वर्ष पूर्व यूरोप के कई देशों में प्रदर्शित की गई थी। उस समय न तो इस्लामी और न ही कोई ईसाई शिक्षा उपलब्ध थी। प्राचीन टूटी-फूटी गुरुकुल शिक्षा ही उस समय प्रचलित थी। उस समय की बैटरी (ऊर्जा यन्त्र) संस्कृत यन्त्रग्रन्थों से ही बनाई जा सकती थी। वह इतनी प्रभावी थी कि दो सहस्र वर्ष पश्चात् भी उससे विद्युत-प्रवाह निर्माण किया जा सकता है।

Current

विद्युत-प्रवाह के लिए आंग्ल-भाषा में जो current शब्द है, उसका

वर्तमान उच्चार 'करंट' किया जाता है। तथापि वह उच्चार विकृत है। आंग्ल मूलाक्षरों में 'C' का उच्चार 'स' होने के कारण 'current' शब्द का उच्चार 'सरन्त' करने पर तुरन्त पता चलता है कि वह मूलतः 'सरन्त' ऐसा संस्कृत शब्द है। विद्युत्प्रवाह सरिता-जैसे बहता रहता है अतः उसे सरन्त कहना अति योग्य है। उस शब्द से पता लगता है कि विद्युत्प्रवाह का निर्मिति-ज्ञान प्राचीन काल में भी था। यदि ऐसा नहीं होता तो उसे 'सरन्त' नाम कैसे दिया जा सकता था।

विद्युत्शक्ति 'हॉर्सपॉवर' यानी 'अश्वशक्ति' अंकों से नापी जाती है। प्राचीन वैदिक समाज में अश्वशक्ति का विपुल प्रयोग होता था। अतः अश्वशक्ति भी उसी प्राचीन संस्कृत-परिभाषा का ही एक अंग है।

आकाश में जो बिजली कड़कती है वह और बादल पृथ्वीस्तर से १२ योजन दूर ऊपर आकाश में होते हैं ऐसा प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों का यह उल्लेख देखें—

भूमेर्बहिः द्वादशयोजनानि भूवायुरम्बाम्बुदविद्युत्ताद्याम्।

सूर्यबिम्ब के धब्बे

सूर्यबिम्ब पर दीखनेवाले धब्बों का उल्लेख रामायण में भी मिलता है। रामचन्द्रजी लक्ष्मण को कहते हैं (युद्धकाण्ड २३/६)

हृस्वो रूक्षोऽप्रशस्तश्च परिवेषस्तु लोहितः।
आदित्ये विमले नीलं लक्ष्य लक्ष्मण दृश्यते॥

अग्निपूजा

प्रत्येक वैदिक विधि में अग्निपूजा या यज्ञ अवश्यमेव होता था। कई अग्निहोत्रियों के घरों में अग्नि २४ घण्टे सुलगी रहती थी। ये ही लोग तपस्वी भी कहलाते थे। तपस्या से वे सिद्धि भी प्राप्त करते थे। तप यानी तपना हो सकता है कि प्राचीनकाल में संस्कृत यन्त्रग्रन्थों के साहाय्य से वैज्ञानिक अग्नि द्वारा विविध प्रक्रिया द्वारा संशोधन करते-करते तप जाते थे, अतः तपस्वी कहलाते। आजकल की आंग्ल प्रणाली में scholar, researcher, scientist, inventor, discoverer जिसे कहते हैं वही

तपस्वी शब्द का प्राचीन अर्थ था। क्योंकि वे व्यक्ति एकान्त में ध्यानमग्न रहकर अग्नि द्वारा विविध क्रिया-प्रक्रिया करते-कराते बड़े-बड़े वैज्ञानिक शोध लगाया करते।

अग्नि में हवन करने से वातावरण भी शुद्ध होता है, हानिकारक कीटक, जीवजन्तु नष्ट होते हैं और वर्षानुकूल वातावरण तैयार होता है।

ऐसी अग्नि-पूजा से मानसिक, आध्यात्मिक और सामाजिक वातावरण भी शुद्ध होता रहता है।

आरती उतारने से और नजर उतारने से भी ऐसे अनुकूल परिणाम होते हैं। पृथ्वी जैसे सूर्य को चक्कर लगाती है उसी प्रकार मूर्ति की परिक्रमा करना, आरती उतारना, नजर उतारना, विवाह में पति-पत्नी द्वारा यज्ञ के सात फेरे करना इन सब बातों से फेरों के आध्यात्मिक परिणाम, पवित्रता और दैवीशक्ति का परिचय मिलता है। चन्द्रमा के एक फेरे से स्त्रियों का मासिक धर्म आना और चन्द्रमा के १० फेरों से गर्भ में बच्चे का पूरा विकास होना आदि उदाहरणों से परिक्रमा की महत्ता सिद्ध होती है।

अंग्रेज, फ्रेंच, पोर्चुगीज आदि पाश्चात्य लोग भारत में लगभग सन् १६०० से आने लगे। उस समय भारत की वस्तुएँ ही सारे विश्व में बिकती थीं। यूरोपीय लोगों ने व्यापार करने के बहाने प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थ चुराकर या मोल लेकर यूरोप भिजवाए और लगभग सन् १८०० से उनकी यान्त्रिक प्रगति होने लगी। यह कोई काकतालीय योगायोग नहीं था। उनके यन्त्रों का माल भारत में और अन्यत्र बेचा जा सके इसलिए ढाका की मलमल आदि बुनने वाले कारीगरों के हाथ तक अंग्रेजों ने कटवा दिए। अतः यूरोप की यान्त्रिक प्रगति का श्रेय यूरोपीयों की बुद्धिमानी को नहीं है बल्कि भारत से उन्होंने जिस धूर्तता से संस्कृत-ग्रन्थ चुराकर निजी यान्त्रिक प्रगति की, उस लुटेरी वृत्ति को है।

२१

प्राचीन आणविक शक्ति केन्द्र

जैसे-जैसे एक-एक नई पीढ़ी आगे आती है वैसे-वैसे प्राचीन पीढ़ियों का इतिहास अपने आप धुंधला होते-होते मिट जाता है या भुला दिया जाता है। अतः प्राचीनतम इतिहास को बार-बार खोजकर दुबारा लिखना पड़ता है। प्रत्यक्ष आँखों से हमें सीमित अन्तर तक दिखाई देता है किन्तु दुरबीन, दूरदर्शन, पुस्तकें, विद्वानों के व्याख्यान आदि से अदृश्य बातों का भी हमें ज्ञान होता रहता है। इतिहास की भूमिका भी वैसी ही है कि सामान्य व्यक्ति की स्मृति के पार की बातें इतिहास द्वारा उसे ज्ञात करानी पड़ती हैं।

किन्तु अज्ञात बातों का पता लगवाना हर एक इतिहासकार के बस की बात नहीं है। उदाहरणार्थ ईसाई, मुसलमान और कम्युनिस्ट आदि लोगों का मन निजी पंथिक भावनाओं के कारण इतना परतन्त्र और जकड़ा हुआ होता है कि उन्हें प्रमाण सामने होने पर भी दीखते नहीं। या दिख भी गए तो उनका अर्थ वे मनमाना और ऊटपटांग लगवा लेते हैं। जैसे इटली देश में उत्खनन में पाए गए प्राचीन घरों में रामायण कथा की कुछ घटनाएँ चित्रित की गई हैं तथापि वहाँ के लोग सारे ईसाई बनने के कारण वे उन चित्रों को रामायण की घटनाएँ समझते ही नहीं। बाली ने सुग्रीव की पत्नी का हरण किया था अतः दोनों में कलह हो रहा है, इस आशय के चित्र में बताए दो वानरप्रमुखों को इटालवी विद्वान् घोड़े कहकर टाल देते हैं। आँखों को स्पष्ट दीखने वाली बात का भी टेढ़ा अर्थ लगाने वाले व्यक्ति इतिहासकार तो क्या निष्पक्ष, सुशिक्षित विद्वान् भी नहीं कहे जा सकते।

अतः इतिहास संशोधन में प्राचीन बातों का शोध लगाने के साथ-

साथ उन बातों का सही अर्थ और सम्बन्ध समझने की क्षमता का होना आवश्यक होता है।

परीक्षा में छात्रों को टूटा वाक्य देकर बीच के निकले हुए योग्य शब्द भरने होते हैं। वैसे ही इतिहास के उथल-पुथल, टूटे-फूटे चिह्नों को जोड़कर प्राचीन काल का सही और पूरा ब्योरा जोड़ना पड़ता है।

क्या शास्त्रीय प्रगति प्रथम बार हुई है?

इतिहास की घटनाएँ लगभग वैसी की वैसी ही विविध युगों में बार-बार होती रहती हैं। इसी को आंग्ल भाषा में history repeats itself ऐसा कहा जाता है। अतः वर्तमान समय में हम जिन शोधों को आश्चर्यकारी प्रगति समझते हैं वैसी प्रगति प्राचीन युगों में भी हुई होगी।

दूसरा एक विचार यह है कि जिस यान्त्रिक युग को हम आश्चर्यकारी प्रगति समझते हैं वह लगभग गत १७५ वर्षों में ही हुई है। अब सोचने की बात यह है कि मानवी सभ्यता का इतिहास जब लगभग दो अरब वर्ष का है तो उसमें उल्लेखनीय शास्त्रीय और वैज्ञानिक प्रगति के ऐसे १७५ वर्ष, १७५ वर्ष के कई समय खण्ड कई बार आ चुके होंगे? और उस प्राचीन वैज्ञानिक प्रगति के उल्लेख हमें विपुल मात्रा में रामायण-महाभारत में मिलते भी हैं।

पुरातत्त्वीय आक्षेप युक्त नहीं हैं

प्राचीन काल के यन्त्र, शस्त्रास्त्र आदि प्राप्त नहीं होते अतः उस समय वैज्ञानिक प्रगति नहीं हुई थी ऐसा आरोप युक्त नहीं। महाभारतीय युद्ध के समय तक विश्व बड़ा उन्नत था। उस युद्ध में हुई अपार हानि से उस सभ्यता के सारे चिह्न जलकर खाक हो गए। उसके पश्चात् अब पाँच सहस्र वर्ष भी बीत गए। इतने वर्ष तक अवशेष बचेंगे भी कैसे? कुछ यान्त्रिक पुर्जे बचे भी हों तो जंग खाने से और मिट्टी में दबे रहने के कारण वे पहचाने भी नहीं जा सकते। प्राचीन बैटरी जैसे कुछ शास्त्रीय प्रगति के अवशेष मिलते भी हैं तो उनकी जानकारी बहुत लोगों तक पहुँच नहीं पाती।

वैसे भी पुरातत्त्वीय अवशेषों को अत्यधिक महत्त्व देने वालों से यह भी पूछा जा सकता है कि क्या आपने सारी भूमि आवश्यक गहराई तक खोद ली है, जो आप कहते हैं कि कहीं कुछ अवशेष नहीं है ?

और एक आक्षेप यह है कि प्राचीन अवशेष सागर, सरोवर या सरिता में डूब गए हों।

और एक पर्याय यह हो सकता है कि महाभारतीय यन्त्र और अस्त्रशस्त्रों में अतिसूक्ष्म इलक्ट्रॉनिक्स (electronics) पुर्जे रहे हों जो कालान्तर में नष्ट हो गए हों। वर्तमान युग में हमारा अनुभव है कि प्रारम्भ में जो यन्त्र बड़े-बड़े और भारी धातु के पुर्जों वाले बनते थे वे कालान्तर में सूक्ष्मतम और हलके-फुलके प्लास्टिक, सिलिकॉन आदि पदार्थों के बनने लगे। वे हजारों वर्ष तक ना टिकने के कारण हमें प्राप्त नहीं है।

कई बार अवशेष प्राप्त भी होते हैं तो वे चुपके से दूसरे स्थान पर भेज दिए जाते हैं या नष्ट कर दिए जाते हैं। जैसे आंग्ल और इस्लामी शासन में मन्दिरों को मस्जिद और कब्रें कह डालने की होड़ में हिन्दू मूर्तियाँ, शिलालेख आदि प्राप्तिस्थानों से दूर ले जाए गए ताकि वे इमारतें हिन्दू-मूलक थीं, इस बात के प्रमाण नष्ट या लुप्त हो जाएँ।

बाढ़, भूकम्प, शत्रु के हमले, लूट, चोरी ऐसे अनगिनत प्रकारों से पुरातत्त्वीय प्रमाण या तो नष्ट होते हैं या उनसे ग़लत निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। अतः ऐतिहासिक संशोधन में दस्तावेज, पुरातत्त्व, स्थापत्य आदि अनेक पहलुओं का और सबूतों का विचार किया जा सकता है किन्तु किसी एक ही पहलू के प्रमाणों को अत्यधिक महत्त्व देना ठीक नहीं होगा।

भूगर्भशास्त्रियों ने एक मजेदार तथ्य के प्रति हमें जागृत किया है कि कई स्थानों पर प्राचीन चट्टानें भूगर्भ में ऊपरले स्तर पर हैं तो अर्वाचीन चट्टानें उनके नीचे दब गई हैं। यदि ऐसा परिवर्तन भूगर्भ के अन्दर होता रहता है तो कई सभ्यताओं के चिह्न लुप्त हो गए होंगे और कई सभ्यताओं के चिह्न ऊपरले स्तर में पाए जाने के कारण उनका कालक्रम आधुनिक समझा गया होगा। अतः केवल पुरातत्त्वीय प्रमाणों पर पूरा भरोसा नहीं रखना चाहिए।

प्राचीन वैदिक यान्त्रिक प्रगति के पुर्जे तो मिलते नहीं जबकि आधुनिक युग के पाश्चात्य यन्त्रतन्त्र यत्रतत्र दीखते हैं ऐसे युक्तिवाद से आजकल के कई विद्वान् वैदिक संस्कृति केवल खेतीवाड़ी के स्तर की ही रही, ऐसा कुछ प्रतिपादन करते हैं जो उचित नहीं है।

प्राचीन वैदिक शास्त्रज्ञ

यूरोपीय गणितज्ञों के सैकड़ों वर्ष पूर्व भास्कराचार्य ने Differential Calculas नाम की गणना-विधि चलाई थी। आर्यभट्ट ने वर्गमूल और घनमूल विधि, अंकवर्धन क्रममान गणन (arithmatical progressing summation of series) और pye (पाय) की संख्या आदि गणिति-तन्त्रों का प्रयोग किया था। ईसापूर्व १०० वर्ष आर्यभट्ट का काल बतलाया जाता है। किन्तु हो सकता है कि गणितज्ञ आर्यभट्ट और भी प्राचीन हों, क्योंकि पाश्चात्य विद्वानों के संकुचित कालभाव के कारण उन्होंने प्राचीन व्यक्ति एवं घटनाओं का काल जहाँ तक बन सके आगे ही आगे खींचने का यत्न किया है। यूलर (Euler) नाम के यूरोपीय गणितज्ञ को जिस indeterminate equation of the second degree का श्रेय दिया जाता है, वह विधि वैदिक परम्परा में ब्रह्मगुप्त के समय में भी भारत में ज्ञात थी। ब्रह्मगुप्त का समय भी कितना प्राचीन है कौन जानता है।

खगोल ज्योतिष के क्षेत्र में तो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड और हमारे सूर्य-मण्डल की आयु की चर्चा वैदिक अतीत में बार-बार हुआ करती थी। आइन्स्टीन के हजारों वर्ष पूर्व व्यास जी ने दिग्देशकालभेद यानी समय और अन्तर की शून्यता का विवरण दिया है। अतः विविध वैज्ञानिक शोध लगाने के पाश्चात्यों के दावे निराधार हैं। जैसे दूर की वस्तु दिखाई नहीं देती किन्तु पास की वस्तु की पूरी जानकारी होती है उसी प्रकार इतिहास में भी प्राचीन घटनाएँ और व्यक्ति भूले जाते रहते हैं और उनके स्थान पर आधुनिक व्यक्तियों को ही सारा श्रेय दिया जाता है। पाठ्यपुस्तकों में भी पुराने संस्करण अदृश्य होते रहते हैं और उनके स्थान पर नये लेखकों की नई पुस्तकें आती रहती हैं। कृतयुग से कलियुग तक यही होता आ रहा है।

ज्ञान बढ़ा नहीं अपितु उतरता रहा है

पाश्चात्य विचारधारानुसार जंगली अवस्था से वर्तमान चन्द्रयान बनाने का ज्ञानशिखर मानव चढ़ आया है। किन्तु इस ग्रन्थ में हमने यह दर्शाया है कि कृतयुग में हर क्षेत्र में जो दैवी स्तर का उच्चतम ज्ञान था वह धीरे-धीरे कम-कम और घटिया बनता गया। महाभारतीय युद्ध के पश्चात् तो बचाखुचा शास्त्रीय उच्चस्तरीय ज्ञान भीषण संहार से यकायक लुप्त हो गया। वही कुछ सीमा तक गत २०० वर्षों में यूरोपीय लोगों ने फिर प्राप्त कर लिया है।

ग्रीकों से सभ्यता आरम्भ नहीं हुई

पाश्चात्य लोगों का प्रभाव वर्तमान समय में बढ़ने के कारण उन्होंने यह धारणा फैला दी है कि ग्रीक लोगों से ही मानवी या यूरोपीय सभ्यता का आरम्भ हुआ। यूरोप में भले ही ग्रीक सभ्यता प्राचीन रही हो किन्तु उससे यह निष्कर्ष निकालना कि ग्रीक सभ्यता मानवजाति की प्राचीनतम सभ्यता है, योग्य नहीं है। किन्तु इससे इतिहास की एक सामान्य गलती स्पष्ट हो जाती है कि विश्व में जिस किसी का पलड़ा भारी होता है वह निजी ढंग से इतिहास लिख देता है। जैसे पाश्चात्यों का प्रभाव बढ़ गया तो उनकी सभ्यता का स्रोत, ग्रीस सारे मानव की सभ्यता में प्राचीनतम घोषित कर दिया गया। ऐसे निराधार निष्कर्षों से भी संशोधकों को सावधान रहना चाहिए। ग्रीकों से भी पूर्व वैदिक विज्ञान बड़ा उन्नत था। गॉडफ्रे हिगिन्स् लिखते हैं, "विज्ञान में तो ग्रीक लोग शिशु जैसे (अज्ञानी) थे। प्लेटो, पायथॅगोरस आदि जैसे उनके विद्वज्जन जब पूर्व की ओर (यानी भारत में) गए ही नहीं थे तो उन्हें विज्ञान की जानकारी होती भी कहाँ से? विज्ञान और अन्य विद्याओं में वे प्राच्य लोगों से (यानी भारतीयों से) पिछड़े हुए थे। उन्होंने या तो अज्ञानवश सारी गपड़-शपड़ कर रखी है या जानबूझकर (विविध विद्याओं के बाबत) घोटाला कर रखा है।"[1]

१. पृष्ठ ११२, The Celtic Druids, लेखक Godfrey Higgins.

दिग्निर्णय-यन्त्र (Compass)

हिगिन्स् का कथन है कि "सागर पर्यटकों को प्राचीनकाल से दिग्निर्णय करने वाला कम्पास यन्त्र उपलब्ध था। वास्तव में वह कभी लुप्त हुआ ही नहीं था। चीनी और अन्य प्राच्य पर्यटकों को 'कम्पास' ज्ञात था। पाश्चात्यों ने उन्हीं से कम्पास का उपयोग सीखा। मार्कोपोलो चीन से वैसा एक यन्त्र यूरोप में लाया और लगभग उसी काल में वॉस्कोडिगामा ने भी वैसा ही यन्त्र भारत से प्राप्त किया। इस प्रकार का शास्त्रीय ज्ञान प्राच्य प्रदेशों में था इसका विवरण महाशय ड्यूटेन्स् (Monsieur Dutens) लिखित Sur Les Deconverte des Anciens attributes aux Modernes ग्रन्थ में दिया है।"[1]

दूरवीक्षण दर्पण

कई लोगों की धारणा है कि ड्र्‌इडस् आदि प्राचीन लोग दूरवीक्षण दर्पण (टेलिस्कोप) का प्रयोग करते थे। स्ट्रैबो के ग्रन्थ में उल्लेख है कि Heliopolis (यानी सूर्यपुर) के सूर्यमन्दिर के शिखर पर एक बड़ा दर्पण लगा हुआ था। उससे सूर्य की किरणें परावर्तित करके मन्दिर प्रकाशित किया जाता था। उससे भी एक बड़ा दर्पण (Alexandria) अलक्ष्येन्द्र नगर के दीपगृह पर लगाया था जिससे दूर से आनेवाली नौकाओं की प्रतिमा दीखती थी जबकि वे नौकाएँ सामान्य दृष्टि को दिखाई नहीं पड़ती थीं। डिओडोरस सिक्यूलस (Diodorus Siculus) लिखता है कि कॅलटॅक के पश्चिम के एक द्वीप में ड्र्‌इडस् द्वारा लगाए एक दर्पण-यन्त्र से सूर्य और चन्द्रमा बड़े समीप से दीखते थे। प्राचीन लोगों को पता था कि आकाशगंगा में तारकाओं के पुंज के पुंज हैं। चन्द्रमा पृथ्वी के निकट दिखाई देने का उल्लेख एक प्राचीन कविता में है जो ध्यान देने योग्य है। Origines ग्रन्थ के लेखक सर विलियम ड्रमाण्ड (Sir William Drummond) कहते हैं कि "ईरान के मूर्तिभंजकों (मुसलमानों) ने जो

१. पृष्ठ ११३, The Celtic Druids, लेखक Godfrey Higgins.
२. पृष्ठ ११४-११५, वही।

विनाश किया और उधम मचाया उससे चोलडीय(Choldea) और ईजिप्त की विज्ञान-विद्या सारी नष्ट हो गई।"

इससे सूर्य के ताप का उपयोग प्राचीन काल के वैज्ञानिक विविध प्रकार से करते थे ऐसा स्पष्ट दीखता है जबकि वर्तमान में, जब आधुनिक विज्ञान की प्रगति का हम गर्व से उल्लेख करते हैं, कहीं-कहीं अत्यल्प प्रमाण में हम सूर्यताप का उपयोग अभी-अभी करने लगे हैं।

बारूद

"ड्रुइड लोग (सुरंग, पटाखे, तोप आदि की) बारूद बनाना जानते थे। जरक्सिस (Xerxes) और ब्रेनस (Brennus) के जब हमले हुए थे तब मन्दिरों की सम्पत्ति लूटने आए उन हमलावरों का कड़कती बिजली जैसी चमक और गरजते बादलों जैसी आवाज के साथ ड्रुइड लोगों ने ऐसा जोरदार प्रतिकार किया कि हमलावरों को दहशत खाकर और भारी हानि उठाकर भाग जाना पड़ा। इस वर्णन से प्रतीत होता है कि ड्रुइडों ने बारूद का ही प्रयोग किया। मार्सेल्स शहर के पास (फ्रांस देश में) ड्रुइडों की (धर्म) वाटिका में गुफाओं के अन्दर बड़े धमाके उठते; मेघ-गर्जना जैसी आवाज आती; धरती कांपती और चमकती बिजली जैसी चमचमाहट हुआ करती ऐसा तिरस्कारयुक्त उल्लेख (Lucan) ल्यूकन ने किया है। यह सब बारूद की ही प्रतिक्रियाएँ हैं। बेल के ड्रुइडों का पुत्र डार्गो (Dargo) की कविता में उसी प्रकार की आवाज आदि का वर्णन है। मॉरिस नाम के लेखक का उल्लेख है कि अति प्राचीन काल से हिन्दू लोग बारूद का उपयोग जानते थे। क्रॉफर्ड नाम के दूसरे लेखक का भी यही मत है (खण्ड २, पृष्ठ १४६)।"

गणित

वेद यह मानवों का प्राचीनतम साहित्य है। उसी में गणित की उच्चतम और जटिलतम क्रियाएँ अन्तर्भूत हैं। एकाग्र चित्त से वेदों की ऋचाओं पर चिन्तन-मनन कर समाधि लगानेवाले साधकों को गणित और अन्य सभी विद्याओं के गहनतम और उच्चतम रहस्य पता लग सकते हैं।

जगन्नाथपुरी के शंकराचार्यजी ने Vedic Mathematics नामक ग्रन्थ लिखकर उस तथ्य का परिचय दिया है।

गणित और अन्य सभी विद्याओं के उच्चतम रहस्य वेदों में गुंथा दिए गए हों तो उसमें आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि इस असीम विश्व के प्रबन्ध की रूपरेखा प्रस्तुत करने के लिए ही तो ब्रह्माण्ड बनाते समय उसका यान्त्रिक ब्यौरा देने वाले वेद बनाए गए। अतः वेदों में प्रस्तुत उच्चतम गणित देवतुल्य मानवों को आरम्भ से ही अवगत था। उदाहरणार्थ उस समय 'लोक' नाम की एक संख्या थी जो १०^{१९} ऐसी संक्षेप में लिखने से १ पर १९ शून्य इतने मूल्य की होती थी। अतः शून्य का उपयोग मानव आरम्भ से ही करते थे। अतः यह कह देना कि शून्य का उपयोग कोई दो-तीन सहस्र वर्षों से ही होने लगा है—उचित नहीं। दूसरा एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि जिन लोगों को १ पर १९ शून्य इतनी बड़ी संख्या का उपयोग करना पड़ता था उनका गणित, उनका व्यापार, उनका उद्योग कितना अग्रसर होगा?

वैदिक संख्या मिति

वेदों में ऋचाओं की संख्या १०५८० है; शब्द हैं १,५३,८२०; अक्षर हैं ४,३२,०००। इतना सूक्ष्म हिसाब वेदपाठ का रखा गया है। इससे भी पता चलता है कि शून्य का ज्ञान मानव को आरम्भ से ही था। तथापि ऐसे ठोस और इतने प्राचीन प्रमाण की आजतक किसी विद्वान् ने दखल ली नहीं। सब यही कहते रहे कि शून्य का उपयोग भारत ने मानव को लगभग दो-एक सहस्र वर्ष पूर्व सिखलाया। वर्तमान तोतापंची इतिहास शिक्षा का यह एक ठोस उदाहरण है। छात्रों को कुछ तथ्य रटाए जाते हैं किन्तु वे कहाँ तक सही हैं, कहाँ तक तर्कहीन हैं, उनके प्रमाण क्या हैं? आदि प्रश्नों का विचार अध्यापक भी नहीं करता तो बेचारा छात्र कहाँ से करेगा? रटाई की यह पद्धति त्यागकर सर्वांगीण विचार की अध्ययन-पद्धति अपनाई जानी चाहिए।

---

१. पृष्ठ ११५-११६, वही ग्रन्थ।

यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि प्रत्येक जीव-सृष्टिचक्र ४३,२०० लक्ष वर्षों का होता है। वेदों के अक्षरों की जो संख्या ऊपर दी गई है वह है ४,३२,००० । उसके बराबर १००० गुना जीव-सृष्टिचक्र के वर्ष आते हैं। क्या यह केवल योगायोग है कि उसके पीछे सृष्टि-निर्माता के अद्भुत, असीम गणित का कोई रहस्यमय हिसाब छिपा हुआ है ?

ज्यामिति

यूरोपीय शब्द ज्यामेट्री (geometry) लगभग ज्यों-का-त्यों संस्कृत वैदिक 'ज्यामिति' या 'ज्यामात्री' शब्द है जिसमें 'ज्या' यानी पृथ्वी और 'मिति' या 'मात्री' यानी 'नापना' ऐसा अर्थ होता है। इस प्रमाण से भी जाना जा सकता है कि यह प्राचीन गुरुकुल विद्या की परिभाषा ही अभी तक विश्व में सर्वत्र चल रही है।

वैदिक शुलब सूत्रों में ज्यामित्री के उच्चतम रहस्य हो सकते हैं। तथापि दुर्भाग्यवश उन्हें वर्तमान समय की पाश्चात्य धारा में पढ़े विद्वान् केवल यज्ञकुण्ड बनाने की विधि तक ही सीमित मानते हैं। यदि कोई प्रवीण ज्यामात्रा का ज्ञाता समाधि अवस्था में शुलब सूत्रों के सांकेतिक संस्कृत उच्चारों के ऊपर चिन्तन-मनन कर सके तो हो सकता है कि वह ज्यामिति के कोई गहन रहस्य उसमें से सुलझा सके। वैसे भी तांबे का जो यज्ञपात्र होता है वह उल्टे पिरैमिड् (pyramid) के आकार का होता है। कहा जाता है कि वह आकार स्वयं एक गहन वैज्ञानिक रहस्य है। उस आकार में मृत-शरीर गलते नहीं। उन्हें दुर्गन्ध नहीं आती। उनमें कीड़े नहीं पड़ते। प्राचीन वैदिक वैज्ञानिकों के बनाए ईंट और पत्थर के विशाल पिरैमिड ईजिप्त देश में हैं जो एक जागतिक आश्चर्य माने जाते हैं। उनका अधिक विवरण हम ईजिप्त देश सम्बन्धी प्रकरण में भी देने वाले हैं।

वैदिक उद्यम

वैदिक विद्याओं में लोहे आदि सामान्य धातुओं को सुवर्ण में बदल देने की प्रक्रिया भी ज्ञात थी। आधुनिक काल में अणुशास्त्रज्ञ विविध धातुओं में कितने और कैसे-कैसे अणुरेणु होते हैं उसका विवरण जानते

हैं। उससे उनका निष्कर्ष यह है कि लोहे के शीशे के या और किसी धातु के अन्तर्गत जो अणुरेणु रचना है उसे बदलकर यदि सुवर्ण वाली अणुरेणु योजना कर दी जाए तो अन्य धातु भी सुवर्ण में परावर्तित हो जाएँगी। इसे हेमक्रिया शास्त्र या विद्या कहते थे। उसी का अपभ्रंश chemistry (हेमक्रिया शास्त्र) और अल्केमी (alchemy) यानी किमया (बदलने की जादुई क्रिया) विद्या कहते थे। अल् यह अरबी पूर्वपद 'किमया' को चिपक-कर यूरोपीय alchemy शब्द बना है।

नई दिल्ली नगर में मन्दिर मार्ग पर जो विशाल लक्ष्मीनारायण मन्दिर है (जिसे निर्माता के नाम से बिरला मन्दिर भी कहा जाता है) उसके उद्यान वाटिका में जो यज्ञ मण्डप है उसके एक स्तम्भ पर लोहे से सुवर्ण बनाए जाने की प्रत्यक्ष अद्भुत घटना अंकित है। जिन गणमान्य व्यक्तियों के समक्ष वह अद्भुत धातु-परिवर्तन कराया गया उनके नाम वहाँ अंकित हैं।

प्राचीन विद्या में विमानों के उड़ान में पारे की भाप की शक्ति प्रयोग होती थी। वर्तमान युग में यद्यपि अणुरेणु विद्या से महासंहारक शस्त्रास्त्र बनाने की क्षमता शास्त्रज्ञों को प्राप्त है तथापि लोहे या अन्य धातु को सोने में परावर्तित करना और पारे से ऊर्जा प्राप्त करना यह बातें तो उनके सपने में भी नहीं हैं। इससे पाठक अनुमान लगा सकते हैं कि वर्तमान कलियुग की अपेक्षाकृत, त्रेता और द्वापर युगों में शास्त्र और विद्या अधिक प्रगत थे।

ऐसी विविध प्रकार की उच्चतम वैज्ञानिक क्षमता प्राचीनकाल में थी यह स्पष्ट करने के पश्चात् हम अब यह दर्शाने जा रहे हैं कि आणविक शक्ति—जिसे नूतनतम् आश्चर्यकारी और दूरगामी संशोधन माना जाता है, उसका शोध प्राचीन काल में ही लग गया था और उस शक्ति-सृजन के विपुल केन्द्र भी उस समय कार्यरत थे।

प्राचीन आणविक ऊर्जा-केन्द्र

आधुनिक परिभाषा में आणविक शास्त्र का विवेचन करते समय पाश्चात्य लोग मॉलिक्यूल (molecule), ॲटम (atom) और

सब-पारटिकल्स (sub-particles) यह परिभाषा प्रयोग करते हैं। यह सारी प्राचीन वैदिक संस्कृत है। मलिक्यूल यही शब्द लें। वह 'मूल कणानाम् कुलम्' यानी 'सूक्ष्म मूल जड़कणों का कुल' ऐसा पूरा संस्कृत है। उसी मलिक्यूल (molecule) के एक मुख्य कण को (atom) ऍटम् कहते हैं। वह 'आत्मा' इस अर्थ का बिगाड़ा गया संस्कृत शब्द है। उसी में अन्तर्भूत जो और भी सूक्ष्म कण पाए जाते हैं उन्हें रेणु कहते हैं। 'रेणुका' वही शक्ति है जो ऐसे सूक्ष्म जड़कणों में गुप्त रूप से निवास करती है और जो ईश्वरीय आज्ञा से कड़ा प्रहार कर सकती है। जड़, अचल सृष्टि के मिट्टी, रेत आदि पदार्थों में जो कण होते हैं उनके अन्दर एक सूक्ष्म घन विद्युत्कण और अन्य ऋण विद्युत्कण ऐसी ईश्वरीय शक्ति की यन्त्रणा निवास करती है। उस घन विद्युत्-कण को वैदिक प्रणाली में जड़ सृष्टि या जड़ पदार्थ की आत्मा कहा जाता था। उसी का विद्यमान पाश्चात्य परिभाषा में 'ऍटम्' ऐसा थोड़ा विकृत उच्चारण होता है। इससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आजकल जिसे atomic physics कहते हैं वह शास्त्र प्राचीन काल में भी ज्ञात था।

मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र

अब वैदिक परिभाषा के मन्त्र-तन्त्र-यन्त्र यह शब्द देखें। इनका आजकल एक गूढ़ आध्यात्मिक अर्थ लगाया जाता है। तथापि वे प्राचीन वैज्ञानिक शब्द हैं। मन्त्र शब्द लें। पाश्चात्य प्रणाली में जिसे formula यानी कोई कार्य सम्पन्न कराने की शाब्दिक विधि, रीति या पद्धति कहते हैं। तन्त्र यानी प्रत्यक्ष वह कार्य या परिणाम सम्पन्न कराने की कृति; उसी को पाश्चात्य प्रणाली में टेक्नीक (technique) कहते हैं। यन्त्र शब्द का अर्थ तो स्पष्ट ही है क्योंकि उसका प्रयोग हम आजकल भी करते हैं। कारखाने में विविध वस्तु बनाने के या विविध कार्य सम्पन्न करने की लोहे आदि धातु की जो साधन-सामग्री होती है उसे हम यन्त्र कहते हैं। जड़ जगत् की कार्यप्रणाली में विविध वस्तुएँ बनाने वाले कारखानों में यन्त्र लगे होते हैं। किन्तु भारत की परतन्त्र अवस्था में मुसलमानों के मचाए मारकाट से भारतीय विद्या-केन्द्र और वस्तु-निर्माण-केन्द्र सारे नष्ट

हो जाने से यन्त्र शब्द का वह औद्योगिक अर्थ लुप्त होकर आजकल यन्त्र शब्द का केवल एक आध्यात्मिक अर्थ ही रह गया है। देवी की आराधना करने वाले लोक जो विविध त्रिकोण, गोल, चौकोर आदि आकार करते हैं, उन पर चन्दन या हल्दी से बिन्दु लगा देते हैं, और उन्हें पूजते हैं, वही आध्यात्मिक अर्थ 'यन्त्र' शब्द का लोगों के मन में अधिकतर दृढ़मूल हो गया है। तथापि उन तीनों शब्दों से भी एक प्राचीन उन्नत वैज्ञानिक क्षमता का निर्देश होता है।

आधुनिक दूरदर्शन, आकाशवाणी देखने-सुनने के जो विविध यन्त्र होते हैं उनके भी निजी विविध आकार के गोल, चौकोर, तिकोने आदि शक्ति वलय होते हैं। तो हू-ब-हू वैसे ही प्राचीन वैदिक प्रणाली के श्रीयन्त्र, शक्तिचक्र आदि विविध आकार भारतीय प्रथा में प्राचीन काल से आज तक विद्यमान हैं। उन्हें रांगोली द्वारा घर के प्रवेश-द्वार के बाहर अंकित किया जाता है। दीवारों पर वही आकृतियाँ रंगाई जाती हैं या पत्थरों से मढ़ दी जाती हैं। दिल्ली और अन्य नगरों में अनेक ऐतिहासिक इमारतों के ऊपर ऐसी आकृतियाँ जड़ी हुई हैं। उन्हें आजतक भक्ति-भाव से लोग स्मरते हैं और पूजते हैं क्योंकि प्राचीनकाल में शक्तिस्रोत या ऊर्जास्रोत निर्माण होता था। कल्पना कीजिए कि यदि किसी अगले महायुद्ध में इतना संहार हुआ कि सारी शिक्षा-प्रणाली और उद्योग-प्रणाली नष्ट हो गई तो विमान, टैंक, आकाशवाणी (रेडियो), दूरदर्शन (Television) आदि सुनने-देखने के यन्त्र मात्र रह जाएँगे। उनकी वैज्ञानिक कार्यप्रणाली नष्ट हो जाएगी। तब लोग पीढ़ी-दर-पीढ़ी पिछड़ जाएँगे और बड़ी गम्भीरता और भयपूर्वक विमान की आकृति को हनुमान जैसा शक्तिमान और उड़ान करने वाला वीर कहकर उसे पूजेंगे। दूरदर्शन और आकाशवाणी के यन्त्रों को भी पूजेंगे। वही हम भी कर रहे हैं।

बारह प्राचीन अणुशक्ति केन्द्र

हम जिन्हें बारह ज्योतिलिंग कहकर पूजते हैं वे भी वैदिक प्रणाली के प्रसिद्ध ऊर्जा-केन्द्र थे। इसी कारण अनादिकाल से वे श्रद्धा और भक्ति के केन्द्र बन गए हैं।

वे ज्योतिर्लिंग इस प्रकार हैं—(१) सोमनाथ, (२) मल्लिकार्जुन, (३) महाकालेश्वर, (४) ओंकारेश्वर, (५) वैद्यनाथ, (६) नागनाथ, (७) केदारेश्वर, (८) त्र्यंबकेश्वर, (९) रामेश्वर, (१०) भीमाशंकर, (११) विश्वनाथ और (१२) घृष्णेश्वर।

प्रत्येक आस्तिक हिंदू के मन में इन पीठों के प्रति गहरी श्रद्धा और भक्तिभाव होता है। इसी कारण जीवन में कम-से-कम एक बार उन सबके दर्शन करने को वह उत्सुक होता है।

वर्तमान सार्वजनिक धारणा यह है कि उन स्थानों की बड़ी आध्यात्मिक पवित्रता है तथापि अन्य कई प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि वह भयपूर्ण, गंभीर श्रद्धाभाव इसलिए है कि वे किसी प्राचीन युग के ऊर्जा केन्द्र रहे हैं।

उन सारे स्थानों पर लंब गोलाकार शिवलिंग प्रतिष्ठित हैं। उस आकार का विचार कीजिए। बम्बई उर्फ मुम्बई नगर के ट्राम्बे विभाग में जो अणुभट्टी है, उसका आकार पूर्णतया एक विशाल शिवलिंग जैसा ही है।

शिवलिंग जिस शिला पर खड़ा रखा जाता है उस शिला पर तरंग दर्शाये होते हैं। वैसे ही अणु-रेणु के भ्रमण मार्ग आधुनिक पदार्थ विज्ञान शास्त्र (physics) की पुस्तकों में भी दिग्दर्शित होते हैं।

'शिव' यानी पवित्र और 'लिंग' यानी चिह्न। शिव यह शक्ति का पति कहलाता है। शिव बड़ा शक्तिमान् होता है। शिव बड़ा क्रोधी भी होता है। सारों का कल्याण करा सकने वाली शिव की शक्ति होती है। अणु-शक्ति में भी कई प्रकार से जनकल्याण साधने की क्षमता होती है।

किन्तु वही कल्याणकारी शक्ति कहीं से अनियंत्रित होकर बहने लगी तो वह सर्वनाश कराती है। शिव जी का भी वैसा ही है। वे यदि क्रुद्ध हो गए तो उनके तृतीय नेत्र से झरने वाला तेज सारे विश्व को नष्ट कर सकता है। शिव जी जब ताण्डव नृत्य करते हैं तो पंचमहाभूतों के मंथन से सृष्टि कांप उठती है। अणुशक्ति का ताण्डव उसी भयानक प्रकार का होता है।

महाभारत के समय उन १२ केन्द्रों में अणुशक्ति का उत्पादन होता था। यदि आधुनिक वैज्ञानिक साधनों से उन स्थानों की आणविक जाँच

करवाकर पता लगाया जा सकता है तो लगाया जाए।

आस्ट्रेलिया नाम भी प्राचीन अस्त्रालय नाम है। वह सारा प्रदेश बीरान अनुपजाऊ बनने का कारण प्राचीन अणुविस्फोट हो सकते हैं। आधुनिक कसौटियों से उसकी भी जाँच करा ली जाए।

ज्योतिलिंग शब्द से स्पष्ट है कि उन केन्द्रों से तेज या ऊर्जा की ज्योति निकलती थी। अमेरिका में भी Livermore नगर में जहाँ 'लेझर' (Laser) नाम की बड़ी शक्तिमान् ज्योति प्रकट की जाती है उस यंत्रण्य को भी अमेरिका वालों ने ऐतिहासिक योगायोग से 'शिव' नाम ही दिया है।

संस्कृत में आकाशस्थ तारकादि का जो दिव्य तेज होता है उसे ज्योति कहा जाता है। लिंग का 'चिह्न' ऐसा भी अर्थ है और उससे उत्पादन क्षमता भी प्रतीत होती है।

शिव को त्रिअंबक (त्र्यंबक) यानी तीन चक्षु वाला कहते हैं। शिवजी का तृतीय नेत्र यदि क्रोध से खुल गया तो उससे निकलने वाले तेज के किरण सारी सृष्टि को पिघला सकते हैं या भग्न कर सकते हैं। ग्रीक कथाओं में ललाट के मध्य में ऐसा ही विनाशक चक्षु होने वाले राक्षसों का उल्लेख है। उन्हें सायक्लोप्स (Cyclops) कहा जाता था। मनुष्य की आत्मा वहीं होती है। वही सारी शारीरिक क्रियाओं का संचालन और नियंत्रण करती है।

ब्रह्मा-विष्णु-महेश त्रिमूर्ति में अंतिम विनाश का कार्य शिवजी के तृतीय नेत्र की ज्वाला से होता है। अणुशक्ति का सदुपयोग और दुरुपयोग भी जिस प्रकार हो सकता है वैसे ही शिवजी की कृपादृष्टि से कल्याण और वक्र दृष्टि से विनाश होता है।

शिव की उस सर्वनाशी शक्ति के कारण उसे महाकाल भी कहते हैं। शिवजी को महाप्रलयंकारी भी कहा जाता है।

आधुनिक वाक्प्रचार में विद्युत् या अन्य किसी भी ऊर्जा को पॉवर (power) यानी 'शक्ति' या ऊर्जा कहते हैं। वह वैदिक परिभाषा का ही तो शब्द है। पार्वती, दुर्गा, भवानी, चंडी को शक्ति भी कहते हैं। इसीलिए उसके भक्तों को शाक्त कहते हैं।

भगवान् शिव का कोप होता है तो वे रुद्रावतार धारणकर तृतीय

नेत्र से आग उगलते हैं। उसी को रौद्र यानी भयानक रूप कहते हैं। उस समय महाप्रलय होने की संभावना होती है। अतः शिव को महाप्रलयंकारी भी कहा गया है। उस समय अनेक प्रकार की भयानक ध्वनि होने लगती है अतः उस अवस्था का 'भैरव' यानी 'भय-रव' भी नाम पड़ा है।

शक्ति की उपासना करने वाले मृत व्यक्तियों की हड्डी और मुंडों की माला गले में पहनते थे। भयानक शक्तिसाधना का वह बोधचिह्न था। उससे यह प्रतीत हुआ करता था कि अणुशक्ति नियंत्रण में नहीं रही या अनापशनाप बहने लगी तो उससे हाहाकार मचकर हजारों व्यक्ति मृत और घायल हो जाते हैं। वर्तमान समय में भी तो शाक्तों के वही चिह्न लौकिक व्यवहार में प्रयोग होते हैं। जहाँ बिजली का प्रवाह तीव्र शक्तिमान होता है वहाँ आजकल भी खंभों पर दो हड्डियाँ और मुंड अंकित किए जाते हैं ताकि लोग प्रखर विद्युत्प्रवाह से सावधानी बर्तें।

चण्डी, उर्फ शक्ति का रूप भी उसी प्रकार भयानक होता है। क्रोध-भरी विस्फारित आँखें, लटकती हुई लाल जिह्वा, हाथों में कटा हुआ राक्षस का सर, हाथ में रक्त से भरा खड्ग, भाला आदि शस्त्र, पैरों तले रौंदा हुआ राक्षस इत्यादि इत्यादि।

शाक्तों को शक्ति के भक्त इसलिए कहा जाता था कि वे एकान्त में समाधिस्थ होकर अणुशक्ति संशोधन में मग्न रहते थे। आंग्ल शब्द technique (टेक्नीक), technicians (टेक्नीशियन्स) और tantrums (टैन्ट्रम्स)सारे संस्कृत 'तंत्र', 'तांत्रिक' आदि शब्दों के ही पाश्चात्य रूप हैं।

सारे वैदिक वैज्ञानिकों को मंत्र इस कारण मुखोद्गत कराए जाते थे कि वे ऊर्जा-उत्पादन या शस्त्रास्त्र बनाते समय काम आएँ। प्राचीन वैदिक शिक्षाप्रणाली की यह एक विशिष्टता थी कि प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वैज्ञानिक हो या मूर्तिकार या वैद्य, उसे अपने पाठ्यक्रम की सारी विद्या मुखोद्गत होती थी। महाभारतीय युद्ध के पश्चात् वह शिक्षाप्रणाली धीरे-धीरे नष्ट हो गई। शेष रहा है केवल शक्ति-निर्माण का पूजा रूप बाह्य ढाँचा। हो सकता है कि लघुरुद्र, महारुद्र आदि जो विविध विधि हैं उनके मंत्रों में अणुशक्ति उत्पादन के रहस्य छिपे हों। किसी संस्कृतज्ञ वैज्ञानिक को उन

मंत्रों के समाधिस्थ चिंतन-मनन से वे रहस्य ढूंढने का यत्न करना चाहिए।

प्राचीन अग्निहोत्री वही वैज्ञानिक हो सकते हैं जो सर्वदा निजी निवास में संशोधन के लिए अग्नि प्रज्वलित रखकर उस पर पदार्थों को तपाकर, भूनकर, जलाकर आदि विविध शोध प्रयोग किया करते थे।

शिवलिंग भूगर्भ में, पानी में रखा जाता है और ऊपर टँगे घट से शिवलिंग के ऊपर बूंद-बूंद पानी भी टपकता रहता है। आधुनिक विज्ञान में इसे कन्डेन्शेशन (condensation) (यानी ठंडा करना) कहते हैं। जहाँ भी शक्ति या ऊर्जा-उत्पादन, घर्षण आदि से तापमान बेशुमार बढ़ता रहता है वहाँ सतत उसे ठंडा रखने की प्रक्रिया चालू रखनी पड़ती है। शिवजी के ललाट पर शीतल चंद्रमा अंकित रहता है। सिर पर गंगा बहती रहती है। वह सारे चिह्न इसी के द्योतक हैं कि शिवलिंग प्राचीन atomic reactors यानी अणुशक्ति उत्पादन केन्द्र थे।

विषाक्त शक्ति

शिवजी के गले में हलाहल अटका रहने के कारण इनका नीलकंठ नाम पड़ा है। अणुशक्ति में भी वैसी ही विषाक्त संहारक शक्ति होती है। शिवजी के गले को सर्प घेरे रहते हैं, उनके फण शिवजी के सिर से ऊपर उठकर फूत्कार करते रहते हैं, बाहों पर भी सर्प लिपटे होते हैं। यह सारे अणुशक्ति के भयानक विषाक्त अवस्था के प्रतीक हैं।

वेदों के उच्चारण की प्राचीनकाल में आठ पद्धतियाँ होती थीं। उनकी अष्ट विकृति संज्ञा थी। अब उनमें से केवल दो ही ज्ञात हैं। वही मंत्र अलग-अलग प्रकार से उच्चारण कर उन्हीं से अलग-अलग शास्त्रीय या वैज्ञानिक रहस्य ज्ञात होते थे। इसी कारण प्राचीन शास्त्रीय पंडित पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपना सारा जीवन वेदाध्ययन में लगाया करते थे। क्योंकि वेदों में सारे विश्वब्रह्माण्ड की समस्त विद्या और कलाओं का रहस्य छिपा हुआ है।

यही कारण था कि वैदिक गुरुकुल-शिक्षा परंपरा में खगोल ज्योतिष, गणित, युद्धशास्त्र, योग, आयुर्वेद, स्थापत्य, नगरनिर्माण आदि सारी

विद्या-शाखाओं का स्तर बड़ा उन्नत था।

कुछ वर्तमान विद्वान् समझते हैं कि प्राचीन भारतीयों ने अध्यात्म, दर्शनशास्त्र, आयुर्वेद आदि शास्त्रों में भले ही प्रगति की होगी किन्तु विमानविद्या, यंत्रशास्त्र, अणुशक्ति आदि में वे कुछ नहीं जानते थे। ऐसी जब कोई शंका मन में उठे तो दो मुद्दों पर विशेषतया विचार करना चाहिए। एक यह कि काल के अनादि अनंत प्रवाह में आधुनिक शास्त्रीय प्रगति करने वाले १५० वर्षों के सदृश और कितने ही कालखंड बीत गए होंगे। दूसरा मुद्दा यह है कि मानवी मस्तिष्क के बुद्धि स्त्रोत विविध प्रकार के करोड़ों लोगों में और अनेक पीढ़ियों में ऐसा कभी नहीं होगा कि सारों की प्रतिभा आध्यात्मिक और दार्शनिक बातें सोचती रहे और विज्ञान या यंत्रविद्या में कुछ भी प्रगति न कर सके।

वैदिक वैज्ञानिक परिभाषा

आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिकों की जैसी मॉलिक्यूल, एटम्, फोटोन्, प्रोटोन आदि शास्त्रीय परिभाषा हैं वैसे ही वैदिक शास्त्रज्ञों की अणु, रेणु, परमाणु आदि परिभाषाएँ हैं। मॉलिक्यूल, एटम् और मिसाईल(Missile) (मूसल) भी वैदिक परम्परा के शब्द ही हैं जो आजतक प्रयोग में हैं।

वर्तमान अणुकेन्द्रों से किरणोत्सर्गी पदार्थ बड़े हानिकारक होते हैं। आधुनिक अणुऊर्जा उत्पादन केन्द्रों में ऐसा बचाखुचा किरणोत्सर्गी कचरा सीमेंट के पुटों में बंद करके गहरे सागर में फेंका जाता है। ठेठ वही बात महाभारत के समय भी होती थी। उदाहरण—यादवों को जो एक किरणोत्सर्गी मूसल मिला था वह उन्होंने खंडित करके या चूर्ण करके सागर में बिखेर दिया। परिणामस्वरूप उससे जो रीड निर्माण हुआ वह भी किरणोत्सर्गी था। उसे उखाड़-उखाड़कर यादव जब आपस में लड़ने-झगड़ने लगे तो वे अणुशक्ति से दूषित होकर सारे नष्ट हो गए।

शिवपूजा की एक और विशेषता भी आणविक शक्ति केन्द्रों की द्योतक है। शिवपूजा का पानी जिस नाली से गर्भगृह के बाहर बहता रहता है उसे लांघकर भक्त लोग आगे नहीं जाते। शिवमंदिरों में भक्तगण उस नाली तक (यानी तीन-चौथाई अंतर) ही परिक्रमा करते हैं और फिर उसी मार्ग

से वापस घूम जाते हैं। यानी, एक प्रकार से, शिवमंदिरों में प्रत्येक परिक्रमा तीन-चौथाई आगे और तीन-चौथाई वापसी ऐसी डेढ़ गुना होती है किन्तु एक पूरी परिक्रमा नहीं होती। मक्का नगर के काबा मंदिर में (जहां १४०० वर्षों से केवल मुसलमानों को ही प्रवेश दिया जाता है) शिवलिंग की सात परिक्रमा होती हैं किन्तु वह वापसी वाली दिशा में यानी दाहिने से शुरू कर बाएँ की ओर होती हैं। उसे घड़ीविरोधी (anti clockwise) क्रम भी कहते हैं जो ↶ ऐसा होता है।

पूजा जल की नाली लांघकर न जाने की प्रथा इसलिए पड़ी कि वे आणविक शक्ति केन्द्र होने के कारण अंदर से बाहर बहने वाला पानी किरणोत्सर्गी हुआ करता था। उसे लांघने वाले को धोखा हुआ करता था। किन्तु एक और विशेषता भी बड़ी ध्यानयोग्य है। यदि उस मोरी के पास 'धरूण्ड' नाम की एक राक्षसी मूर्ति बनाकर उसके मुंह से वह पानी निकलकर नाली में बहे तो भक्तगण उसे अन्य मंदिरों जैसे मजे में बिना किसी रोक-टोक से पार कर पूरी परिक्रमा कर लेते हैं। यानी नाली से वापसी की उल्टी प्रदक्षिणा नहीं करनी पड़ती। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 'धरुण्ड' यह एक ऐसी यंत्रणा थी कि जिससे निकलते हुए इस किरणोत्सर्गी पानी का दंश दोष समाप्त कर दिया जाता था।

सऊदी अरबस्थान वीरान प्रदेश हो जाने का कारण यह था कि ईसापूर्व सन् ३१३८ के लगभग उस देश में महाभारत युद्ध के अन्तर्गत अणुबांब विस्फोट हुए और आगे भी जब गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली टूट गई तो काबा में आणविक शक्ति-उत्पादन यकायक बन्द हो जाने से उसकी किरणोत्सर्गी यंत्रणा (कोई ज्ञाता या कर्ताधर्ता न होने के कारण) दुर्लक्षित रहकर किरणोत्सर्ग से उस प्रदेश को दूषित करती रही। महाभारतीय युद्ध के पूर्व सऊदी अरबस्थान एक हरा-भरा प्रदेश था। अणुशास्त्रज्ञों को सऊदी अरब व ऑस्ट्रेलिया के वीरान प्रदेशों की जांच कर परखना चाहिए कि क्या उन प्रदेशों में पांच सहस्र वर्ष पूर्व के विस्फोट के कोई वैज्ञानिक प्रमाण मिलते हैं।

आजकल जैसे रशिया और अमेरिका के बीच वैचारिक मतभेद और होड़ होने के कारण वे एक-दूसरे को शत्रु मानकर अपने-अपने आणविक

अस्त्र तैयार कर एक-दूसरे को धमका रहे हैं उसी प्रकार प्राचीनकाल में देव-दानवों में भी इसी प्रकार की होड़ से आणविक अस्त्रों की लड़ाई हुआ करती थी।

क्या शिवजी का त्रिशूल भी आणविक शक्ति की तीन प्रकार की दाहक शक्ति का द्योतक है, इसका भी शास्त्रज्ञाता विचार करें।

२२

वेदविज्ञान और वैदिक शिल्पशास्त्र के ग्रंथ

हम पहले ही बता चुके हैं कि जंगली अवस्था से मानव निजी प्रगति करता गया। यह पाश्चात्य विचारधारा सही नहीं है। मानवी सभ्यता का आरम्भ हर क्षेत्र का उच्चतम ज्ञान, हर कला में प्रवीणता और दैवी स्तर की सर्वांगीण क्षमता से हुआ। इसी से जुड़ा हुआ दूसरा पाश्चात्य सिद्धान्त कि मानव, हीन अवस्था से लगातार उन्नत होता रहता है यह भी सही नहीं है। व्यक्ति के भाग्य में जैसे कभी उन्नति, कभी अवनति होती रहती है, वैसे मानव-समूहों की भी कभी उन्नति और कभी अवनति होती रहती है। चन्द्रमा की कलाएँ जैसी बढ़ती-घटती रहती हैं वैसी ही मानवी परिस्थितियाँ भी उत्कर्षापकर्ष में बदलती रहती हैं। इस तत्त्व को ध्यान में रखते हुए हमें प्राचीन संस्कृत साहित्य में उल्लिखित बातों पर विचार करना चाहिए।

संस्कृत ग्रंथों में आश्चर्यकारी अस्त्र, प्रभावी किरण, चन्द्रलोक आदि अन्य ग्रहों से यात्रा सम्पर्क और बड़े गुणकारी औषधों आदि का उल्लेख आता है।

पाश्चात्यों ने उन सब बातों को कविकल्पना समझा। क्योंकि १५० पूर्व जब अंग्रेजों का राज्य भारत में नया-नया स्थापित हुआ था तब उन्हें विमान, अंतरिक्षयान, अण्वास्त्र आदि की कल्पना नहीं थी। अतः उन्होंने प्राचीन वैदिक वैज्ञानिक प्रगति को असंभव कह डाला। उन्हीं गोरे साहबों का भारतीय शिक्षा-प्रणाली पर पूरा अधिकार रहने के कारण उनकी निगरानी में भारतीयों की जो पीढ़ियाँ शिक्षित होकर शासन करने लगीं उन्होंने भी तोतापंची प्रणाली से गोरे साहबों का निष्कर्ष वैदिक

वैज्ञानिक प्रगति के उल्लेखों की हँसी-मजाक उड़ाने की प्रथा अपनाई ।

किन्तु अब जब यूरोपीय और अमेरिकन लोगों ने अंतरिक्षयान, महासंहारी अस्त्र इत्यादि बना लिए हैं तब उनके शास्त्रज्ञ उन प्राचीन वैज्ञानिक उल्लेखों को काल्पनिक नहीं मानते । तथापि शिक्षा क्षेत्र में प्राचीन वैदिक संस्कृति के पिछड़ेपन के जो मत गढ़ दिए गए हैं वे भारतीय शिक्षित पीढ़ियों के मन से निकाल फेंकना कठिन हो गया है । परन्तु पाठक अब यह जान लें कि पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रगति उतनी अभी भी नहीं हुई है जितनी कि वैदिक संस्कृति की महाभारत के समय या तत्पूर्व थी । उस समय संजीवनी विद्या थी । लक्ष्मण जब मूर्छित पड़े थे तो सुदूर हिमालय से उनके लिए वैमानिक उड़ान से अत्यल्प नियत समय में औषधि लाई गई । कौरवों का जन्म गर्भ के बाहर द्रोणों द्वारा कराया गया । उस प्राचीन आयुर्वेदिक कुशलता की तुलना में आजकल के पाश्चात्य डॉक्टरी विद्या में रोगी को अत्यधिक शारीरिक वेदना, किसी भी रोग का कोई उपाय नहीं है ऐसा स्वीकृत करना और असीम आर्थिक खर्चा उठाना पड़ता है ।

प्राचीनकाल के लोग भी विविध विद्याओं में कुशल और प्रवीण थे इस ऐतिहासिक सत्य को आधुनिक युग में लोगों के सामने लाने वालों में कृष्णजी विनायक वझे नाम के एक महाराष्ट्रीय इंजीनियर अग्रगण्य हैं । उनका जन्म, १६ दिसम्बर, १८६६ को हुआ था । पुणे नगर के इंजीनियरिंग कॉलेज से उन्होंने सन् १८९१ में इंजीनियरिंग डिप्लोमा अभ्यासक्रम पूरा किया ।

लाहौर की Vedic Magazine में प्रकाशित लेख में वझे जी ने लिखा था कि कितने आश्चर्य की बात है कि उनके पूरे इंजीनियरी अध्ययन में प्राचीन भारत के विविध इंजीनियरी कौशल्य का कोई उल्लेख तक नहीं था । प्राचीनकाल के कितने ही आश्चर्यजनक उदाहरण हमें ज्ञात हैं । जैसे कि ईजिप्ट देश के पिरॅमिड्स, भारत के तेजोमहालय (ताजमहल) और कोणार्क मन्दिर, जावा द्वीप का बोरोबिदूर मंदिर, कंबोडिया प्रदेश का अंकोरवट नाम का राजनगर । पहाड़ खोदकर उसकी चट्टानों को छील-छीलकर विशाल, सुन्दर महल, मूर्तियाँ, स्तंभ, खिड़कियाँ, द्वार, वेलबूटे आदि बनाना जैसे ईजिप्ट के अबुसिंबेल मंदिर, अफगानिस्थान

की ब्राह्मण (बामियन) प्रदेश में और भारत के वेरुल, अजंठा, कार्ला, भाजे आदि स्थानों में पाए जाते हैं । प्राचीन काल में घर-घर नाली और नलकों से पानी पहुँचाने की व्यवस्था थी जैसे मराठवाड़ा के कटक (उर्फ औरंगाबाद) नगर में, प्राचीन पुणे नगर में और ग्वालियर किले के गूजरी महल के प्राचीन अवशेषों से पता लगता है । नदी किनारे के विशाल घाट, उत्तुंग मंदिर, किले, बाड़े, महल, सेतु, मीनार और जंग न खाने वाले धातु के स्तम्भ इतने कितने ही आश्चर्यजनक अवशेष एक सहस्र वर्षों के इस्लामी लूटमार से भी भारत में बचे हुए हैं । तथापि उनके रहस्य के अध्ययन के प्रति किसी का ध्यान नहीं । ऐसी-ऐसी बातों के प्रति ध्यान दिलाना इतिहास-अध्ययन के अनेकों उद्देश्यों में से एक होता है ।

अखिल भारतीय आकाशवाणी के मद्रास केन्द्र से फरवरी १७, १९४५ को किए एक भाषण में वझेजी ने कहा "आज तक भारतीय स्थापत्य कला के बाबत जो भी संशोधन किया गया है उसमें दुर्भाग्यवश उस कला का मुख्य मर्म दुर्लक्षित ही रह गया है । प्राचीन भारतीय स्थापत्य के अध्ययन में भारतीय भाषाशैली, धर्मप्रणाली और पौराणिक कथाएँ आदि का ज्ञान होना आवश्यक है । इंडियन कॉंक्रीट जर्नल (Indian Concrete Journal) के मार्च १९४५ के अंक में वह भाषण छपा है ।

पाश्चात्यों ने यह भ्रम फैला रखा है कि भारतीय लोगों को भूमिति उर्फ ज्यामिति विद्या का ज्ञान होमहवन के लिए कुंड तैयार करने के लिए आवश्यक होता था । और उस गड्ढे तक ही उनका ज्यामिती का ज्ञान सीमित था । इस प्रकार की विचित्र-विचित्र धारणाएँ भारतीय शिक्षा-प्रणाली में अंग्रेजों द्वारा गढ़ देने के कारण भारतीय विद्वज्जन भी उन्हीं को दोहराते रहते हैं ।

होम की अग्नि केवल धार्मिक हवन के लिए नहीं होती थी । हर प्रकार के उद्योग चलाने के लिए जो अग्नि लगती थी उस अग्नि की भट्ठी कई स्थानों पर अविरत, अविश्रांत सुलगी रहती थी जैसे आजकल के कारखानों में चिमनी से धुआँ सतत निकलता रहता है । वर्तमान काल में जैसे कोयला या लकड़ी की अग्नि, विद्युत और आणविक ऊर्जा आदि विविध प्रकार की तापशक्ति से उद्योग चलते हैं वैसे ही प्राचीन काल में

भी होता था। प्राचीन शस्त्रास्त्र और विविध प्रकार के प्रभावी किरणों के जो उल्लेख प्राचीन साहित्य में विद्यमान हैं उनसे उस युग के प्रगत उद्योगों की कल्पना की जा सकती है।

अतः बझे जी ने स्वयं प्राचीन औद्योगिक क्षमता का संशोधनात्मक अध्ययन करना शुरू किया और पड़ताल की कि १६ विद्या और ६४ कलाओं का प्राचीन उल्लेख उचित है। भृगुशिल्पसंहिता नाम के प्राचीन संस्कृत ग्रंथ में उन सब विद्या और कलाओं की समीक्षा है। उनका वर्गीकरण बझे जी ने निम्न प्रकार से किया है—

प्राचीन यन्त्र-शास्त्र की विद्याएँ (Engineering)

(१) खुदाई और प्राप्तिखण्ड (२) वितरण खण्ड (३) निर्माण खण्ड

(१) खुदाई और प्राप्तिखण्ड

१.१ जीवविज्ञान (मनुष्य, पशु-पक्षी, वनस्पति)
- १.१.१. जनन
- १.१.२. संस्कृति
- १.१.३. पोषण

१.२ जलविज्ञान
- १.२.१ खुदाई से—कुएँ
  - —बावली
  - —जलकुण्ड
- १.२.२ जलकुण्ड
- १.२.३ निर्मित—केनाल (नहर)
  - —तालाब
- १.२.४ वितरण
- १.२.५ बहावजल
  - —पथरीली
  - —गहरी धाराएँ
  - —रेतीली धाराएँ

१.३ खुदाई
- १.३.१ तोड़ना
  - —धातु (सोना, चाँदी, तांबा)
  - —पत्थर
  - —शिलाफलक
- १.३.२ चूने का प्रभाव
  - —एक बार जला (ईंट, काँच, चूना)
  - —दो बार जला (सीमेण्ट) (धातु—सीसा, टिन, इस्पात, लोहा, मैंगानीज)
- १.३.३ मिश्रण
  - —पीतल
  - —बारूद
  - —सिल्वर (चाँदी नहीं)
  - —जस्ता
- १.३.४ अलगाव

उस समय यन्त्रशास्त्र की पुस्तकों के लिए जो नाम साधारण रूप से प्रचलित थे, वे क्रमशः इस प्रकार के थे—

(i) सम्पूर्ण यन्त्रशास्त्र—संहिता कहलाता था।
(ii) मुख्य विभाग —खण्ड कहलाते थे।
(iii) उपविभाग —विज्ञान कहलाते थे।
(iv) विद्याएँ —विद्या कहलाती थी।
(v) तकनीक —कला या तन्त्र कहलाते थे।

वैदिक शिल्पशास्त्र के कुछ ज्ञात ग्रन्थ

श्रीकृष्ण विनायक बझे द्वारा संग्रहीत ४०० संस्कृत रचनाओं की सूची 'हिन्दी शिल्पशास्त्र' (पृ० १६-२०) नामक पुस्तक में मिलती है। इसे भारत इतिहास संशोधक मण्डल पुणे (४११०३०) ने प्रकाशित किया है।

१. विश्वभेदिनी कोश
२. शंखस्मृति
३. शिल्प-दीपिका
४. वास्तुराज वल्लभ
५. भृगुसंहिता
६. मयमत
७. मानसार
८. अपराजित पृच्छा
९. समरांगण सूत्रधार
१० काश्यप संहिता
११. बृहत्पाराशरीय कृषि
१२. निःस्सारह
१३. शिगृ
१४. सौरसूक्त
१५. आराम रचना
१६. मनुष्यालय चन्द्रिका
१७. राजगृह-निर्माण
१८. दुर्ग-विधान
१९. वास्तु-विद्या
२०. युद्ध जयार्णव

कुछ अन्य ग्रन्थों का परिचय पृष्ठ २३० पर दिखाया गया है—

	ग्रन्थ का नाम	लेखक	प्रकाशक	पृष्ठ संख्या	विशेषता
२१.	काश्यप शिल्पम्		(८८ अध्याय) आनन्दाश्रम, पुणे	२७८	कृष्ण विनायक वझे द्वारा सम्पादित प्राचीनतम ज्ञात शिल्पग्रन्थ
२२.	आर्यशिल्प (हिन्दी यन्त्रशास्त्र)	बालशास्त्री क्षीरसागर	कालिकाप्रसाद मुद्रणालय, पुणे-२	४६	भूयन्त्र, जलयन्त्र, वायुयन्त्र तेजोयन्त्र, आकाशयन्त्र का वर्णन। (शिवलिंगों के भी ऐसे ही विभाग हैं)।
२३.	प्राचीन युद्ध-विद्या (१०वाँ संस्करण)		सयाजी साहित्य-माला बड़ोदरा (चौदह अध्याय)	१४४	युद्धतन्त्र, शस्त्र, मूसलास्त्र, आग्नेयास्त्र इत्यादि।
२४.	मानसार वास्तुशास्त्र	डॉ० प्रसन्नकुमार आचार्य	(सात भाग) ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, प्रयाग		सुपरिन्टेन्डेण्ट गवर्णमेण्ट प्रेस, प्रयाग से प्राप्त की जा सकती है।
२५.	मन्त्र चिन्तामणि	चक्रधर	मथुरा और वाराणसी से प्रकाशित		वेधशालाओं के यन्त्रों का वर्णन
२६.	Vedic Magazine लाहौर, अक्तूबर, नवम्बर १९२८				प्राचीन हिन्दू यन्त्रशास्त्र के लेख उन अंकों में प्रकाशित हैं।
२७.	Yantras or Mechanical Contrivances in Ancient India	डा० व्ही० राघवन्	Indian Institute of Culture, Basavangudi बँगलौर		प्राचीन भारतीय यन्त्रों का विवरण

ब्रिटिश ज्ञानकोश (Encyclopaedia Britannica), खण्ड १४ (पाँचवाँ संस्करण, सन् १९१५) में लिखा है कि "सन् १५४५ में सुइयों का निर्माण प्रथम बार इंग्लैण्ड में एक भारतीय ने किया था, किन्तु उसकी मृत्यु पर वह कला लुप्त हो गई। सन् १५६० में बकिंग हैमशायर निवासी क्रिस्टोफर ग्रीनिंग ने फिर सुइयों का निर्माण प्रारम्भ किया जो अभी तक चल रहा है।" सखेद आश्चर्य की बात है कि प्राचीनकाल में आंग्लभूमि में सुइयाँ भी एक भारतीय व्यक्ति बनाता था। भारत में अंग्रेजी शासन जम जाने के पश्चात् बड़े यन्त्रों से सुई तक सारी औद्योगिक सामग्री भारत को इंग्लैण्ड से खरीदनी पड़ने लगी। यह घटना हमारे पूर्वकथित निष्कर्ष को प्रमाणित करती है कि व्यक्तिगत जीवन की भाँति देश-प्रदेश, जन-समूह और राष्ट्रों के भाग्य पलटा खाने पर राव (राजा) को रंक और रंक को राव बना देता है। जो किसी समय ज्ञान, विज्ञान, भौतिक कौशल और आध्यात्मिक शिखर पर होते हैं वे अन्य समय में पिछड़ भी जाते हैं।

कभी भारत कला, संस्कृति, विज्ञान, चरित्र आदि सभी दृष्टियों से अग्रगण्य देश माना जाता था, किन्तु सैनिकी आक्रमण और लूटमार के कारण वह निर्धन, दुर्बल और मरणासन्न देश बन गया।

खनिज-विषयक प्राचीन ग्रन्थ

(१) रत्न-परीक्षा, (२) लोहार्णव, (३) धातुकल्प, (४) लोहप्रदीप, (५) महावज्र, (६) भैरवतन्त्र, (७) पाषाण-विचार।

उक्त विषयों पर कुछ आधुनिक लेखकों के भाष्य भी उपलब्ध हैं। जैसे Metals in Ancient India। मुंबई नगर के सेण्ट झेवियर्स कॉलेज के प्राध्यापक आर० एन० भागवत ने प्राचीन खनिजशास्त्र और धातुशास्त्र का अध्ययन-संशोधन कर वह ग्रन्थ लिखा है।

नारद शिल्पशास्त्रम् नाम के एक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ का सम्पादन-प्रकाशन International Institute of Sanskrit Research, मैसूर ने किया है।

नमूने के लिए हम यन्त्रार्णव नाम के एक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ में से कुछ भाग आगे उद्धृत कर रहे हैं—

दण्डैश्चक्रैश्च दंतैश्च सरणिभ्रमणादिभिः ।
शक्तेरुत्पादनं किं वा चालनं यन्त्रमुच्यते ॥

यानी दण्ड, चक्र, दन्त और सरणि के भ्रमण से शक्ति-उत्पादन या गति-निर्माण करने वाली विधि-व्यवस्था को यन्त्र कहते हैं।

अब समरांगण सूत्रधार ग्रन्थ के ३१वें अध्याय के कुछ उद्धरण नीचे दिए जा रहे हैं—

कस्यचित्का क्रिया साध्या, कालः साध्यस्तु कस्यचित् ।
शब्दः कस्यापि चोच्छ्रायोरूपस्पर्शौ च कस्यचिद् ॥
क्रियास्तु कार्यस्य वशादनंत्ताः परिकीर्तिताः ।
तिर्यगूर्ध्वमधः पृष्ठपुरतः पार्श्वयोरपि ॥
गमने सरणं पातः इति भेदाः क्रियोद्भवाः

इन पंक्तियों में विविध यन्त्रों की क्रियाओं का वर्णन इस प्रकार है—

(१) कुछ यन्त्र एक ही क्रिया बार-बार करते रहते हैं।

(२) कुछ यन्त्र समय-समय पर अथवा विशिष्ट कालान्तर में अपनी निश्चित कृति करते रहते हैं। (उदाहरणार्थ—बिजली के पंखे)।

(३) कुछ यन्त्र विशिष्ट ध्वनि उत्पन्न करने के लिए या ध्वनि-संचलन या परिवर्तन के लिए होते हैं (जैसे आकाशवाणी और दूरदर्शन)।

(४) कुछ यन्त्र विशिष्ट क्रियाओं के लिए या वस्तुओं का आकार बड़ा या छोटा करना, आकार बदलना या धार चढ़ाने के लिए होते हैं (जैसे आधुनिक 'लेथ' यन्त्र होते हैं)।

अच्छे, कार्यकुशल यन्त्रों के गुण प्राचीन वैदिक यन्त्रविद्या में निम्न प्रकार वर्णित है—

यथावद्वीजसंयोगः सौश्लिष्ट्यं श्लक्ष्णतापि च ।
अलक्षता निर्वहणं, लघुत्वं शब्दहीनता ॥
शब्दे साध्ये तदाधिक्यं, अशैथिल्यं अगाढता ।
वहनीषु समस्तासु सौस्लिष्ट्यं चास्खलद्गतिः ॥
यथाभिष्टार्थकारित्वं लयतालानुयमिता ।
इष्टकालेर्थदर्शित्वं, पुनः सम्यक्त्व संवृत्तिः ॥

यानी (१) समयानुसार स्वसंचालन के लिए यन्त्र से शक्ति-निर्माण होता

रहना चाहिए। (२) यन्त्रों की विविध क्रियाओं में सन्तुलन एवं सहकार हो। (३) सरलता से, मृदुलता से चले। (४) यन्त्र को बार-बार निगरानी की आवश्यकता न पड़े। (५) बिना रुकावट के चलता रहे। (६) जहां तक हो सके यान्त्रिक क्रियाओं में जोर या दबाव नहीं पड़ना चाहिए। (७) आवाज न हो तो अच्छा; हो भी तो बड़ी धीमी। (८) आवश्यकता पर ध्यानाकर्षण के लिए यन्त्र से सावधानता की ध्वनि निकलनी चाहिए। (९) यन्त्र ढीला, लड़खड़ाता या कांपता न हो। (१०) अचानक बन्द हो जाना या रुकना, ऐसा नहीं होना चाहिए। (११) उसके पट्टे व अन्य पुर्जों का यन्त्र से गाढ़ा सम्बन्ध होना चाहिए। (१२) यन्त्र की कार्य-प्रणाली में बाधा या रुकावट नहीं आनी चाहिए। (१३) उससे उद्दिष्टपूर्ति होनी चाहिए। (१४) वस्तु-उत्पादन में आवश्यक परिवर्तन आदि यान्त्रिक-क्रिया अपने आप होती रहनी चाहिए। (१५) सुनिश्चित क्रम से यन्त्र की क्रिया होती रहे। (१६) एक क्रिया का दौर पूर्ण होते ही यन्त्र मूल स्थिति पर यानी आरम्भ की दशा पर लौट जाना चाहिए। (१७) क्रियाशीलता में यन्त्र का आकार ज्यों-का-त्यों रहना चाहिए और उसका कोई हिस्सा टूट-फूट नहीं जाना चाहिए। (१८) यन्त्र शक्तिमान हो। (१९) उसकी कार्यविधि सरल और लचीली हो। (२०) यन्त्र दीर्घायु होना चाहिए।

विद्युत तन्त्र

प्राचीन संस्कृत परिभाषा में बिजली के लिए कितने ही शब्द हैं। इससे स्पष्ट है कि विविध स्रोतों की बिजली प्राचीनकाल में ज्ञात थी। उस प्राचीन वैदिक वैज्ञानिक परिभाषा में उत्तरीध्रुव को 'मित्र' और दक्षिणीध्रुव को वरुण, ऐसी संज्ञा है। दोनों का इकट्ठा उल्लेख मैत्रावरुणी नाम से होता है। ऑक्सीजन (Oxygen) को प्राणवायु कहते थे। हायड्रोजन (Hydrogen) को उदानवायु कहते थे।

अगस्त्य संहिता में तांबा और झिंक (Zinc) से बनी बैटरी (battery) का उल्लेख है। सन् १९५५ के मार्च १९ के शिल्पसंसार (पुणे नगर से प्रकाशित होने वाला मराठी मासिक) में कृष्णाजी वझे का लिखा उस

बैटरी का एक विवेचनात्मक लेख प्रकाशित हुआ है। उससे प्राचीन संस्कृत वैज्ञानिक ग्रन्थ और शास्त्रतन्त्र की कुछ कल्पना आती है। उदाहरणार्थ मिट्टी के पात्र का घृताची नाम था। जिस कुम्भ में जल प्रवेश न कर सके उसे 'अप्सरा' कहा करते थे। बैटरी Cell (सेल) को कुम्भ कहते। अत: जहाँ अनेक छिद्र, कक्ष आदि एकसाथ इकट्ठे हों, उसे शतकुम्भ कहा जाता था। उसी संस्कृत शब्द को यूरोपीय भाषाओं में Cata (शत), Cumb (कुम्भ) ऐसा लिखते-लिखते अंग्रेजी कॅटॅकोंब (catacomb) शब्द बन गया जिसका अर्थ है—सैकड़ों कक्ष या छिद्र, जैसे मधुमक्खियों के छत्ते में होते हैं। यूरोपीय भाषाओं में 'C' अक्षर का उच्चार अनाधूत कहीं स-श-च-सी-ओ-थी ऐसा होता है या 'क' ऐसा होता है। अत: शतकुम्भ शब्द का यूरोपीय उच्चारण कॅटॅकोम्ब हुआ। उसी प्रकार 'मृदु' शब्द को वे 'स्मूथ' (Smooth) कहते हैं। उसमें प्रारम्भिक अक्षर 'S' वर्जित करके mooth शेष रह जाता है जो 'मृदु' शब्द का ही अशुद्ध उच्चारण है। यह छुटपुट उदाहरण हैं जिनसे पता चलता है कि विश्व की सारी भाषाएँ संस्कृत से ही निकली हैं। आगे इसी ग्रन्थ में एक स्वतन्त्र अध्याय में हम इस तथ्य की चर्चा करने ही वाले हैं।

प्राचीन वैदिक वैज्ञानिकों को छह प्रकार की बिजली ज्ञात थी—

(१) तडित्—जो चमड़े या रेशम के घर्षण से उत्पन्न होती है।

(२) सौदामिनी—काँच या रत्नों के घर्षण से निर्माण की जाने वाली।

(३) विद्युत्—मेघ या वाष्प (भाप) से उत्पन्न होने वाली।

(४) शतकोटि उर्फ शतकुम्भी—जो बैटरी से निकलती है।

(५) ह्रदिनि—जो बैटरी के कुम्भों में संचित की जाती थी।

(६) अशनि—चुम्बकीय दण्ड से उत्पन्न होने वाली।

इससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि रामायण और महाभारत में जिन आश्चर्यकारी यन्त्र-तन्त्र और अस्त्र-शस्त्रों का वर्णन है वे सब निर्माण करने वाली औद्योगिक वैज्ञानिक तान्त्रिक क्षमता प्राचीन समय में अस्तित्व में थी।

प्राचीन खगोल ज्योतिष और ऋतुमान का अध्ययन और निरीक्षण

करनेवाली वेधशालाएँ भी प्राचीन वैदिक विश्व में स्थान-स्थान पर बनी हुई थीं। उदाहरणार्थ आंग्ल द्वीपों में stonehenge (स्तवनकुंज) में, रशिया में, चीन में और भारत में।

काव्य में समग्र साहित्य

सारा प्राचीन वैज्ञानिक ज्ञान भी तालबद्ध गेय-काव्य में होने के कारण उसे पढ़ने में और मुखोद्गत करने में आसानी होती थी और रुचि भी।

वैदिक परम्परा में प्रत्येक क्षेत्र के उच्चतम विद्वानों को कवि इसलिए कहा जाता था कि वे अपना ज्ञान प्रासादिक और सरल काव्य में डालने की क्षमता प्राप्त कर लेते थे। आजकल के डॉक्टरेट (Ph-D.) के स्तर की वह उपाधि थी। किन्तु उस वैदिक विद्वान् का सर्वांगीण ज्ञान-व्यवहार-आचार-बर्ताव आदि का स्तर वर्तमान Ph-D. से इतना ऊँचा था जितना हिमालय का उच्चतम शिखर एक गाँव के टीले से ऊँचा होता है। क्योंकि वर्तमान Ph-D. धूम्रपान, दारू आदि पीने के व्यसन हो सकते हैं। वह बड़ा वेतन पाकर हर प्रकार की मौज उड़ाता रहता है—टेनिस खेलना, क्लब में जाना, छुट्टियाँ मनाना इत्यादि। वैदिक विद्वान् का आचरण सदा शुद्ध, सादा, वेतनहीन और सर्वकाल पठन-पाठन संशोधन या धार्मिक मनोरंजन (रामलीला, कृष्णलीला, काव्य, संगीत) का होता था। इसी तथ्य को दोहराने वाली संस्कृत उक्ति है—

> काव्यशास्त्र विनोदेन कालोगच्छति धीमताम्।
> व्यसनेन तु मूर्खाणाम् निन्द्रया, कलहेन वा॥

व्यक्ति चाहे कितना भी विद्वान् हो उसका आचरण यदि सादा, शुद्ध और ध्येयरत न हो तो वैदिक परम्परा में उसे हीन ही समझा जाता था।

नीतिमत्ता, मितव्यय, स्थितप्रज्ञता, प्रातरोत्थान, प्रार्थना, योगाभ्यास, स्वाध्याय, प्रतिज्ञापालन, समयबंधन, बड़ों के प्रति पूज्यभाव, प्राणिमात्र की सेवा, सत्यनिष्ठा, क्रोध-ईर्ष्या लालच का त्याग, दुर्गुणों और व्यसनों से दूर, दूसरे को नीचा दिखाने की मनोवृत्ति न होना, पर-स्त्रियों के प्रति पूज्यभाव, तम्बाकू, भांग आदि अपायकारक पदार्थों को स्पर्श न करना, अपरिग्रह ऐसे गुण आत्मसात् करने वालों को ही वैदिक परम्परा में समान

बीम्य माना जाता था। ऐसे कड़े नियमों के कारण शासन में गुणी लोगों का ही समावेश होता था। अनाचार, भ्रष्टाचार करने की गुंजाइश ही नहीं होती थी। साहूकारी आदि व्यवसाय निचले शूद्र स्तर के समझे जाते थे। ऐसे नियमबद्ध जीवन से समाज में शान्ति-समाधान और कर्त्तव्यपालन की प्रवृत्ति होती थी। लोग दीर्घायु होते थे। उनका आरोग्य अच्छा होता था। सारे निजी कर्मकाण्ड को कर्त्तव्य समझकर पूरा करते थे। ऐसा जीता-जागता प्राचीन शांत-सुखी-कार्यमग्न वैदिक जीवन प्रणाली का प्रत्यक्ष नमूना वर्तमानयुग में सौभाग्यवश बाली द्वीप में उपलब्ध है। वहाँ के लोग प्राचीन वैदिक पद्धति के अनुसार जीवन बसर करते हैं।

ब्राह्मणत्व

किसी भी क्षेत्र में उच्चतम स्तर को वैदिक प्रणाली में 'ब्राह्मण' कहा जाता था। किसी भी कुल में जन्मा व्यक्ति मनुमहाराज की उक्ति के अनुसार निजी योग्यता बढ़ाते-बढ़ाते ब्राह्मणपद पर पहुँच सकता था यदि वह (१) निष्पाप शुद्धाचरणी जीवन-यापन करता है (२) अध्ययन त्याग और निष्ठा से करे, (३) स्वतंत्र जीविका उपार्जन करता हो, (४) उसका दैनंदिन कार्यक्रम आदर्श हो। अतः मनुमहाराज कहते हैं—

> अस्मद् देशप्रसूतस्य सकाशात अग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

इस देश में तैयार किए गए ब्राह्मणों से विश्व के सारे मानव आदर्श जीवन सीखें।

अतः ब्राह्मणत्व कोई मुहर नहीं थी और न ही ऐशोआराम का जीवन बिताने का दाखला। अपितु केवल सेवाभाव से अपने आपको बिना वेतन, दीर्घकाल तक सेवा भाव से किसी कार्य में जुटा लेना ही ब्राह्मणत्व कहलाता। यद्यपि शूद्र ऊपर कहा कड़ा धार्मिक-आध्यात्मिक आचार नहीं रखते थे तथापि उन्हें भी मनुष्य के नाते प्रायः ४ या ४॥ बजे जाग जाना और निष्ठा तथा संयम से निजी कर्त्तव्य निभाना यह नियम लागू थे।

वर्णों का ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य आदि वर्गस्तर वैदिक संस्कृति के हर क्षेत्र में प्रयोग होते थे। जैसे पशु, धातु, पत्थर आदि भी शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय

या ब्राह्मण स्तर के कहलाते। 'अपने-अपने वर्ण में कर्त्तव्यनिष्ठ रहने से ही इन्द्रलोक में पुण्य और परलोक में मुक्ति प्राप्त होती है' इस वैदिक सिखलाई के कारण निजी सामाजिक सीमाओं का उल्लंघन करने का विचार किसी के मन में आता ही नहीं था।

विमान शास्त्र

इस विषय की संस्कृत में कई रचनाएँ हैं जिनमें एक बृहद् विमानशास्त्र कहलाता है। आंग्ल अनुवाद और टिप्पणियों सहित इसका आधुनिक संस्करण भी उपलब्ध है। Institute of Science, बंगलौर ने इसे परखकर उसकी उपयुक्तता का हवाला दिया है।

सन् १८९५ में श्रीधर बापुजी तलपदे नाम के व्यक्ति ने मुम्बई नगरी में प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन करके एक विमान बना लिया था। बम्बई के चौपाटी नाम के सागर किनारे पर उसकी उड़ान भी करके बतला दी थी। किन्तु तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने उस समाचार को उसी तरह दबा दिया जिस प्रकार स्वतंत्र भारत में १९६४ से मेरे उस सिद्धांत को कांग्रेसी सरकार दबा रही है जिसके अनुसार विश्व की सारी ऐतिहासिक दरगाहें और मस्जिदें हिंदू-भवन हैं। इससे इतिहास संशोधकों को यह सबक सीखना चाहिए कि शोध चाहे कितना ही उच्चकोटि का क्यों न हो यदि सरकारी यंत्रणा अनुकूल न हो तो वह शोध अज्ञात रह जाता है।

वैदिक गणित के सूत्र

जगन्नाथपुरी के एक शंकराचार्य भूतपूर्व जगद्गुरु स्वामी भारतीकृष्ण जी ने अनेक खण्डों का एक गणित का ग्रंथ रचा। उसका शीर्षक था वैदिक गणित (Vedic Mathematics)। दुर्भाग्यवश उस ८-९ खंडों की मूल पाण्डुलिपि प्रकाशन पूर्व ही किसी शिष्य ने या मुद्रक ने खो दी। तब स्वामी भारती कृष्णजी ने उसे दुबारा लिखना प्रारम्भ किया। उस समय वे अमेरिका की यात्रा पर थे। वह बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय द्वारा सन् १९६५ में प्रकाशित हुई।

कहते हैं कि आठ वर्ष साधना करके उन सूत्रों को शंकराचार्यजी ने

अथर्ववेद से खोज निकाला था। उन सूत्रों द्वारा गणित की किसी भी शाखा का कोई भी उदाहरण हल किया जा सकता है। पाश्चात्य विद्वान् उस ग्रंथ से प्रभावित होकर निजी विद्यालयों में इस ग्रंथ के आधार से गणित की शिक्षा दी जा रही है जबकि हमारे अपने भारत में उस ग्रंथ को तिरस्कृत या उपेक्षित रखा जा रहा है। मुंबई के टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च (Tata Institute of Fundamental Research) ने उस ग्रन्थ को अनुपयुक्त कहकर निजी ग्रन्थालय में खरीदने से इन्कार किया।

उधर पुणे के भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध-संस्थान के विद्वानों ने वक्तव्य दे मारा कि उक्त ग्रंथ को 'वैदिक' कहना सर्वथा अयोग्य है क्योंकि उस गणित ग्रन्थ में दिए गए सूत्र अथर्ववेद तो क्या अन्य किसी भी वेद में नहीं है। तो किसी ने कहा कि अथर्ववेद के परिशिष्ट भाग में वे सूत्र हैं। उस पर विरोधकों ने कहा परिशिष्ट भाग में भी वे सूत्र अंतर्भूत नहीं हैं। इस प्रकार यह विवाद चलता रहा।

इस प्रकार विवाद छेड़ने के बजाय उन सूत्रों के महत्व को समझकर भण्डारकर प्राच्यविद्या शोध संस्थान और अन्य उच्च संस्थाओं को चाहिए था कि वे भारतीकृष्ण जी को आदर से निमंत्रण देते और उनके चरणों के पास बैठकर वह कुंजी या खूबी प्राप्त कर लेते जिससे कि वेदों से ऐसे महत्वपूर्ण सूत्र कैसे निकाले जा सकते हैं जो विद्या के हर क्षेत्र में उच्चस्तरीय खजाना उपलब्ध करा सकते हैं। शंकराचार्य जी द्वारा उद्धृत किए सूत्र यदि बड़े उपयुक्त हैं तो वे वेद में पाए नहीं जाते आदि विवाद निरर्थक था। और यदि वैदिक स्रोत का पता लगाना ही था तो शंकराचार्य जी से ही पूछते कि "आपने यह सूत्र वेदों से कैसे और कहाँ से निकाले ?

शंकराचार्य जी के 'वैदिक गणित' ग्रन्थ में निम्न सूत्र उल्लिखित हैं—

१६ मुख्य सूत्र	१४ उप-सूत्र
१. एकाधिकेन पूर्वेण	१. आनुरूप्येण
२. निखिलं नवतः चरमं दशतः	२. शिष्यते शेषसंज्ञः
३. ऊर्ध्व तिर्यग्भ्याम्	३. आद्यमाद्येनान्त्यमन्त्येन
४. परावर्त्य योजयेत्	४. कवलैः सप्तकं गुण्यात्

मुख्य सूत्र	उप-सूत्र
५. शून्यं साम्यं समुच्चये	५. अन्त्ययोर्दशकेऽपि
६. (आनुरूप्ये) शून्यमन्यत्	६. अन्त्ययोरेव
७. व्यष्टि समष्टि	७. समुच्चय गुणितः
८. सोपान्त्यद्वयमंत्यन्	८. लोपना स्थापनाभ्याम्
९. एकन्यूनेन पूर्वेण	९. विलोकनम्
१०. संकलन व्यव कलनाभ्याम्	१०. वेष्टनम्
११. पूरणा पूरणाभ्याम्	११. यावदुनं तावदुनम्
१२. चलन कलनाभ्याम्	१२. यावदुनं तावदुनीकृत्य वर्ग च योजयेत्
१३. यावदुनम्	१३. गुणित समुच्चयः, समुच्चयगुणितः
१४. शेषान्यंकेन चरमेण	१४. चक्रवत्
१५. गुणित समुच्चयः	
१६. गुणक समुच्चयः	

हमारे निष्कर्ष की पुष्टि

ऊपर कहे विवाद से हमारे निष्कर्ष की पूरी पुष्टि होती है। हम यह कह चुके हैं कि वेदों में सांकेतिक भाषा में और अति संक्षेप में इस विश्व की यंत्रणा के उच्चतम रहस्य ग्रंथित हैं। किसी ज्ञानी, संस्कृतज्ञ, तपस्वी व्यक्ति को एकाग्र चिंतन-मनन से वे प्राप्त हो सकते हैं। भारती कृष्णजी ने वह कर दिखलाया।

विरोधकों का आक्षेप है कि वे सूत्र ज्यों के त्यों वेदों में उपलब्ध नहीं हैं। बिल्कुल ठीक। हम भी तो वही कह रहे हैं भाईसाहब कि वेदों की सांकेतिक भाषा से समाधिस्थ अवस्था में लीन होकर वेदों के इधर-उधर के स्वर, अक्षर आदि जोड़-जाड़कर विविध विद्याओं के सूत्र बनाए जाएं तभी तो वे बनेंगे। भारतीकृष्ण जी ने वही किया। थाली परोसकर नौकर जैसा तैयार भोजन अतिथि के सम्मुख रख देता है वैसी ज्ञान की थालियाँ भर-भरकर वेदों में तैयार थोड़ी ही रखी हैं। वह गूढ़ ज्ञान तो भिन्न-भिन्न अक्षर जोड़-जोड़कर ही प्राप्त करना होगा। विश्वविद्यालयों में वेदों की शिक्षा छात्रों को देने वाले नौकरीपेशा प्राध्यापकों और शंकराचार्य जी

जैसे निरासक्त ज्ञानी तपस्वी में यही तो अन्तर है। सागर पर से उड़ान कर लंका पर हमला करने वाले वानरों को सागर की गहराई का पता कैसे चले? वह गहराई तो सागरमंथन के लिए पाताल तक डूबा हुआ मोटा मंदार पर्वत ही जान सकता है—ऐसी संस्कृत की एक कहावत है। वही अन्तर वेदोपनिषदों के कालिजी शिक्षा में और आश्रमीय पढ़ाई में है।

शुष्क विवाद में विद्वानों ने समय गँवाया। उधर प्रकाशक ने या शिष्य ने उस ग्रन्थ के विविध खण्डों की पाण्डुलिपि खोदी। कुछ वर्ष पश्चात् भारतीकृष्णजी चल बसे और उनका वैदिक गणित का अनमोल रहस्य उनके साथ ही चला गया। जो सारे गणितज्ञ उनसे लाभ उठा सकते थे वे सूखे के सूखे ही रह गये।

हमारा भी वही हाल

मेरा भी वही अनुभव है। मैंने इतिहास के क्षेत्र में अनेक अप्रतिम शोध लगाए हैं। उदाहरणार्थ सारी ऐतिहासिक दरगाहें, मस्जिदें और नगर अपहृत संपत्ति होने के कारण इस्लामी स्थापत्य और नगरनिर्माण के सिद्धान्त निराधार हैं; विश्व के आरम्भ से ईसाई धर्म प्रसार तक सारे विश्व में वैदिक संस्कृति ही प्रसृत थी; सारी भाषाएँ संस्कृत से ही निकली हैं—इत्यादि-इत्यादि। यह सारे तथ्य ढूंढ़ निकालने की पद्धति, मेरे अनेक सिद्धान्त आदि का रहस्य मेरे से सीखने के बजाय मेरे समकालीन विद्वान् लोगों ने मेरे संशोधन का विरोध करने में, उसे दबा देने में या उसके बावत पूरा मौन बरतने में ही अपनी सारी शक्ति खर्च की।

मुझे ५,००० ग्रन्थ लिखकर लुप्त इतिहास के अनेक रहस्य विश्व को उपलब्ध कराने थे—उसके लिए साधन-सामग्री जनता ने मुझे उपलब्ध नहीं कराई। विश्व में प्रारम्भ से ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव तक सर्वत्र वैदिक समाज जीवन, वैदिक शासन, गुरुकुल शिक्षा और संस्कृत भाषा का ही प्रसार था—यह बहुमूल्य ज्ञान विश्व को देने के लिए एक जागतिक वैदिक संस्कृति विश्वविद्यालय की स्थापना हो, ऐसी मेरी आत्यंतिक इच्छा थी किन्तु वह आजतक तो सफल नहीं हुई जबकि अपने अनोखे शोध सिद्धांत, मुझे प्रकट किए बीस वर्ष बीत चुके हैं।

कई बार हितचिंतकों ने मुझसे कहा कि मुझे इतिहास की इस नई संशोधनपद्धति में कुछ शिष्य प्रशिक्षित कर प्रवीण बना देना चाहिए। मेरी भी तो वही हार्दिक इच्छा थी। किन्तु सीखने के लिए कोई शिष्य आना भी तो चाहिए कि जो दिनभर मेरे पास रहें, मेरे पत्र-व्यवहार को पढ़े, मेरे ग्रन्थ और लेख पढ़े, व्याख्यानों में उपस्थित रहे, विविध विषयों के संदर्भ निकालकर दे, मेरे से ऐतिहासिक प्रश्नों पर चर्चा करे, संशोधन के लिए कोई नया विषय चुनकर उस पर भाष्य लिखकर मुझे बताए इत्यादि-इत्यादि। यदि ऐसे परिश्रम करने वाले शिष्य मेरे पास आकर मेरा कौशल न सीखें तो मेरी विद्या किसी को कैसे सिखाई जा सकती थी? क्योंकि यह विद्या कोई ऐसी वस्तु तो नहीं थी जो अपनी गाँठ से निकालकर दूसरे के खीसे में छोड़ दी जा सकती थी या शिष्य के घर में पटक दी जा सकती थी। संगीत कला जैसी ही मेरी इतिहास-संशोधन विद्या लगन और परिश्रम बिना साध्य होना असम्भव था।

दूसरा एक पर्याय था कि कॉलेज में जैसे प्राध्यापक पद पर वेतन देकर विद्वान् नियुक्त किये जाते हैं और उनसे कार्य कराया जाता है उसी प्रकार समाचारपत्रों में विज्ञप्ति देकर आवेदन-पत्र मँगा लिए जाते और वेतन देकर विद्वानों को इस नई इतिहास-संशोधन पद्धति का प्रशिक्षण दिया जाता। किन्तु इसके लिए जनता द्वारा आठ-दस करोड़ रुपयों की निधि इकट्ठा करना आवश्यक था। तभी तो एक इतिहास संशोधन का नया प्रशिक्षण देकर शिक्षित जन तैयार किए जा सकते थे!

किन्तु इन दोनों पर्यायों में से कुछ हो नहीं पा रहा था क्योंकि लोग केवल बोलते हैं। प्रत्यक्ष सहाय देने वाले इतने अल्पसंख्यक होते हैं कि प्रत्यक्ष में कुछ ठोस, दीर्घजीवी कार्य बन नहीं पाता। अन्य सारे यों करो, त्यों करो ऐसे सुझाव देने वाले ही होते हैं। अस्तु।

वेदों से विविध विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करना हो तो केवल संस्कृत भाषा का ज्ञान पर्याप्त नहीं। अन्य किसी विद्या का उच्च ज्ञान और तल्लीनता या समाधिस्थ चिंतन की आवश्यकता होती है। यह न जानते हुए वर्तमान कॉलेजों में संस्कृत-शिक्षक को ही वेद सिखाने का कार्य सौंप देते हैं जो सर्वथा अयोग्य है। ऐसे ऊपरी पठन से वेदों से कुछ पल्ले नहीं पड़ सकता।

प्राचीन वैज्ञानिक प्रगति

पुणे आदि विश्वविद्यालयों में
मेरठ, शिमला (हिमाचल प्रदेश), अविनाश वासुदेव जोशी के एक लेख
भौतिक शास्त्र के प्राध्यापक डॉक्टर Charles Berlitz (चार्लस्
में लिखा है कि "एक अमेरिकी ग्रन्थकार उच्चतम वैज्ञानिक प्रगति
बर्लिट्ज़) का निष्कर्ष है कि प्राचीन भारत ने The Bermuda Triangle (प्रकाशक
की थी। बर्लिट्ज़ की लिखी पुस्तक में एक अध्याय का शीर्षक है
Avon Books, NewYork. 1975) यानी प्रागैतिहासिक काल के कुछ
The Surprises of Pre-History कि प्राचीन भारतीय सभ्यता
आश्चर्य। बर्लिट्ज़ ने उस अध्याय में कहा है ४००० वर्ष नहीं) प्राचीन हो
हजारों वर्ष (यानी पचास सहस्र वर्ष, केवल पुराणादि प्राचीन संस्कृत
सकती है। वेदोपनिषद्, रामायण, महाभारत, अनुवादित हुए। उस
ग्रन्थ जर्मन और आंग्ल भाषाओं में १९वी शताब्दी में प्रगति नहीं हुई थी। अतः
समय पाश्चात्य देशों में कोई विशेष वैज्ञानिक बाँब आदि के उन ग्रन्थों
विमान, रॉकिट्स (rockets), मूसल(missiles), से लगे। मैक्समूलर,
में के उल्लेख पाश्चात्य जनों को केवल कपोलकल्पित विद्वानों ने प्राचीन
विटरनिटज़्, सर विलियम जोन्स् आदि कई पाश्चात्य उनके उस कथन से
संस्कृत साहित्य पर अपने-अपने विचार प्रकट किये। संस्कृत साहित्य में मन-
विद्वज्जनों में सर्वत्र यही मत फैल गया कि प्राचीन भारतीय विद्वानों ने
गढ़न्त बातों की ही भरमार है। दुर्भाग्यवश आधुनिक कुछ ही वर्षों में
भी वही मत दोहराया। और उसके तुरन्त पश्चात् विमान आदि का निर्माण
पाश्चात्य देशों में बॉम्ब्, रॉकिट्, मिसाइल्स, साहित्य पढ़ा जाए तो
आरम्भ हुआ। इस सन्दर्भ में यदि प्राचीन भारतीय केवल कवि कल्पना नहीं।
पता लगता है कि वह सही इतिहास है, का केवल उल्लेख ही नहीं
प्राचीन भारतीय साहित्य में विविध शस्त्रास्त्रों

---

१. सन् १९८१ का वार्षिक शोध अंक (Institute for Rewriting Indian History, नई दिल्ली, द्वारा प्रकाशित) में Technological Development in Ancient India लेख।

अपितु बॉंब, रॉकिट आदि बनाने की विधि, उनका ईंधन और वे किस प्रकार छोड़े जाते थे, इसका ब्यौरा भी महाभारत, पुराण और अन्य ग्रन्थों में कहीं-कहीं आया है।

ज्यूल्स् व्हर्न (Jules Verne) नाम के एक लेखक ने एक सौ वर्ष पूर्व जो ग्रन्थ लिखकर भविष्य के अस्त्र, वाहन आदि के सम्बन्ध में निजी अनुमान प्रकट किये थे वैसे कपोलकल्पित कथन और महाभारत आदि ग्रन्थों में जो ऐतिहासिक वर्णन है इनमें असली-नकली की पहचान करने के लिए अपने आपको उस अवस्था में डालकर विचार करना चाहिए। उदाहरणार्थ विमान की उड़ान पर यदि कोई कवि कल्पित वर्णन लिखे तो वह अधिक-से-अधिक उसकी तेज गति और ऊपर से दीखने वाले घर, वृक्ष मानव आदि छोटे दीखते थे ऐसा लिखेगा। किन्तु बर्लिट्ज़ ने पुष्पक विमान में हवाई यात्रा कर रहे प्रभु रामचन्द्र और सीताजी का रामायण में उद्धृत संवाद का हवाला देकर कहा है कि क्षितिज कितना सुन्दर दीखता था उसका भी उन दोनों के संभाषण में उल्लेख है। उससे बर्लिट्ज़ का निष्कर्ष है कि वह आँखों देखा हाल ही होना चाहिए। उसी प्रकार वैज्ञानिक प्रवीणता के प्राचीन ग्रन्थों में के उल्लेख भी वास्तववादी ही होने चाहिएं।"

धातु शोधन-तंत्र

भारद्वाज नाम के एक प्राचीन ऋषि ने संकलित किये हुए एक संस्कृत ग्रन्थ में यंत्रविधि, धातुशोधन कला, रत्नतंत्र आदि अनेक प्रकार के तंत्र और कलाएं वर्णित हैं। उनका उल्लेख और विवरण देने वाले कुछ आधुनिक ग्रन्थों के शीर्षक हैं—Sanskrit Wisdom, Sanskrit Civilization, Sanskrit Vistas and Diamonds, Mechanisms, Weapons of War and Yoga Sutras. संकलक, प्रकाशक है G. R. Joyser, संस्थापक International Academy of Sanskrit Research, मैसूर।

जॉयसरजी के ग्रन्थ में कहा गया है कि प्राचीन वैदिक विज्ञान द्वारा तीन धातुओं के सम्मिश्रण से 'वीरलोह' उर्फ 'वीर' बनाया जाता था। उसमें

क्षिवक, प्रर्जुनिक ग्रौर कान्त(Kanta)यानी लोहचुम्बक ३ : ६ : ५ के प्रमाण में द्रव ग्रवस्था में मिलाए जाते थे। सिद्ध हो जाने के पश्चात् उस समिश्र धातु पर ग्रग्नि, जल, वायु, विद्युत, तोफ, गोला-बारूद ग्रादि से कोई क्षति नहीं पहुँचती थी। वह दृढ़ वजन में हल्का ग्रौर सुनहरे रंग का होता था।

पंचमुख यंत्र

यह एक वाहन था। इसके चार दिशाग्रों में चार ग्रौर शीर्ष पर एक ऐसे कुल पांच गवाक्ष होते थे। वाहन का भार १७० रत्तल होता था। विद्युत शक्ति से चलने वाला वह वाहन १००० रत्तल वजन प्रति कलाक दस मील के वेग से ले जा सकता था। उसके यंत्र को गज कहते थे। ग्रतः उस वाहन का नाम था—गजकर्षण पंचमुख यंत्र।

मृगकर्षण यंत्र

पशु-जोतकर जो वाहन चलते थे उन्हें मृगकर्षण यंत्र कहा जाता था।

चतुर्मुख रथ-यंत्र

चार गवाक्षों वाला यह यांत्रिक वाहन था। इसका भार था १२० रत्तल। इसकी गति प्रति कलाक १२ मील थी। नारियल के तेल या बिजली से यह वाहन चलता था। स्याम देश में ग्राज भी वाहनों को 'रोट-जोन्' ग्रर्थात् 'रथयंत्र' ग्रौर 'रोट-चक-जोन' यानी 'रथचक्रयंत्र' कहा जाता है।

त्रिमुख रथ-यंत्र

इस वाहन के ऊपर, नीचे ग्रौर एक बाजू में गवाक्ष होते थे। वाहन का भार ११६ रत्तल होता था। इससे ६०० रत्तल तक भार का वहन होता था। सिंहक्रांत नामक पेड़ की गंठीले मूली से ग्रौर एक लंबी घास से निकले तेल से वह यंत्र चलाया जाता था।

द्वि-मुख यंत्र

इसका भार होता था ८० रत्तल। पूर्व ग्रौर पश्चिम को इसके गवाक्ष होते थे। पेंचों से लगाए पहियों से यह वाहन चलता था। प्रति कलाक छह मील की गति से चलने वाला यह वाहन ३०० रत्तल तक का भार ढो सकता था।

एकमुख रथ-यंत्र

इसमें एक ही गवाक्षहोता था। दो सौ रत्तल तक का भार इससे खींचा जाता था। कांचतूल (Kanchtoola) बीजों से निकला तेल, या सौला-लिक (Sowlaalika) तेल या बिजली से यह वाहन चलता था। प्रति कलाक दो मील इसकी गति थी। वर्तमान Conveyor belts (कारखानों में सामान ढोने वाले यांत्रिक पट्टों) के तरह यह कोई यंत्रणा थी।

सिंहास्य रथ-यंत्र

सिंह जैसा इसका ग्राकार था। इसके दो गवाक्ष होते थे। पचहत्तर तक वजन इससे ढोया करते थे। भूमि पर भी चलता था ग्रौर ग्राकाश में भी उड़ सकता था। वाहन छोटा या बड़ा भी किया जा सकता था।

आयस प्रसरण यंत्र

यह लोहे की रेलगाड़ी थी।

एक चक्र-यंत्र

केवल एक चक्र पर चलने वाली यह रेलगाड़ी थी।

जॉयसर जी के ग्रन्थ में उल्लिखित ग्रन्य प्राचीन यंत्रों के नाम हैं—जृम्भक, गूढ़ गमन, वैराजिक, इन्द्राणी, विश्ववसु, स्फोटनी, कामद, पार्वती, कौलयक, कूटमालस्य, पद्मिनी, तारामुख, रोहिणी, राक्षस्य, चन्द्रमुख, ग्रन्तश्चक्र, रथम्, पंचनाल, तंत्रिमुख, वेजिनी, शक्त्युद्गम, मंडलावर्त, घोषणी (जो चलते समय विषैली वायु छोड़ता था इसकी ध्वनि

इसके विषैले वायु से और ध्वनि लह-
१४४ मील तक सुनाई देती थी। सोलह मील तक के लोग मूर्छित हुआ
रियों से लोगों की मृत्यु होती थी। सोलह मील तक के लोग मूर्छित हुआ
रियों से लोगों की मृत्यु होती थी। त्रिपीठ, विश्वमुख, घंटाकार, विस्तृ-
करते); उभयमुख, त्रिदल, त्रिकूट, त्रिपीठ, विश्वमुख, घंटाकार, विस्तृ-
तस्य, कव्याद, शंखमुख, गोमुख, ग्रम्बरास्य, सुमुख, तारामुख, मणिगर्भ,
वाहिनी, पक्षाग, चंबक, चंचुपुट, पिंगाक्ष, पुरुहूत, ग्रम्बरीष, भद्राश्व,
वज्री, कुलाधार, बलभद्र, शाल्मलि, पुष्पक, ग्रष्टदल, सौर्ययान।
प्राचीन वैज्ञानिक और तंत्रज्ञ जो अनेक प्रकार के यन्त्र बनाकर
प्रयोग में लाते थे उनमें से ऊपर दिए नाम चंद नमूने के तौर पर समझे
जाएँ। वर्तमान समय में जैसे जेट, फायटर, मिराज, बोइंग, फॉकर फ्रेंड-
शिप आदि विमान होते हैं तद्वत् प्राचीन काल में भी होते थे। कइयों के
नाम अन्तर्गत यंत्रणा के अनुसार तो कइयों के कारखाने के स्वामियों के
दिए काल्पनिक नाम हो सकते हैं। उन यंत्रों के आकार, उनका ईंधन, कार्य,
यंत्रविधि, आदि कई आधारों पर वे नाम दिए गए होंगे। अतः यह कहना
कि प्राचीन काल में यन्त्रों के बजाय यौगिक सिद्धियों से ही विविध कार्य
सम्पन्न होते होंगे, सही नहीं है। यौगिक सिद्धि अवगत हो तो एकाध को हो
सकती है, सारे समाज को नहीं। सामान्यजन तो यंत्र का ही प्रयोग करते
थे। और यंत्र भी तो किसी की बुद्धि के प्रतिभा विलास से ही बनते हैं।
उस दृष्टि से यंत्र भी योगसिद्धि के फलस्वरूप ही माने जाने चाहिएँ।

प्राचीन रत्न-शिल्प

रत्नों के विविध प्रकार के उपयोग किए जाते थे। मानव के व्यक्तित्व की या उसके पहनावे की शोभा बढ़ाना इसके अतिरिक्त रत्नों से विविध उद्योग चलाए जाते थे और उनका भस्म या द्रव रूप से औषधि भी बनती थी।

इस विषय के एक उपयुक्त प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ का नाम है रत्न-दीपिका। इसके सोलहवें अध्याय में मोतियों का विवरण है। उसमें मोतियों के ८५ प्रकार या वर्ग वर्णित हैं। उत्तमोत्तम मोती को राजमुक्त फल कहते थे।

हीरों के चार वर्ग माने गए थे—खनिज, कुलज, शीलज और कृतक। प्रत्येक वर्ग के हीरों के गुण भिन्न थे। कृतक तो कृत्रिम हीरे थे। खनिज हीरे ब्राह्मण स्तर के, कुलज क्षत्रिय स्तर के, शीलज वैश्य स्तर के और कृतक शूद्र स्तर के माने जाते थे।

ऊपर कहे चार वर्गों में से पहले तीन वर्गों के हीरों के २५-२५ उप-
विभाग होते थे। शूद्र वर्ण के हीरों के २६ उपविभाग थे। कुल मिलाकर
हीरों के १०१ प्रकार थे। हीरों के लिए एक सामान्य नाम 'वज्र' था।
हीरों से सम्बन्धित एक प्राचीन ग्रन्थ के कुछ श्लोक उदाहरणार्थ नीचे
उद्धृत हैं—

> वज्राश्चतुर्विधाः प्रोक्ताश्शौनकादि महर्षिभिः।
> खनिजा कुलजाश्चैव शिलजाः कृतका इति ॥
> तेषां शास्त्रे स्वजातिरूपभेदादयः क्रमात्।
> प्रदर्शिता विशेषेण स्वानुभूत्या यथाविधि।

अभ्रक की खानों में प्राप्त होने वाले हीरे खनिज कहे जाते। कीचड़ में
जो पाए जाते वे कुलज कहलाते। स्फटिक की खानों में पाए जाने वाले हीरे
शिलज कहलाते। कृत्रिम हीरे का नाम था कृतक।

इस प्रकार संस्कृत ग्रन्थों में प्रत्येक विशिष्ट शिल्प के कितने ही विभाग,
उप-विभाग, उनके विविध उपयोग, उनकी प्रक्रियाएँ, उनसे चलाए जाने-
वाले उद्योग सूक्ष्मतया वर्णित हैं। इतना विशाल ग्रंथ भण्डार प्राचीन
संस्कृत में उपलब्ध होते हुए भी स्वतंत्र भारत के शासक कोई विश्व-
विद्यालय; कोई उद्योगपति, कोई शोध-संस्थान आदि उन ग्रन्थों में कही
गतिविधियों को समझकर उन्हें कार्यान्वित कराना, उनके शिक्षावर्ग
चलाना आदि बाबत कोई ध्यान नहीं दे रहे हैं। प्रदीर्घ परतन्त्रता का यह
परिणाम होता है कि व्यक्ति हो या देश स्वत्व को भूल जाता है। निजी
परम्परा को हीन मानकर परायों की हर बात श्रेष्ठ मानकर उन्हीं का
अनुकरण करता है। निजी इतिहास और श्रेष्ठ ग्रंथों के बावजूद अज्ञानवश
देश किस प्रकार निर्धन, निर्बल और औद्योगिक दृष्टि से पिछड़ा रह जाता
है इसका वर्तमान भारत एक उदाहरण है।

आयुध-उद्योग

वर्तमान समय के दो प्रबलतम राष्ट्र रशिया और अमेरिका एक-दूसरे को विरोधी समझकर जिस प्रकार एक-दूसरे के विरुद्ध विविध प्रकार के शस्त्रास्त्र निर्माण करने के होड़ में जुटे हुए हैं उसी प्रकार प्राचीनकाल में देव (यानी 'सुर') और दैत्य (यानी 'असुर') उनकी भी आपस की होड़ थी और शत्रुत्व था। उस समय भी बड़े-बड़े विचित्र आयुध, प्रभावी शस्त्रास्त्र, सारे विश्व का तेजी से भ्रमण कर सकने वाले यान और तुरन्त एक-दूसरे से वार्तालाप करने के माध्यम उपलब्ध थे। रामायण, महाभारत और पुराणग्रंथों में उनका उल्लेख है।

प्राचीन सागरीयुद्ध का रामायण के अयोध्याकाण्ड के सर्ग ८४ के आठवें श्लोक में उद्धृत वर्णन देखें—

नावां शतानां पंचानां कैवर्तानां शतं शतम्।
सन्नद्धानां तथा यूनां तिष्ठन्त्वत्यभ्यचोदयत्॥

यानी शत्रु के नौकादल का प्रतिकार करने के लिए सैंकड़ों कैवर्त युवक तैयार रहें।

आग्नेयास्त्र

रामायणकालीन परिभाषा में तोपों को 'शतघ्नी' यानी 'सैंकड़ों व्यक्तियों का अन्त करने वाली' कहा करते थे। इनका उल्लेख अनेक श्लोकों में आया है।

शतघ्नी लोहे की होती थी। सुन्दरकाण्ड में शतघ्नी का आकार वृक्ष के तने जैसा कहा है। किलों में स्थान-स्थान पर तोपें लगाई जातीं या मैदानी रण में तोपगाड़ियाँ चलाकर लाई जातीं। तोपें चलती थीं तो उनसे बड़ी गर्जना होती थी। ऐसे वर्णनों से स्पष्ट है कि तोप का ही प्राचीन नाम शतघ्नी था।

यूरोपीय शब्द fire arm आग्नेयास्त्र का ही अनुवाद है।

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों में ऐसे बमों का वर्णन है जो फेंके जाने के पश्चात् उसमें से कई छोटे बम या राकेट्स बिखरकर शत्रु पर जा पड़ते थे।

War यानी 'युद्ध' इस अर्थ का आंग्ल शब्द 'वार' करना इस दृष्टि से संस्कृतमूलक ही है।

पाश्चात्य देशों के यूरोपीय ईसाई और अरब, ईरानी आदि मुसलमान लोगों के पूर्वज महाभारतीय युद्ध के पश्चात् के अंधकार सदृश अज्ञान-युग में संस्कृत-विद्या से वंचित रहने के कारण पिछड़ गए। अतः महाभारतीय युद्ध में जो राकेट आदि प्रक्षेपणास्त्र छोड़े गए तत्पश्चात् सन् १८०७ में कोपनहेगन नगर घेरे में यूरोप में रॉकेट का प्रथम बार प्रयोग किया गया।

आजकल पाश्चात्य वैज्ञानिक जो नये-नये शस्त्रास्त्र बना रहे हैं, वह एक तरह से प्राचीन अस्त्र-विद्या का पुनरुत्थान ही है। विविध शस्त्रास्त्र बनाने के प्राचीन शास्त्र का नाम धनुर्वेद था। अतः 'धनु' शब्द का अर्थ केवल बाणक्षेपक धनुष समझना योग्य नहीं। शत्रुओं की धज्जियाँ उड़ाने के लिए जो शस्त्रास्त्र बनाने का तन्त्र और विज्ञान था उसे धनुर्वेद नाम दिया गया था।

वातावरण के विविध स्तरों में विषैली वायु छोड़कर भी शत्रु सैनिकों का दम घुटाया जाता था। उन अस्त्रों से वातावरण में अग्नि, धुआं, पानी, बिजली, रोगजन्तु, सर्प आदि छोड़कर भी शत्रु को आक्रान्त किया जाता था।

वायुयुद्ध और वायुसन्देश आदि वैज्ञानिक क्षमता रामायण काल में भी उपलब्ध थी। विभीषण जब स्वसैनिकों के साथ रामचन्द्रजी की छावनी पर अपने विमान उतरवाना चाहता था तो उतरने की अनुमति मांगनेवाले उनके सम्भाषण आकाशस्थ उड़नेवाले विमानों से, भूमि पर के छावनी के बीच होना तभी सम्भव था जब वर्तमान wireless और electronic आदि माध्यमों से तत्काल सम्भाषण व्यवस्था तब भी शक्य थी।

शस्त्र-विज्ञान

अग्निपुराण नाम के प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ में शस्त्रों के पाँच वर्ग उल्लिखित हैं—(१) यन्त्रमुक्त, यानी जो यान्त्रिक तन्त्र से छोड़े जाते थे। (२) पाणिमुक्त, यानी जो हाथ द्वारा छोड़े जाते थे। (३) मुक्त संधारित,

यानी जो छोड़कर फिर संवार लिए जाते। (४) अमुक्त, जो छोड़े नहीं जाते थे—जैसे खड्ग, खंजर या संगीन।

यह बड़ा विशाल विषय होने से हम यह चर्चा यहीं समाप्त कर देते हैं। तथापि ऊपर जो विविध प्रकार का ब्योरा दिया है उससे पाठक को विदित होगा कि प्राचीन समय में उत्तमोत्तम व्यापारि वस्तुओं से लेकर महासंहारी अस्त्र, और योग की अनेक सिद्धियों तक हर प्रकार से प्रगत समाज था और वर्तमान समय में यूरोप के देश और अमेरिका जो वैज्ञानिक प्रगति दिखा रहे हैं वह एक प्रकार से इतिहास की पुनरावृत्ति हो रही है।

सिंचाई और नौचालन

वैदिक विज्ञान में सिंचाई और नौचालन का भी अन्तर्भाव था। श्री वझे जी का अनुमान है कि यजुर्वेद में वसिष्ठ के नाम से जो ऋचाएँ हैं उनमें सिंचाई और नौचालन विद्याओं के कुछ गूढ़ रहस्य गड़े हुए हैं। इससे भी हमारे निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि ऊपरी जाँच से वेद-ऋचाओं के जो अर्थ अटपटे-से लगते हैं उनके रहस्य जान लेने पर उनसे मौलिक वैज्ञानिक मार्गदर्शन प्राप्त होता है।

जब पुर्तगाल देश का सागर-पर्यटक वॉस्को-द-गामा अफ्रीका खण्ड का चक्कर लगाता हुआ भारत पहुँचना चाहता था तो उसे वहाँ एक भारतीय का मार्गदर्शन लेना पड़ा। उस भारतीय के मार्गदर्शन से ही वॉस्को-द-गामा की नौका सुरक्षित और कम समय में भारत पहुँच सकी। उस समय भारतीय ही विश्व के सागरप्रवास में जानकार और प्रवीण थे क्योंकि लाखों वर्ष तक भारतीय नौदल दिग्विजय, व्यापार, शिक्षाप्रबन्ध, शासन आदि के लिए सातों सागर पार करते हुए विश्वभर में जाते रहे थे।

स्थापत्य-कला सम्बन्धी रुड़की विद्या-संस्थान से सन् १९१० में प्रकाशित हुए ग्रन्थ 'भारत में सिंचाई सम्बन्धी स्थापत्य निर्माण' (Irrigation works in India) के पृष्ठ ४ पर उल्लेख है कि "ईजिप्त की सिंचाई पद्धति भारतमूलक है यह तथ्य सर्वविदित है।" यह तभी हो सकता है जब प्राचीन ईजिप्त पर वैदिक शासन हो और सर्वत्र वैदिक

विज्ञान और तन्त्र का ही प्रयोग होता हो। इसका और एक प्रमाण यह है कि विश्व की नदियों के नाम सारे संस्कृत परम्परा के हैं। जैसे पेरिस नगर में बहनेवाली Seine (यानी सिन्धु), जर्मनी आदि देशों में बहनेवाली Danube (यानी दानव), अरबी प्रदेश की Jordan (यानी जनार्दन) आदि सारी नदियों पर प्राचीन वैदिक विज्ञान पर आधारित सिंचाई योजनाएँ बनाई गई थीं।

भारत में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत एक अंग्रेज स्थपति (इन्जीनियर) विलकॉक्स (Willcox) ने लिखा है कि "दक्षिण दिशा में बहनेवाली प्रत्येक नहर, चाहे वह भागीरथी जैसी नदी बन गई हो या मठभंगा जैसी नहर ही रही हो, मूल में यह सारी नहर ही थीं। लगभग एक-दूसरे के समानान्तर ही वे खोदी गईं। उनमें उतना ही ठीक अन्तर रखा गया जैसा नहरों में होना चाहिए। मुझे स्मरण है कि मैं जब भारत के लिए नहर कहाँ-कहाँ हो, इसका विचार करने लगा तो जहाँ-जहाँ नहर खुदवानी चाहिए थी वहीं एक-एक सूखी नहर का चिह्न दिखाई दिया।" इससे स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल में भारत भर में अति योग्य स्थानों पर नहरों का जाल बिछा हुआ था। तभी तो 'सुजल और सुफल' ऐसे इस देश की ख्याति थी।

ऊपर लिखे उद्धरण से स्पष्ट है कि ठीक पुराणों में कहे अनुसार भागीरथ के महान् यत्नों से गंगा की धारा हिमालय की गोद से नहर खोदकर कालिघट्ट: (कलकत्ता) नगर के पास सागर में पहुँचाई गई। यह कितना विशाल इन्जीनियरिंग का प्रमाण है। इससे हमारी बात प्रमाणित हो जाती है कि अतीत में वैदिक संस्कृति के अन्तर्गत जो वैज्ञानिक निपुणता का स्तर था उसकी बराबरी वर्तमान युग में भी नहीं हो सकी है।

सन् १८०० में डॉक्टर फ्रांसिस बुकॅनॅन् (Dr. Francis Buchannan) नाम के आंग्ल विद्वान् ने भारत के आंग्ल शासन के आदेश से भारत की खेती और आर्थिक परिस्थिति का सर्वेक्षण किया। वह तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ। उसका शीर्षक है 'बुकॅनॅन् का मद्रास से प्रवास-प्रस्थान…' (Buchannan's Journey From Madras...)। वह सन १८०५ में लंदन से प्रकाशित हुआ। उसमें बुकॅनॅन् ने लिखा है कि

"कोडुतूरु में मैंने ऐसी एक प्राचीन सिंचाई योजना देखी जिसके लिए दक्षिण भारत सदा प्रसिद्ध रहा है। दो पहाड़ियों के बीच के अन्तर को बांध द्वारा बन्दकर एक नदी को रोककर वहाँ एक महान् सरोवर बना दिया गया था। उसकी लम्बाई ७-८ मील और चौड़ाई तीन मील थी। इतनी भूमि जल से ढक गई थी। उस तालाब से निकली अनेक नहरों द्वारा जो पानी निकलता था वह अकाल पड़ने पर भी १८ मास तक ३२ ग्रामों के खेतों की तराई कर सकता था। अर्काट जाते हुए मैंने दूसरा एक (कृत्रिम बनाया गया) तालाब देखा। उसका 'कावेरी P. K.' नाम है। वह आठ मील लम्बा और तीन मील चौड़ा होकर आसमन्त के विस्तीर्ण प्रदेश को सिंचाई की उपलब्धि कराता है। उससे मुझे अति प्रसन्नता हुई। वहाँ के लोगों की जीवनप्रथा के अनुसार उन्हें जैसा, जितना जल लगता था वह सब जनता को उस सरोवर से मिला करता था।"

उसी प्रकार उत्तरी भारत में आगरा से २४ मील दूर सीकड़वाल राजपूतों की रम्य नगरी फतेहपुर सीकरी (अर्थात् विजयपुर सीकड़ी) बनी हुई है। वहीं उत्तानगंगा नाम की एक नदी थी। उस पर एक बांध बांधकर उससे जो छह मील घेरे का सरोवर बनाया गया था उसी से फतेहपुर सीकरी को विपुल जल उपलब्ध कराया गया था, ठण्डक भी पहुँचाई गई थी और उस नगरी को सुन्दरता भी प्रदान की गई थी। ऐसे अनगिनत उदाहरणों से प्राचीन वैदिक स्थापत्य विज्ञान कितना कुशल और जनप्रवण था, यह प्रतीत होता है।

प्राचीन वैदिक विज्ञान की विविध शाखाओं के मूल प्रवर्तकों के नाम जो मत्स्यपुराण में पाए जाते हैं वे हैं—भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, नारद, मय, विश्वकर्मा, नग्नजित्, विशालाक्ष, परन्दर, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र और बृहस्पति। उसमें दुर्ग निर्माणशास्त्र का विवरण नारद शिल्पसंहिता में दिया गया है। International Academy of Sanskrit Research, मैसूर में उस ग्रन्थ की प्रति हो सकती है। अब स्वतन्त्र भारत सम्बन्धित विद्याशाखाओं में ऐसे-ऐसे प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन शुरू हो जाना चाहिए।

युद्धशास्त्र

युद्धशास्त्र पर प्राचीनकाल में वशिष्ठ, विश्वामित्र, जामदग्नि, भारद्वाज और उशनस् द्वारा लिखे संस्कृत ग्रन्थ Punjab Oriental Series द्वारा प्रकाशित हुए हैं। वशिष्ठ और विश्वामित्र ऋषियों ने जब स्वयं रामचन्द्रजी को युद्धशास्त्र सिखाया तो इस विद्या पर उनके लिखे ग्रन्थ होना स्वाभाविक ही है। वैशम्पायन का लिखा युद्धशास्त्र का ग्रन्थ Madras Manuscript Library में है। शारंगधर का भी एक ग्रन्थ वहाँ है। इसी विद्या-सम्बन्धी अन्य ज्ञात ग्रन्थों के नाम हैं—विक्रमादित्य वीरेश्वरीयम्; कोदण्डमण्डन; राजा दिलीप का लिखा कोदण्डशास्त्र; वास्तुराज वल्लभ व बृहत् ज्योतिषार्णव (व्यंकटेश्वर प्रेस, मुंबई, द्वारा प्रकाशित)। यह तो केवल नमूनामात्र नाम हैं। ऐसे कई युद्धशास्त्र के ग्रन्थ संस्कृत में हैं। किन्तु हजारों नष्ट या लुप्त हो गए। जैसे-जैसे क्षत्रियों का साम्राज्य अन्य देशों में और भारत में नष्ट होता गया वैसे-वैसे उनके किले, बाड़े आदि में रखे अनेक ग्रन्थ शत्रुओं द्वारा लूटे गए, फाड़े गए या जला दिए गए।

रामायण, महाभारत और पुराणों में वर्णित वैदिक प्रणाली के राजकुमारों की युद्धशास्त्र सम्बन्धी शिक्षा उपरोक्त ग्रन्थों के सहाय्य से होती थी।

वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि कई नाम विभिन्न पीढ़ियों में आते रहते हैं। इसके कारण दो थे। एक तो यह था कि वे नाम पवित्र और प्रसिद्ध होने से प्रत्येक नई पीढ़ी में भी पुनः-पुनः रखे जाते थे। दूसरा कारण यह था कि इन प्राचीन ऋषियों के आश्रम की शिष्य परम्परा में मुख्य गद्दी पर बैठनेवाला प्रत्येक अधिकारी शिष्य वशिष्ठ या विश्वामित्र ही कहलाता था।

गुब्बारे एवं आकाशछत्र

प्राचीन काल में विमान-विद्या थी। उसी प्रकार ऊँचे उड़नेवाले गुब्बारे और उड़ते विमान से जिन छत्रों के सहाय्य से वैमानिक या सैनिक [illegible]

से छलांग लगा देते थे पैरॉशूट (parachute) भी वर्तमान समय जैसे प्राचीन काल में भी थे। उनके सम्बन्ध में अगस्त्य संहिता के तान्त्रिक उद्धरण नीचे दिए जा रहे हैं—

जलनौकेव यानं यद्विमानं व्योम्निकीर्तितं।
कृमिकोषसमुद्‌गतं कौषेयमिति कथ्यते।
सूक्ष्मासूक्ष्मौ मृदुस्थूलै ओतप्रोतो यथाक्रमम्॥
वैतानत्वं च लघुता च कौषेयस्य गुणसंग्रहः।
कौशेयछत्रं कर्त्तव्यं सारणा कुचनात्मकम्।
छत्रं विमानाद्विगुणं आयामादौ प्रतिष्ठितम्॥

ऊपर की पंक्तियों में यह कहा गया है कि विमान वायु पर उसी प्रकार चलता है जैसे जल पर नाव चलती है। तत्पश्चात् उन काव्य पंक्तियों में गुब्बारों और आकाशछत्र के लिए रेशमी वस्त्र सुयोग्य कहा गया है क्योंकि वह बड़ा लचीला होता है।

गुब्बारों के बाबत की काव्यपंक्तियों का एक नमूना नीचे उद्धृत है—

वायुबंधक वस्त्रेण सुबद्धोयानमस्तके।
उदानस्य लघुत्वेन विभ्यर्त्याकाशयानकम्॥

यानी वस्त्र में हाईड्रोजन (उदानवायु) पक्का बांध दिया जाए तो उससे आकाश में उड़ा जा सकता है।

डोर-तार-रज्जु

प्राचीन कारखाने, उड़ान, सन्देशप्रेषण आदि के लिए जो तार, डोर रज्जु आदि लगते थे उनका उल्लेख संस्कृत ग्रन्थों में निम्न प्रकार है—

नवभिस्तन्तुभिः सूत्रं सूत्रैस्तु नवभिर्गुणः।
गुणैस्तु नवभिर्पाशो रश्मिस्तैर्नवभिर्भवेत्।
नवाष्टसप्तषड् संख्ये रश्मिभिरंज्जवः स्मृताः॥

उक्त श्लोक के अनुसार नौ धागों का एक सूत्र बनता है। नौ सूत्रों का एक गुण, नौ गुणों का एक पाश, नौ पाशों से एक रश्मि और ९, ८, ७ या ६ रश्मि मिलाकर एक रज्जू बनती है। आधुनिक नौकाचलन और विद्युत्-वहन, सन्देशवहन आदि के लिए जो अनेक बारीक तारों की बनी मोटी

केबल (cable) या डोर बनती है वैसी प्राचीनकाल में भी बना करती थी और उसे रज्जु कहा करते थे। रज्जु का ही आंग्लभाषा में रप्पु उर्फ रोप (Rope) ऐसा अपभ्रंश हुआ है।

वायुपूरण वस्त्र

प्राचीनकाल में ऐसा वस्त्र बनता था जिसमें वायु भरा जा सकता था। उसके लिए रेशमी वस्त्र को अंजीर, कटहल, आंब्र, अक्ष, कदम्ब, मीराबोलेन (Myrabolane) वृक्ष के तीन प्रकार और दालें इनके रस या सत्व के लेप दिए जाते थे। तत्पश्चात् सागरतट पर मिलनेवाले शंख आदि और शर्करा का घोल यानी द्रव सीरा बनाकर उसमें वह वस्त्र भिगोया जाता। फिर उस वस्त्र को सुखा देते थे। अगस्त्यसंहिता के कुछ श्लोकों में ऊपर कही विधि वर्णित है। उनका नमूना नीचे पढ़ें—

क्षीरद्रुमकदंबाम्रा भयाक्षत्वश्जलैस्त्रिभिः।
त्रिफलोदैस्ततस्तद्वत्पाषयुषैस्ततःस्ततः॥
संयम्य शर्करासूक्तिचूर्ण मिश्रितवारिणां।
सुरसं कुट्टनं कृत्वा वासांसि स्त्रवयेत्सुधीः॥

बैटरी (Battery) अर्थात् शतकुम्भी

तांबा तथा जस्ता के तारों से प्राचीन वैदिक वैज्ञानिक किस प्रकार शतकुम्भी (बैटरी) बनाते थे, उसका वर्णन निम्न श्लोक में देखें—

संस्थाप्य मृण्मये पात्रे ताम्रपत्रं सुसंस्कृतम्।
छादयेत् शिखिग्रीवेन चार्द्राभिः काष्ठपांसुभिः॥
दस्तालोष्टो निधातव्यः पारदाच्छादितस्ततः।
उत्पादयति तेन्मित्रं संयोगः ताम्रजस्तयोः॥
संयोगाज्जायते तेजो यन्मित्रमिति कथ्यते।
एवं शतानां कुम्भानां संयोगः कार्यकृत्यमृतः॥
मुसंसृष्टा च सुभगा घृतयोनिः पयोधरा।
मूकं मृत्कुम्भी सर्वदा ग्राह्या।

मोटर

ऊर्जा या शक्ति-उत्पादन करने वाले यंत्र को आधुनिक यूरोपीय परिभाषा में 'मोटर' कहते हैं। प्राचीन संस्कृत परिभाषा में 'मित्र' कहते थे। तो क्या 'मोटर' शब्द 'मित्र' शब्द का ही विकृत उच्चार नहीं है! संस्कृत में जो 'त्र' जोड़ाक्षर है, उसे यूरोपीय और इस्लामी देशों में 'तर' उर्फ 'टर' ऐसे तोड़ा गया। अतः 'मित्र' का उच्चार 'मोटर' हुआ। संस्कृत वैदिक परम्परा में सूर्य को भी 'मित्र' इसीलिए कहते हैं कि यह संसार चलाने के लिए जो अखंड ऊर्जा स्रोत लगता है वह हमें सूर्य से प्राप्त होता है। अतः आधुनिक शास्त्रज्ञ यदि संस्कृत सीख लें और वैदिक ऋचाओं पर समाधिस्थ अवस्था में एकाग्र मनन-चिंतन कर सकें तो उन्हें वेदों से उच्चतम वैज्ञानिक रहस्य प्राप्त होंगे। आजकल केवल दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ही वेदों का अध्ययन हो रहा है। किसी भी शाखा का विद्वान् वेदों से लाभ उठा सकता है और मार्गदर्शन प्राप्त कर सकता है यदि वह संस्कृत का पंडित हो और वेदों की ऋचाओं को गुनगुनाते उनमें तल्लीन हो सके।

धातुलेप

एक धातु पर दूसरे धातु का लेप चढ़ाना, इस क्रिया को यूरोपीय परिभाषा में 'इलक्ट्रोप्लेटिंग' (electroplating) कहते हैं। प्राचीनकाल से यह विद्या चली आ रही है। उसके संस्कृत श्लोक नीचे देखें—

कृत्रिमस्वर्णरजत लेपः संस्कृतिरुच्यते।
यवक्षारमयौ धानौ सुशुक्तजल सन्निधौ।
आच्छादयति तत्ताम्रं स्वर्णेन रजतेन वा॥
सुवर्णलिप्तं तत्ताम्रं शातकुंभमितिश्रुतम्।
लिप्तस्वर्णपुटेन ताम्ररजतं तत् शातकुंभम् स्मृतम्॥

ग्रंथ सूची

ऊपर कहे प्राचीन वैज्ञानिक उद्योगों के सम्बन्ध में जो भी ग्रंथ ज्ञात हैं उनकी सूची तीन खंडों में Catalogus Catalogorum शीर्षक से

T. Aufrecht नाम के एक यूरोपीय विद्वान् ने प्रकाशित की है।

वैसे ही ग्रंथों का उल्लेख समय-समय पर कृष्णजी वझे के लेखों में और एन. बी. गद्रे के लेखों में 'शिल्पसंसार' नामक मराठी मासिक में प्रकाशित हुए हैं।

नागपुर के रामनगर विभाग में २७६ क्रमांक के घर में रहने वाले गो० गो० जोशी ने भी बड़ी लगन से और बड़े कष्ट उठाकर उन प्राचीन ग्रन्थों के सम्बन्ध में और जंग न लगने वाले प्राचीन लोहस्तंभों जैसे कई अन्य रहस्यों के बाबत बड़ी उपयुक्त और महत्वपूर्ण जानकारी इकट्ठी कर उनकी एक व्यवस्थित सूची बनाई है—जो वे बड़े आत्मीयता से जो भी अभ्यासक मांगे उसका मार्गदर्शन करने में बड़ी उदारता और स्नेहभाव से काम में लाते हैं।

यूरोपीय देशों में भूगर्भ में लंबे मार्ग बनाकर जो अंदरूनी रेलगाड़ियां दौड़ती हैं वैसा ही विज्ञानतंत्र प्राचीनकाल में भी उपलब्ध था। इसका प्रमाण हमें किले और राजमहलों से गुप्त प्रस्थान करने के लिए या कुमुक, रसद आदि पहुँचाने के लिए जो भूगर्भस्थ सुरंग होते थे उनसे मिलता है। ऐसे अंदरूनी मार्ग बनाने वाली विद्या को 'घंटापथ विद्या' कहते थे।

अधिकांश प्राचीन मंदिर, महल, बाड़े, किले, नगर आदि में ऐसे घंटापथ होते थे। उदाहरणार्थ सऊदी अरब के मक्का नगर में जो काबा नामक वैदिक तीर्थ क्षेत्र है, उसमें तो अंदरूनी मार्गों की भूलभुलैयां-सी बनी हुई है, वहाँ मध्य में शेषशायी विष्णु की महान् मूर्ति थी। सन् १९७९ के नवम्बर मास में जब कुछ साहसी महादेवी पंथ के अनुयायिओं ने कुछ दिनों तक उस केन्द्र पर कब्जा कर रखा था तब वे उन्हीं सुरंगों में मोर्चा लगाए लड़ रहे थे।

भारत के उत्तर प्रदेश प्रांत में संभल नगर में हरिमंडल नाम का जो मंदिर परिसर है वह इस्लामी आक्रमण से अब तक मस्जिद के रूप में प्रयोग हो रहा है। उसके परिक्रमा मार्ग में दीवारें खड़ी कर वहाँ के मुसलमानों ने कक्ष बना लिये हैं। वहीं दीवार का एक लंबा-सा भाग चुनवा कर बंद कर दिया दिखता है। वहीं से एक सुरंग उस पहाड़ी के अन्दर तट के बाहर निकल जाती है। कहते हैं कि उस सुरंग की इतनी चौड़ाई है कि पाँच-छह

घुड़सवार एकसाथ दौड़ाए जा सकते थे।
घुड़सवार एकसाथ दौड़ाए रियासत के राजमहल से बाहर निकलने
दक्षिण भारत की तंजावूर के सरस्वती महाल नामक पत्रालय में
वाली एक सुरंग है। उसी तंजावूर के अनेक संस्कृत ग्रन्थ सुरक्षित, संग्रहीत हैं। उस
प्राचीन विज्ञानतंत्र के अनेक संस्कृत ग्रन्थों की सूची का नाम 'यमलाष्टकम्' है
ग्रन्थालय द्वारा प्रकाशित प्राचीन ग्रन्थों की सूची का नाम

जो मूल्य देकर खरीदी जा सकती है।

भारत के अन्य कई राजप्रासाद तथा किलों में अभी तक उन प्राचीन
ग्रंथों के भण्डार पर भण्डार पड़े हुए हैं यद्यपि इस्लामी आक्रामकों ने हजारों
प्राचीन संस्कृत ग्रंथ जला डाले और यूरोपीय आक्रामक उन संस्कृत ग्रंथों को
लूटकर स्वदेश ले गए। तथापि अभी तक दरभंगा, जैसलमीर, जम्मू, नेपाल
आदि प्राचीन हिन्दू-राजधानियों में प्राचीन वैदिक संस्कृत-ग्रन्थ विपुल
मात्रा में पड़े हैं। ऐसे ही ग्रन्थों को ले जाकर उनके सहाय से यूरोप खंड
में यांत्रिक उद्योगों का एक नया युग शुरू हुआ। अभी तक भारत में कई
पाश्चात्य राष्ट्रों की अनेक संस्थाएँ ऐसे प्राचीन ग्रन्थ प्राप्त कर स्वदेश
भेजने की होड़ में व्यस्त हैं।

वेधशालाएँ

विश्व में जब वैदिक साम्राज्य फैला था तब अनेक प्रदेशों में वेध-शालाएँ बनी हुई थीं क्योंकि वैदिक जीवन-प्रणाली में प्रत्येक दिन के प्रत्येक क्षण का ज्योतिषीय महत्त्व ध्यान में लेकर ही लोगों के व्यवहार बँधे होते हैं।

ऐसी वेधशालाएँ अनेक स्थानों पर बनी होती थीं। उदाहरणार्थ वाराणसी, जयपुर, दिल्ली, उज्जयिनी (यानी अवंतिका) लंका, समरकंद, बुखारा, अलेक्जेंड्रिया, रोम, उपसाल्हा (स्वीडन देश में) इत्यादि। उन पर वैदिक वैज्ञानिक कार्य करते थे। उन्हीं से वैदिक विश्व का पंचांग बना करता था। उसी के आधार पर सारे सामाजिक त्यौहार, व्रत आदि निश्चित किये जाते थे। पृथ्वी के गर्भ में होने वाले परिवर्तन से अंतरिक्ष तारों तक के परिवर्तनों का अध्ययन उन वेधशालाओं में होता था और उनका गणितीय अध्ययन भी होता था। उससे किसान, मच्छिमार, नौका

चलाने में लगे कर्मचारी, पंचांगकर्ता आदि कइयों का मार्गदर्शन किया जाता था। भूकंप, तूफान, अकाल, युद्ध आदि के बारे में भी अग्रिम सूचनाएँ मिला करती थीं।

अमेरिका खंड में जो आदिवासी 'रेड इंडियन्स' (Red Indians) कहलाते हैं उनके पास भी प्राचीन वैदिक पंचांग के कुछ अंश हैं क्योंकि वे प्राचीन नागवंशीय लोग हैं। वैदिक परम्परा में उनके देश को पाताल कहा जाता था क्योंकि गोलाकार पृथ्वी में वे भारत की पृष्ठभूमि के तले हैं। भारत से पृथ्वी के आरपार यदि गड्ढा खोदा जाए तो वह अमेरिका में निकलेगा। रामायण आदि वैदिक कथाओं में अहिरावण, महिरावण आदि भी पाताल में राज्य करते थे ऐसा वर्णन मिलता है। वर्तमान युग में यद्यपि नागवंशीय रेड इंडियन्स गरीब, अज्ञानी और पिछड़े हुए प्रतीत होते हों, उनके प्राचीन महल, महान् मन्दिर, वेधशालाएँ आदि अवशेषों से वे प्राचीनकाल में बड़े वैभवशाली थे, ऐसा प्रतीत होता है। अक्तूबर १९६९ के Indian Express दैनिक के किसी अंक में (हो सकता है कि वही समाचार अन्य दैनिकों में भी आया हो) छपे एक समाचार में कहा गया था कि 'नव मेक्सिको' (New Mexico) देश में एक सहस्र वर्ष प्राचीन एक वेधशाला है जिसमें पत्थर पर खुदे पंचांगानुसार ऋतुमान और सूर्य के गतिचक्र जाने जा सकते हैं।

विशेष योजनानुसार खड़ी की गई तीन शिलाओं के माध्यम से एक दीवार जैसे खड़े पहाड़ की चट्टान पर उत्कीर्ण प्रदीर्घ आभारों पर पड़ने वाले सूर्य-किरणों से ऋतु और सूर्य के गतिचक्र का पता लगता था। वर्तमान Pueblo जाति के पूर्वज जो अनासाझी (Anasazi) Indians कहलाते थे उनका बनाया हुआ वह पहाड़ी प्रस्तरीय पंचांग था। सन् ४०० से १३०० तक वे बड़े प्रगत थे। तत्पश्चात् उनका पतन होना इतिहास का एक बड़ा रहस्य है। पहाड़ों पर बने विशाल भवनों में वे रहा करते थे। वे नदियों पर बाँध बनाकर उनसे निर्मित सरोवरों द्वारा खेतों की सिंचाई भी करते थे। सैंकडों मील लंबी सड़कें वे बनाते थे और उनका व्यापार भी बड़ा व्यापक था। उनके बनाए पंचांग से उनकी वैज्ञानिक प्रवीणता का भी पता लगता है। मध्य अमेरिका के अझटेक और मय (Aztec and

Mayan) लोगों की सभ्यता भी वैसी ही प्रगत थी।

ऊपर दिए विवरण से सिद्धान्तवाचक ध्यान में रखें कि किसी भी युग में यदि अनेक जमातें हों तो उनमें से अनेक प्रगत और अनेक पिछड़े हुए होते हैं।

उन शिलाओं के बीच में जो अंतर रखा गया था, उनमें जो सूर्य-किरण पड़ती उनसे वर्ष का सबसे छोटा और सबसे लंबा दिन ज्ञात हो जाता था। उस प्रस्तरी पंचांग से चन्द्र की गति और ग्रहणों का हिसाब भी किया जाता था, ऐसे संकेत प्राप्त हैं।

आंग्ल भूमि (ग्रेट ब्रिटेन) में जो स्टोनहेंज् (Stonehenge) नाम का प्राचीन स्थान है, वहां भी बड़ी मोटी शिलाएँ खड़ी हैं। वह भी एक वेधशाला थी। ऐसे पहाड़, प्रस्तर, ईंटें, चूना आदि से वेधयंत्र बनाना यह वैदिक विज्ञान की खूबी है। भारत में वाराणसी, जयपुर, दिल्ली, उज्जैन आदि कई नगरों में वैसी प्राचीन वेधशालाएँ अभी भी खड़ी हैं। जब वैसी ही वेधशालाएँ अमेरिका और इंग्लैंड में हैं तो वह उन देशों में प्राचीन वैदिक सभ्यता का एक बड़ा प्रमाण है।

उस प्राचीन ज्योतिषीय गणित के हजारों ग्रंथ दुर्लक्षित और उपेक्षित अवस्था में भारत में तो पड़े ही हैं किन्तु तिब्बत, बालिद्वीप और रोम नगर के पोप की वाटिका में भी पड़े हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अँझटेक, माया आदि नष्ट प्रगत जातियों की वर्तमान पिछड़ी अवस्था से हमारे सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि जैसे व्यक्ति के जीवन में सुख और दुःख, वैभव और गरीबी के दिन होते हैं वैसे ही विविध जातियों के जीवन में भी स्थित्यन्तर होते रहते हैं।

वैदिक संस्कृति के कीर्तिमान

वैदिक संस्कृति के बेजोड़ कीर्तिमान मुख्यतः निम्न प्रकार के कहे जा सकते हैं—

(१) ढाका की मलमल जो इतनी बारीक सूत और बुनाई की होती थी कि किसी थान की प्रदीर्घ चौड़ाई एक साधारण अंगूठी के मध्य से निकाली जा सकती थी।

(२) चाँदी-सोने की जरी से सुशोभित वाराणसी की रेशमी साड़ियाँ।

(३) इंग्लैंड में एक भारतीय द्वारा चलाया हुआ बारीक मुद्रों का कारखाना।

(४) प्राचीन विश्व में स्थान-स्थान पर बने पिरॅमिड, तेजोमहालय आदि जैसे भव्य और सुन्दर भवन।

(५) स्पेन देश में बना प्राचीन राजमहल अलहम्ब्रा और कारडोव्हा नगर के भव्य मंदिर (जिसे गल्ती से इस्लाम-निर्मित समझा जाता है किन्तु जो इस्लामपूर्व हिंदू वैदिक वास्तुशिल्प है)।

(६) चन्द्रलोक आदि की अंतरिक्ष यात्राएँ।

(७) अंतर्देशीय क्षेपणास्त्र और अन्य विचित्र क्षमता के अस्त्र।

(८) विविध प्रकार के विमान।

(९) त्रिशंकु जैसे उपग्रहों का प्रेरण।

(१०) आयुर्वेदीय कुशल, आश्चर्यकारी, सादी और अत्यल्प शुल्क की चिकित्सा पद्धति।

(११) योगविद्या के रहस्यमय कौशल।

(१२) विश्व के समस्त मानवों का लाखों वर्ष तक लालन-पालन करने वाली एकमात्र सभ्यता।

(१३) संस्कृत जैसी दैवी भाषा जो सारे मानवों के आचार-विचार-उच्चार का एकमेव स्रोत रही है।

(१४) वेद जो एक समस्त ज्ञान का सांकेतिक, संक्षिप्त दैवी गूढ़ भण्डार है जिससे सारी विद्या और कलाओं के उच्चतम रहस्य जाने जा सकते हैं।

लोगों की उदासीनता और इतिहास की उथल-पुथल के कारण वैदिक संस्कृति के उस दिव्य, भव्य, विश्वप्रसार का इतिहास दुर्लक्षित रह गया है। जैसे कीड़े-मकोड़े, दीमक आदि अच्छी वस्तुओं को नष्ट कर देते हैं वैसे ही पराये धर्मों को स्वीकार करने वाले फितूर व्यक्तियों ने भी वैदिक संस्कृति को दबाने का और उसकी भरसक निन्दा करने का बड़ा प्रयत्न किया है। ईसाई और इस्लामी धर्म स्थापना से पूर्व सारे विश्व में आर्य, सनातन, वैदिक, हिन्दू धर्म ही था तथापि इस्लामी और ईसाई विद्वान् या

तो उस इतिहास को टाल जाते है या उसे विकृत कर वह कोई और अट-
तो उस इतिहास को टाल जाते है या उसे विकृत कर वह कोई और अट-
पटी-सी सभ्यता रही होगी, ऐसा गोलमाल वाला गोलमोल उत्तर दे देते है।
शराबी लोग या वैदिक संस्कृति के निन्दक जान-बूझकर ऐसा प्रति-
पादन करते है कि सोमरस एक प्रकार की दारू ही थी या शंकर के भक्त-
जनों को भंग अवश्य पीनी चाहिए। ऐसे-ऐसे कथनों से लोग जान-बूझकर
या अनजाने वैदिक संस्कृति की निन्दा, अवहेलना या अवमूल्यन करते
रहते है। बेचारे वाचकों को ऐसे झूठे प्रचार से सावधान रहना चाहिए।
वैदिक संस्कृति में किसी प्रकार का दुराचार या व्यसनाधीनता कभी सहन
नहीं किए जाते।

वैदिकजन बड़े ज्ञानी और सदाचारी थे

वर्तमान समय के उच्च शिक्षा प्राप्त लोग जिन तथ्यों को उच्चतम
शोध-निष्कर्ष समझते है वे प्राचीन वैदिक संस्कृति में सामान्यजनों के नित्य
बोलचाल के अंग बन गये थे। उदाहरणार्थ. लगभग १०० वर्ष पूर्व यूरो-
पीय लोग समझते थे कि केवल पृथ्वी पर ही जीवसृष्टि है। इसके विपरीत
वैदिक संस्कृति में पले अशिक्षित नौकर-चाकर भी ईश्वर को अनन्तकोटि
ब्रह्माण्डनायक कहते आ रहे हैं। उच्चतम पाश्चात्य वैज्ञानिक भी अब
कहने लगे है कि विश्व में हमारी पृथ्वी जैसे अनेक ग्रहों पर जीव सृष्टि हो
सकती है।

वैदिक परंपरा में अनेक युगों का जीवनचक्र ४३२०० लक्ष वर्षों का
माना है। अमेरिका की Laboratory of Chemical Evolution के
प्रमुख डॉक्टर पोन्नेमपेरूना का वक्तव्य जो जून १७, १९८० के समाचार
पत्रों में छपा था उसमें वे कहते है कि ग्रीनलैंड प्रदेश (Greenland) में पाए
चिह्नों से उनकी संस्था के संशोधकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि पृथ्वी की
चट्टानें जितनी पुरानी हैं उतनी ही जीवसृष्टि भी प्राचीन है। उन चट्टानों
की अनुमानित आयु ४३६०० लक्ष वर्ष होगी।"

अब पाठक स्वयं देखें कि प्राचीनतम वैदिक हिसाब और आधु-
निकतम पाश्चात्य शास्त्रियों का हिसाब लगभग एक ही है। तथापि उसमें
भी जो ४०० लक्ष वर्षों का अंतर है वह पाश्चात्य शास्त्रज्ञों के हिसाब की

गलती ही होनी चाहिए। क्योंकि पाश्चात्य शास्त्रज्ञों के अनुमान कभी कुछ,
कभी कुछ ऐसे डावांडोल या अनिश्चित से होते हैं। इसके विपरीत वैदिक
हिसाब किसी व्यक्ति के अनुमान पर आधारित न होकर वैदिक परंपरा में
आरम्भ से पीढ़ी-दर-पीढ़ी की परम्परा से चलता आ रहा है।

सौ वर्ष पूर्व के पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान था कि पृथ्वी पर जीव
लगभग ६००० वर्षों से जी रहे हैं। अब उनके विद्वान् मानते है कि जीव
तो ४३६०० लक्ष वर्ष से पृथ्वी पर रह रहे हैं। कहां ६००० वर्ष और
कहां ४३६०० लक्ष वर्ष! वैदिक संस्कृति के वैज्ञानिक-तथ्य कभी ऐसे
अटपटे या ऊटपटांग नहीं थे।

पाश्चात्य भौतिक शास्त्री अभी-अभी कह पाए हैं कि अन्तरिक्ष के
समय का नापन पृथ्वी के समय नापन से बिल्कुल भिन्न है। अन्तरिक्ष में
सैर करने गया पृथ्वी का मानव समझेगा कि पृथ्वी से प्रस्थान किए उसे
दो-चार दिन ही हुए हैं किन्तु प्रत्यक्ष में वह जब लौटेगा तो उसे पृथ्वी
पर कई पीढ़ियां बीती हुई दिखाई देंगी। वैदिक कथाओं में भी यही तथ्य
कहा गया है कि अन्तरिक्ष-यात्रा से लौटनेवाले पृथ्वीस्थ मानवों को पृथ्वी
पर कई सदियां बीत जाने का अनुभव होता है।

जो अमेरिकी चन्द्रमा पर उतरे थे उन्हें उनके नियन्त्रक वैज्ञानिकों ने
यह कहा कि चन्द्रमा की मिट्टी आदि पृथ्वी की मिट्टी जैसी ही होगी क्योंकि
उनका अनुमान था कि चन्द्रमा और पृथ्वी एक ही गोले के दो टुकड़े
होंगे। चन्द्रमा से लौटनेवाले व्यक्तियों ने बतलाया कि चन्द्रमा की मिट्टी
पृथ्वी की मिट्टी से पूर्णतया भिन्न है। सारे सम्बन्धित अमेरिकी वैज्ञानिकों
का कीमती समय उस मुद्दे की पड़ताल करने में व्यर्थ गया। यदि वैदिक
विज्ञान से उनका परिचय होता तो अनुमान करने की कोई आवश्यकता
नहीं पड़ती। सामान्य वैदिक परिभाषा में बुध को चन्द्र का पुत्र और मंगल
को भूमिपुत्र कहा जाता है। इससे स्पष्ट है कि चन्द्रमा और बुध की मिट्टी
में समानता होगी। उसी प्रकार मंगल और पृथ्वी की मिट्टी में समानता
होगी। यह दूर के ग्रहों के जटिल संशोधन की बात होते हुए भी उस तथ्य
को वैदिक परम्परा के सामान्य जन तक उसे जानते हैं।

अब विविध नक्षत्रों के नाम देखें। यूरोपीय जन जिन नक्षत्रों को

Great Bear और Little Bear कहते हैं वह ऋक्ष यानी रीछ यानी भालू वैदिक ज्योतिष के दिए हुए नाम हैं। वैदिक नाम को Bear कहकर अनुवादित किया गया है।

यूरोपीयों में अन्य दो नक्षत्रों के नाम Canis Major व Canis Minor यानी बड़ा श्वान (कुत्ता) और छोटा श्वान कहे जाते हैं। उनकी वर्णमाला में 'C' अक्षर का उच्चारण स, श या ष होता है। तथापि कई शब्दों में वे 'K' अक्षर के स्थान पर 'C' अक्षर ही लिखकर उसी का उच्चारण 'क' करते हैं। तदनुसार कॅनिस् मेजर और कॅनिस् मायनर नामों में यदि 'C' अक्षर का मूल उच्चारण 'स' है यह बात ध्यान में रखी जाए तो वह श्वान बड़ा और श्वान छोटा ऐसे संस्कृत शब्द ही होने का परिचय मिलता है। उसी आधार पर कुत्ते के लिए जो छोटा निवासस्थान बनाया जाता है, उसे आंग्ल भाषा में केनेल (Kennel) कहा जाता है, जो वास्तव में 'श्वानल' ही है, यह बात ऊपर दिए विवरण से सिद्ध होती है।

नवग्रहों में से एक को वैदिक परम्परा में 'गुरु' यानी 'बड़ा' कहा गया है। सारे ग्रहों में वही सबसे बड़ा, मोटा, विस्तीर्ण होने के कारण 'गुरु' यह उसका नाम सार्थक है। वैदिक-विज्ञान अत्युच्च कोटि का था और वह भी प्राचीनतम काल में, इसका 'गुरु' यह महत्तम ग्रह का नाम बड़ा प्रमाण है।

शनि का संस्कृत नाम है शनैश्चर: यानी धीरे चलने वाला। यह नाम भी बड़ा अर्थपूर्ण है क्योंकि नवग्रहों में सूर्य की एक परिक्रमा करते-करते शनि को तीस वर्ष लगते हैं। यह बात भी एक बड़ा वैज्ञानिक तथ्य है जो प्राचीनतम काल से वैदिक परम्परा में सामान्य से सामान्य व्यक्ति को भी ज्ञात है। तथापि कदाचित् पाश्चात्य परम्परा में पले उच्चविद्या-विभूषितजनों को भी वह पता न हो।

वैदिक परम्परा में एक नक्षत्र का नाम है ज्येष्ठ। वही अपने एक मास का भी नाम है। अशुद्ध उच्चारण में उसे 'जेठ' भी कहा जाता है। उसका अर्थ है आयु में बड़ा। 'जेठानी' का वही अर्थ है। यूरोपीय लोग उसे Antares कहते हैं जो स्वयं तारका शब्द का अपभ्रंश है। उस तारका के सम्बन्ध में पैट्रिक मूर (Patrik Moore) ने अपने ग्रन्थ The story of Astronomy (यानी खगोल ज्योतिष की कथा) में लिखा है कि "वह ज्येष्ठ (अन्तारिस) नक्षत्र बड़ा वृद्ध हुआ चला है।" यहाँ भी हमें देखने को मिलता है कि वैदिक ज्योतिष के अनादि सिद्धान्त आयतन् पाश्चात्य वैज्ञानिकों को भी ज्यों-के-त्यों मानने पड़े हैं।

पाश्चात्य प्रणाली में चन्द्रमा के दागों की आकृति एक मनुष्य और दो खरगोशों जैसी मानी जाती है। इसका मूल भी वैदिक संस्कृति में ही है। वैदिक परम्परा में चन्द्रमा को 'शशि:' कहते हैं और खरगोश को 'शशक:' कहते हैं। चन्द्रमा के रथ में दो खरगोश जोते हुए बतलाए जाते हैं।

चन्द्रमा को पाश्चात्य परम्परा में 'मून' (moon) कहते हैं। यह 'मन' शब्द का अपभ्रंश है। फलज्योतिष में चन्द्रमा मानव के मन का द्योतक होता है। चन्द्रमा की कला जैसी बढ़ती या घटती जाती है मानवी मन के विचारों में अनुकूल-प्रतिकूल परिवर्तन होता रहता है। 'मन' पर नियन्त्रण रखने वाला इसी अर्थ से आंग्ल भाषा में moon (अर्थात् मन) यह संस्कृत नाम ही कायम है।

वैदिक प्रथा में 'सोम' यानी 'चन्द्र का वार' इस अर्थ से सोमवार नाम पड़ा है। पाश्चात्य परिभाषा में भी उसका Monday अर्थात् मन-दिन यानी चन्द्रवार उर्फ सोमवार यही नाम स्थिर है।

ऊपर दिए विवरणों से दो बातें स्पष्ट होती हैं कि खगोल ज्योतिष का उच्चतम ज्ञान वैदिक परम्परा में अनादि काल से उपलब्ध है। और दूसरी बात यह कि वही ज्ञान ठेट संस्कृत नामों सहित यूरोपीय परम्परा में ज्यों-का-त्यों चला आ रहा है। यह तभी हो सकता था कि ईसाई बने हुए वर्तमान यूरोपीय लोगों के पूर्वज प्राचीन वैदिक-संस्कृत गुरुकुल में ही शिक्षा पाए हों। क्या वैदिक परम्परा के प्राचीन विश्वप्रसार का यह एक और ठोस प्रमाण नहीं है ?

प्रत्येक धार्मिक विधि में वैदिक परम्परा में यजमान को संस्कृतभाषा में एक संकल्प का उद्घोष करना पड़ता है। उसमें स्वकुल के इतिहास का और सारे विश्व के इतिहास का संक्षेप में परीक्षण किया जाता है। प्रति-दिन सारी पृथ्वी पर कृतयुग से आजतक के इतिहास का पूरा ब्यौरा संक्षेप में प्रत्येक यजमान से प्रत्येक धार्मिक विधि में संकल्प के रूप में दोहराते

रहना कितनी अमोल परम्परा है। कृतयुग से आज तक सर्वत्र वह बराबर चलती आ रही है। मानवों के इतिहास की पूरी ताली सदा ताजी और मुखोद्गत रखना इस प्रथा का मूल उद्देश्य है। सारे इतिहासक्रम को लोगों के मन में जीवित रखनेवाली यह वैदिक प्रथा विश्व में बेजोड़ है। उसीके आधार पर हम यह भी कह सकते हैं कि वैदिक इतिहास की धारा उस संकल्प द्वारा सर्व मानवों की स्मृति में अखण्ड बहती रखी गई है।

उस संकल्प में यजमान कहता है कि मैं फलाने का पुत्र, फलाने का पौत्र और फलाने का प्रपौत्र। श्रीमद्भगवतो महापुरुषस्य विष्णोराज्ञया प्रवर्तमानस्य अद्य ब्रह्मणो द्वितीये प्रहरार्धे विष्णुपदे श्रीश्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतितमे युगचतुष्के कलियुगे प्रथम चरणे जम्बूद्वीपे भरतवर्षे भरतखण्डे दक्षिणापथे रामक्षेत्रे बौद्धावतारे दण्डकारण्ये देशे गोदावर्या: दक्षिणे तीरे शालिवाहनशके···अमुकनामसंवत्सरे···अमुकायने···अमुक-ऋतौ···अमुकमासे····अमुकपक्षे·····अमुकतिथौ·····अमुकवासरे···अमुकदिवस नक्षत्रे····अमुकयोगे···अमुक करणे···अमुकराशिस्थितवर्तमाने चन्द्रे···अमुकराशिस्थिते श्री सूर्ये···अमुकराशिस्थिते श्री देवगुरौ शेषेषु ग्रहेषु यथायथ राशिस्थानस्थितेषु सत्सु एवंगुणविशेषेण विशिष्टायां शुभपुण्यतिथौ सकलशास्त्रपुराणोक्तफलप्राप्त्यर्थं—यह फलाना-फलाना धार्मिक व्रत या विधि कर रहा हूँ।

मानवी सृष्टि का जो ४३२०० लक्ष वर्षों का गतिचक्र बताया गया है उसमें से अभी आधा भी नहीं हुआ है। वैदिक कालगणना के अनुसार उनमें से १,९७,२९,४९,०८६वें वर्ष में हम चल रहे हैं। वही वैदिक कालगणना सारे विश्व में मानी जाती थी जब ईसापूर्व समय में सर्वत्र वैदिक गुरुकुलशिक्षा, वैदिकशासन और वैदिक-समाज-जीवन प्रचलित था।

ईसापूर्व कालगणना

वर्तमान काल में विश्व में पाश्चात्य ईसाई लोगों का वर्चस्व होने के कारण उन्होंने एक ईस्वी शक चला लिया है। उसी के अनुसार अभी ईस्वी शक का १९८६वां वर्ष चल रहा है। वर्तमान इतिहास में सारी पाश्चात्य काल-गणना ईसा को केन्द्र मानकर ईसा-जन्म को इतने वर्ष शेष

थे जब (B. C.) और ईसा-जन्म के पश्चात् इतने वर्ष (A. D.) हो जाने पर—ऐसा सारी घटनाओं का काल-संकेत उल्लिखित होता ल-गणना का एक बड़ा दोष यह है कि ईसा का जन्म कौन से वर्ष में हुआ इस मुद्दे पर ईसाई लोगों का ही स्वयं एक मत नहीं है। वैसा मतभेद रहने का एक मुख्य कारण यह है कि ईसा स्वयं एक काल्पनिक व्यक्ति है। ईसामसीह अर्थात् जीजस क्राइस्ट नाम का कोई व्यक्ति हुआ ही नहीं। हमने इसी ग्रन्थ के एक स्वतन्त्र प्रकरण में उस प्रश्न की पूरी चर्चा की है। जो व्यक्ति कभी हुआ ही नहीं, उसका जन्मदिन निराधार प्रतीत होना स्वाभाविक है।

ईसा से पूर्व जो कालगणना के विविध माध्यम थे वे कृतयुग में सृष्टि की उत्पत्ति से कृत शक की गणना होती थी। तत्पश्चात् त्रेता, द्वापर और कलियुग के उनके अपने आरम्भ से कालगणना होती थी। हाल में क्योंकि कलियुग चालू है अत: कलियुग के इतने वर्ष बीत चुके ऐसा उल्लेख होता है। उस कलियुग के अन्तर्गत युधिष्ठिर शक, विक्रम सम्वत्, शालिवाहन-शक, शिवराज्याभिषेक शक आदि प्रचलित हुए।

शक चालू करने का अधिकार किसे है ?

अब प्रश्न यह उठता है कि क्या कोई भी राजा अपने अधिकार की शक्ति से स्व-नाम से नया शक-सम्वत् घोषित कर सकता है ? तो उस प्रश्न का उत्तर है 'नहीं'। वैदिक परम्परा में वही शासक अपने नाम से नया सम्वत् आरम्भ कर सकता है जो दारिद्रहारक: होगा। जिसके शासन में कोई भूखा न मरता हो और किसी प्रजाजन को ऋण न लेना पड़ता हो। यदि किसी को अचानक किसी अन्य व्यक्ति से धन मांगने की आवश्यकता पड़ी तो सरकार वह कर्ज स्वयं चुकाती। ऐसी आदर्श संस्कृति में प्रत्येक मानव प्रात: ४-४½ बजे उठकर अपना दैनन्दिन कार्यक्रम आरम्भ कर देता चाहे वह शूद्र ही क्यों न हो। चाय, कॉफी, भाँग-गांजा, धूम्रपान आदि व्यसन वर्ज्य थे। सारे गोसेवा करते थे और गोदुग्ध पीते थे। कीटनाशक द्रव्य, गोमूत्र, गोबर, कड़वा नीम आदि से बनाए जाते थे। प्रत्येक उदीयमान दिन का विशेष आध्यात्मिक महत्त्व समझकर सारे लोग उस

दिन के विशेष पूजापाठ, प्रार्थना, जप, पठन, चिन्तन, मनन, गायन आदि में बड़ी लगन और उत्साह से भाग लेते। इसी कारण कभी कोई छुट्टी नहीं होती थी। यात्रा भी एक धार्मिक कार्य माना जाता था। बचपन से ही निजी आचारधर्म में मग्न रहने के कारण अपराध या व्यसनाधीनता नगण्य होती थी। सारे जीवन के प्रत्येक दिन में एक नया आध्यात्मिक आनन्द और उत्साह भरा होता था।

भारत सारे विश्व को नौकाएं बनाकर देता था

वह विश्वव्यापि वैदिक संस्कृति अब केवल भारत में ही रह गई है क्योंकि यहाँ उसकी प्राचीन जड़ है। एक विशाल वटवृक्ष की शाखाएं पर्ण-संभार और छाया की तरह वह वैदिक संस्कृति जब सारे विश्व में फैली थी तब सातों समुद्र पार सारे प्रदेशों से सम्पर्क रखने के लिए भारत में ही सब प्रकार के जहाज (नौका) बनाकर देश-प्रदेशों को दिए जाते थे। इसी कारण यूरोपीयों का Navy शब्द संस्कृतमूलक है। वे उस शब्द का उच्चार 'नेव्ही' करते हैं जो गलत है। वह 'नावि' ऐसा संस्कृत शब्द है। नौ, नौका, नाव, नावां ऐसे उसके भिन्न रूप होते हैं।

Murrays Handbook of India and Ceylon (सन् १८९१ का प्रकाशन) में उल्लेख है कि "सन् १७३५ में सूरत नगर में आंग्लद्वीप के ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए (भारत में) एक नौका बनाई गई। एक अंग्रेज अधिकारी मुम्बई से उस नौका का सर्वेक्षण करने गया। वहाँ के कारखाने का एक निरीक्षक लौजी नासरवानजी नाम का था। उसकी कार्यकुशलता से वह अंग्रेज इतना प्रभावित हुआ कि वह उस भारतीय को बम्बई चलकर आंग्लों की नौकरी में लग जाने को प्रवृत्त करता रहा। तब से अब तक वहाँ (मुम्बई में) दो पीढ़ियों तक बम्बई के जहाज का कारखाना पूर्णतया लौजी कुल की निगरानी में ही रहा। सन् १७७१ में लौजी के दो पौत्र (पोते) फामजी माणिकजी और जमशेदजी बहामनजी उस कारखाने में काम करने लगे। उन्होंने ६००-६०० टन वजन की दो नौकाएं बनाईं। उनके पश्चात् उनके पुत्र वहाँ कार्य करने लगे। सन् १८०२ में जमशेदजी ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए

कॉर्नवालिस (Cornwallis frigate) नाम की युद्ध-नौका बनाई। उससे ब्रिटिश अधिकारी इतने प्रसन्न हो गए कि उन्होंने ब्रिटिशों के मुम्बई केन्द्र की युद्ध-नौकाएं बनाते रहने का कार्य उस भारतीय कारखाने पर सौंपा। उस व्यवस्था के अन्तर्गत जो प्रमुख युद्ध-नौकाएं बनीं वे थीं—Minden-७४ (सन् १८२० में), कॉर्नवालिस-७४ जो १७४५ टन वजन की थी, मलाबार-७४, सेरिंगपटनम् (जो श्रीरंगपट्टणम् का विकृत रूप है) आदि की कई नौकाएं ब्रिटिश लोग भारतीयों से बनवाकर खरीदते रहे। उनमें गँजेस्-८४ (यह गंगा शब्द का विकृत उच्चारण है), कलकत्ता-८६ (जो कालिघट्टः का विकृत रूप है) और मियामी-८६ (Miami)। यह आंकड़े उन नौकाओं पर जितनी तोपें रखी जाती थीं, उनके हैं। सारे जहाज भारतीय सागवान लकड़ी के थे। ब्रिटिश ओक वृक्ष की लकड़ी से भारतीय सागवान चार-पाँच गुना अधिक टिकाऊ था। लौजी कॅसल (Lowji Castle) नाम का १००० टन भार का जो व्यापारी जहाज भारत में बनाया गया था वह लगभग ७५ वर्ष तक सागर पर गमनागमन करता रहा।

एक ब्रिटिश नौका सीहॉर्स (Seahorse) १६ वर्षीय Nelson (नेल्सन्) नाम के युवा अधिकारी के नेतृत्व में सन् १७७५ में मुम्बई आई थी। बम्बई में बने जहाज बड़े पक्के, टिकाऊ और सुन्दर होते थे। यूरोप में उस समय बने जहाज भारतीय जहाजों से बहुत निकृष्ट थे। भारतीय नौकाओं की लकड़ी इतनी अच्छी होती है कि उनसे बनी नौकाएं ५० से ६० वर्ष तक लीलया सागर संचार करती रहती हैं।" (सन्दर्भग्रन्थ—Travels in Ásia and Africa, by Abraham Parsons, 1808, Longmans, London)।

ऊपर दिए उद्धरण से प्रत्येक भारतीय को गर्व होना चाहिए कि हमारी वस्तुएं बड़ी अच्छी होती हैं और हमारी विद्या और कार्यकुशलता जगन्मान्य और जगद्वंद्य थी। प्रदीर्घ परवशता में भारत लुट जाने से अपना आत्मविश्वास, आत्मगौरव और कार्यकुशलता खो बैठा है। वर्तमान हालत तो यह है कि भारतीय लोग पराए माल को ही सर्वोत्तम समझ

हमें वही प्राचीन प्रवीणता पुनः लगे हैं। हम क्या थे और क्या बन गए। प्राप्त करने के लिए कितने अथक और निश्चयी यत्न करने होंगे। वे प्राचीन वैदिक आदर्श और लक्ष्य प्रत्येक भारतीय के मन में बिठाने होंगे। ऐसे ही मार्गदर्शन के लिए इतिहास पढ़ा जाता है। वर्तमान शासक अपने स्वार्थ और दुर्व्यवहार में मस्त हैं। आशा है आगामी शासक उस उज्ज्वल वैदिक परम्परा के इतिहास से कुछ सबक सीखेंगे।

२३

आर्यसंस्कृति के अधीक्षक–'द्रविड़'

भारत के दक्षिण भाग में रहने वाले कन्नड़ी, तेलुगु, तमिल और मलयाली लोगों को द्रविड़ कहा जाता है। यूरोपीय ईसाई लोगों ने ऐसा भ्रम फैला रखा है कि आर्य कोई गौरवर्णीय लोगों की जाति थी, जो भारत में आक्रामक बनकर आई और उसने उत्तर भारत में रहने वाले श्यामवर्णीय द्रविड़ों को खदेड़कर कन्याकुमारी की दिशा में जाकर दक्षिणभारत में बसने पर विवश किया। यह एक बड़ा भ्रम है।

आर्य किसी जातिविशेष का नाम नहीं। वह तो एक संस्कृति या समाजव्यवस्था है। उसे मानकर उसके नियमानुसार जीवन व्यतीत करने वाले सारे आर्यधर्मी, या वैदिक प्रणाली के, सनातन धर्मी या हिन्दू कहलाते हैं। उदाहरण—जो वेदपठन, उपनिषदों का दार्शनिक ज्ञान, महाभारत-रामायण गोपूजन, कर्म सिद्धान्त षोडश संस्कार आदि में श्रद्धा रखते हैं उन्हें आर्य कहा जाता है। हमारे भारतीय द्रविड़ तो पूर्णतया आर्यधर्मी होते हैं। तथापि पाश्चात्य गोरे ईसाई विद्वानों ने अज्ञानवश या कुटिल हेतु से ऐसा ढोल पीटा कि आर्य नाम की एक जाति थी जिसने द्रविड़ों से छल किया। वर्तमान अधिकांश विद्वान् उस पाश्चात्य प्रणाली में पले-पोसे होने के कारण वही झूठा सिद्धांत दोहराते रहते हैं।

पाठक उससे सावधान रहें। हब्शी, मंगोल आदि किसी भी जाति का व्यक्ति यदि वैदिक समाजपद्धति के अनुसार जीवन-यापन करे तो वह आर्यधर्मी कहलाता है। भारत के द्रविड़ तो पूरे कमंठ आर्यधर्मी हैं न कि आर्यधर्म के शत्रु या विरोधक। और तो और सारे विश्व में आर्यधर्म का अधीक्षण, निरीक्षण, व्यवस्थापन आदि करने वाला वर्ग द्रविड़ कहलाता है। 'द्र' यानी द्रष्टा, और 'विर' यानी 'जाननेवाला' या ज्ञानी यानी ऋषि मुनि।

यह द्रविड़ लोग केवल भारत में ही नहीं अपितु सारे विश्व में वही भूमिका निभाते थे। अतः यूरोप में भी द्रविड़ थे। उन्हें ड्रुइड (Druids) कहा जाता है। प्रदेशभिन्नता के कारण ही द्रविड़ व ड्रुइड ऐसी उच्चारभिन्नता रूढ़ हुई है। वास्तव में दोनों की भूमिका एक ही थी। दोनों वैदिक समाज के अधीक्षक, मार्गदर्शक, व्यवस्थापक थे। अतः आर्य और द्रविड़ परस्पर पूरक संज्ञाएँ हैं।

यूरोप में शिवसंहिता

हालांकि यूरोप की सारी जनता वर्तमान समय में अपने आपको ईसाई कहती है तथापि उनमें प्रत्येक प्रदेश में छोटे-छोटे गुट अपने आप को 'ड्रुइड' कहते हुए अपना भिन्न अस्तित्व घोषित करते हैं। तथापि उनमें गुप्तता की एक प्रथा चली आ रही है। इसका कारण यह था कि लगभग ६०० वर्षों तक निर्मम अत्याचार और दहशत के माध्यम से जब दक्षिण से उत्तर तक ईसाई धर्म फैलाया गया तब कई ऋषिमुनिगण अपने आपको बाहरी दृष्टि से ईसाई कहलाकर गुप्त रूप से आर्य-सनातन-हिन्दू-वैदिक धर्म पर निजी श्रद्धा कायम रखे हुए हैं। इनकी एक विशिष्टता यह है कि ये सूर्यपूजक हैं और निजी भाषा में गायत्रीमंत्र का अनुवादित उच्चारण करते हैं।

विद्यमान यूरोप में ड्रुइडों को डरने का अब कोई कारण नहीं। तथापि गुप्तता उनके संघटन का एक इतना अभिन्न अंग बन गया है कि वर्ष में चार-पांच बार ड्रुइडों के यह छोटे-छोटे गुट किसी मैदान में इकट्ठे होकर अपनी-अपनी भाषा में स्तवन करके फिर यकायक अज्ञात हो जाते हैं। उनसे बात करने पर भी वे अपना पूरा पता नहीं बतलाएँगे। उनकी संस्था के नाम का फलक कहीं लगाया नहीं जाता। तथापि सूर्यपूजन—स्तवन के दिन उनसे संपर्क कर आगे थोड़ा-थोड़ा मेलजोल रखा जा सकता है।

उनके पंथ की छपी सूर्यस्तवन आदि की छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ हैं। उनमें शिवसंहिता नाम की एक पुस्तक है। केवल नाम ही नाम वैदिक संस्कृत शेष रह गया है। बाकी अंदर तो कुछ उनके ही उल्टे-सीधे अनुवाद

की यूरोपीय सूर्य प्रार्थनाएँ होती हैं। एक सूर्यपूजन के दिन मैंने लंदन में सन् १९७७ में ड्रुइडों से सम्पर्क किया था। उनकी ग्रन्थसूची में 'शिवसंहिता' नाम पढ़कर मैं चकित रह गया। तथापि वह शिवसंहिता उस समय अनुपलब्ध थी। सारी प्रतियाँ बिक चुकी थीं या बँट चुकी थीं। उसकी माँग सीमित होने के कारण उन्होंने उसका पुनर्मुद्रण नहीं किया था। तथापि अन्य संशोधक उस पुस्तिका का पता लगाएँ और मूल प्राचीन संस्कृत शिवसंहिता यूरोप में किस प्रकार खंडित, विकृत, त्रुटित, अनुवादित होते-होते सुकड़कर वर्तमान पतली यूरोपीय ड्रुइडों की शिवसंहिता में परिवर्तित हुई इसकी बारीकी से शोध करें।

प्राचीन संस्कृत वैदिक साहित्य इस प्रकार यूरोप में केवल शीर्षक के रूप में ही शेष है। उदाहरण—वेद की स्मृति यूरोप में 'एड्डा' नाम से कायम है। किन्तु 'एड्डा' शीर्षक के ग्रन्थ में कुछ और ही जनश्रुतियाँ भर दी गई हैं। जब किसी ऐतिहासिक स्थान पर एकाध नारियल गड़ा हुआ मिल जाए तो उसके अंदर की गरी सारी नष्ट हो जायेगी और केवल ऊपरी कठिन भाग रह जाता है। वही हाल इतिहास के उथल-पुथल में प्राचीन ग्रन्थों का हो जाता है। इनके अंदर का ब्यौरा नष्ट होकर शीर्षक ही शीर्षक रह जाता है।

यूरोप के ड्रुइड लोग अपने आपको अन्य ईसाइयों से भिन्न तो समझते हैं किन्तु वे किस प्रकार से उनसे भिन्न हैं और भिन्नता की स्मृति क्यों रखे हुए हैं यह वे नहीं जानते। इस समस्या का उत्तर हम दे सकते हैं। प्राचीन काल में यूरोप में इन लोगों के पूर्वज ही वहाँ के वैदिक समाज का व्यवस्थापन करते थे। वे उस समाज के नेता और अधीक्षक थे। उस पद की जिम्मेदारी उनकी पारम्परिक स्मृति शेष रहने के कारण वे अभी तक ड्रुइड भूमिका की वह प्राचीन स्मृति जागृत रखे हुए हैं।

भारत के द्रविड़ों के मन में भी आंग्ल शासकों ने कई विकृत कल्पनाएँ अज्ञानवश या जानबूझकर भर दी हैं। अतः कई द्रविड़ महत्वाकांक्षी नेता द्रविड़ों का भिन्नत्व सिद्ध करने के लिए भारत के यूरोपीय शत्रुओं द्वारा रटाए गए कई मुद्दे दोहराते रहते हैं। जैसेकि "आर्य नाम की एक कोई गविष्ठ जाति थी। वह भारत के पार रहती थी। भारत में तो अनादि काल

से द्रविड़ लोग ही रहते थे। गोरे आर्य लोगों ने सैनिक आक्रमण द्वारा हमको
विंध्य के दक्षिण में भगा दिया और स्वयं उत्तर भारत में फैल गये। अतः
उत्तर और दक्षिण भारतीयों के शारीरिक रंग और भाषाएँ भिन्न हैं।
दक्षिणी द्रविड भाषाओं का कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं है। संस्कृत भाषा
और वैदिक संस्कृति आर्यों ने द्रविड़ों पर लादी। उसके बदले में द्रविड़ों ने
भी किसी प्रकार से शिवपूजन आर्यों पर लाद दिया। वैसा न होता तो
शिव मूलतः आर्य देवता नहीं है। वास्तव में शिव तो द्रविड़ों का देव था।
रावण द्रविड़ था और राम आर्य था। तो देखो उनमें कैसा बैर रहा ?
रामविजय एक तरह से द्रविड़ों का अपमान है। अतः द्रविड़ों को रामनाम
और उत्तरी हिन्दुस्थान की हिन्दी भाषा आदि को तिरस्कृत भाव से ठुकरा
देना चाहिए।"

अंग्रेजों ने इस प्रकार एक कल्पित आर्य-द्रविड़-वाद निर्माण करके
उसे आग जैसे भड़का दिया। इसके फलस्वरूप तमिल प्रांत में ऐसे नेता
निर्माण हुए कि जो अशिक्षित या अल्पशिक्षित तमिल जनसमूहों को उत्तर
भारतीयों के 'पंजे' से 'तमिलों को मुक्त कराने' के नारे लगाकर उनके मन
जीतकर तमिलनाडु प्रांत को चलाने का अधिकार प्राप्त कर चुके हैं। इसी
कारण तमिलनाडु में राज्याधिकार हस्तगत कर चाहने वाले राजनीतिक
पक्षों में भारतीयों की और हिन्दी की अधिकाधिक निन्दा या अवहेलना
कर सके उस पक्ष को चुनाव में यश प्राप्त होता है। यह कैसा दैवदुर्विलास
है कि जो तमिल द्रविड़ लोग आर्य हिन्दू सनातन, वैदिक धर्म के संचालक,
व्यवस्थापक, अधीक्षक और अगवाहे रहे हैं उन्हीं को आज यह कहकर
मतिभ्रष्ट किया जा रहा है कि संस्कृत-भाषा और वैदिक संस्कृति द्रविड़ों
पर लादी गई है। उसी सूत्र को और आगे बढ़ाकर वैदिक संस्कृति को
नीचा दिखाने के हेतु कुछ तमिल विद्वान् यह कहने लगे हैं कि तमिल
भाषा और द्रविड़ संस्कृति वेदों से कहीं प्राचीन है। इससे उन्हें वैदिक
संस्कृति पर मात करने का आनन्द तो मिलता है। किन्तु यह बुद्धिमानी
की बात नहीं है। क्योंकि तमिल भाषा और द्रविड़ संस्कृति वेदों से भी
पुरानी है यह दावा जिस आधार पर वे करते हैं वह आधार ही गलत है।
मैक्समूलर नामक यूरोपीय विद्वान् ने ऋग्वेद का काल ईसा पूर्व सन् १२००

ठहरा दिया था: अंग्रेजी शासनकाल में उसके विपरीत मत की कोई
सुनवाई नहीं थी। सरकारी छप्पे से ऋग्वेद की जन्मतारीख ईसा पूर्व सन्
१२०० निश्चित करने के पश्चात् विविध विद्यालयों में उसी तारीख
को निर्णायक माना गया। वही तारीख रटकर सारे विद्वान् विविध विद्या-
लयों का अभ्यासक्रम पूरा कर भिन्न-भिन्न अधिकार पदों पर नियुक्त हुए।
तमिलभाषा और द्रविड़ परम्परा निश्चित ही ईसा पूर्व सन् १२०० से
पुरानी है, यह तो हम भी मानते हैं। तब भी उसका अर्थ यह नहीं कि
तमिलभाषा संस्कृत की पुत्री नहीं और द्रविड़ संस्कृति वैदिक नहीं।
मैक्समूलर भले कितना ही विद्वान् क्यों न हो, वेदों का कालनिर्णय उसका
अटकलपच्चू, सरासर गलत और बालिश है। इस ग्रंथ में प्रस्तुत विवरण
द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि संस्कृत भाषा और वैदिक संस्कृति सृष्टि-
निर्माण के दिन से ही आरम्भ होने के कारण उससे अधिक प्राचीन भाषा
या संस्कृति कोई हो ही नहीं सकती।

दूसरी समझने की बात यह है कि वैदिक संस्कृति और संस्कृत-भाषा
महाभारतीय युद्ध तक अखंडित चलती रही। राज्यखंडों का और भाषाओं
का विभाजन जो हुआ वह महाभारतीय युद्ध के महाविनाश के पश्चात् था।
अतः तमिल, लेटिन, ग्रीस, आदि जो भी भाषाएँ (संस्कृत से) निकली हैं
वे सब महाभारतीय युद्ध के अनन्तर हुई हैं। हमारे हिसाब से महाभारतीय
युद्ध ईसा पूर्व सन् ३१३८ में हुआ। अतः संस्कृत को छोड़कर अन्य भाषाएँ
उस वर्ष के पश्चात् की हैं।

सृष्टिनिर्माण का और महाभारतीय युद्ध का समय जो हमने माना है
वह परंपरागत धारणाओं का है। इस ग्रंथ के कुछ वाचक ऐसे भी हो
सकते हैं जो उन धारणाओं से सहमत न हों। उस पर भी हमें कुछ आपत्ति
नहीं है। हमारा आग्रह केवल इतना ही है कि विश्व का आरम्भ जब भी हुआ
वेद वाङ्मय और उसकी भाषा संस्कृत इनका जन्म भी उसी समय का है।
उसी प्रकार हमारा दूसरा आग्रह यह है कि महाभारतीय युद्ध जब भी हुआ
हो उसके पश्चात् ही विविध प्रादेशिक राज्य और भाषाएँ निर्माण हुईं।
अतः तमिलभाषा को वेदपूर्व कहना या संस्कृत से पुरानी या समकालीन
मानना योग्य नहीं। इतिहास-संशोधन करते समय यह एक बड़ा धोखा

आत्मगौरव या स्वजाति, भाषा या धर्म की महत्ता के
होता है कि व्यक्ति आत्मगौरव या स्वजाति, भाषा या धर्म की महत्ता के
घमण्ड में निराधार तथ्यों को ही बड़े दुराग्रह से अपना लेता है। तमिल-
भाषियों को हमारा यही कहना है कि वे अपने-आपको आर्य, हिन्दू, सना-
तन, वैदिक संस्कृति के अभिन्न अंग समझें। आर्य और द्रविड़ यह परस्पर
पूरक नाम हैं। आर्य संस्कृति के रखवाले ऋषिमुनि ही यूरोप में ड्रुइड
कहलाते हैं और भारत में द्रविड़। अतः तमिल भाषा या तमिल संस्कृति
को वैदिक संस्कृति और संस्कृत भाषा के विरोधी समझकर विवाद उत्पन्न
करना ऐतिहासिक दृष्टि से अयोग्य है। एक कपोलकल्पित विरोध का
आभास निर्माण करने वाले तमिल दल क्षणिक राजनीतिक लाभ भले ही
उठा रहे हों किन्तु उसके साथ ही वे वेदों से, वैदिक संस्कृति से, संस्कृत
भाषा से, ऐतिहासिक सत्य से, और अपने आपसे बड़ा धोखा कर रहे हैं।
वेद, संस्कृत भाषा और वैदिक संस्कृति से तमिल श्रेष्ठ या प्राचीन मानना
इतिहास से प्रतारणा करना है। उसमें कुछ बड़प्पन भी नहीं है। उस दुरा-
ग्रह से तमिल द्रविड़ों के निजी वैदिक परम्परा में फूट पड़ेगी और अन्तः-
कलह भी होगा। उनकी वह भूमिका तर्कशुद्ध या तर्कसिद्ध नहीं है। तमिल
संत सारे वैदिक दार्शनिक ही तो हैं। तमिल लोगों का जीवन भी चातुर्वर्ण्य-
धर्माश्रम पद्धति का ही तो है। उसी प्रकार शिव कोई उनके अपने अलग
से देवता थोड़ी ही हैं? शिव जी तो वैदिक त्रिमूर्ति के एक सदस्य हैं।
द्रविड़ों ने किसी प्रकार आर्य जीवन प्रणाली अपना ली और उसके बदले
आर्यों ने अपने देवमंडल में शिवजी की प्रतिस्थापना करी—यह जो ऊट-
पटांग धारणा धूर्त, गोरे आंग्ल लोगों ने भारतीयों के मस्तिष्क में गढ़ दी।
यह उनकी कुटिल राजनीति की एक चाल थी। ऐसे अनेक विवाद
सुलगाकर उसकी आग में विभिन्न भारतीय गुट जलकर खाक होते रहे
जैसे ज्योति पर पतंगे झपटते हैं—यही ब्रिटिश लोगों का षड्यंत्र था।
तमिल जनता और नेता वर्ग के उस विवाद की लपेट में आकर वैदिक
संस्कृति और संस्कृत-भाषा से अपने-आपको भिन्न या श्रेष्ठ समझने की
प्रवृत्ति का कड़ा विरोध करना चाहिए।

आर्यधर्म

जन्मजन्मान्तर में अच्छी गति प्राप्त करने के लिए मानव को कैसा नियमबद्ध आचरण रखना चाहिए यह आर्य, वैदिक, हिन्दू, सनातन संस्कृति का मूल दृष्टिकोण है। पृथ्वीपर अवतीर्ण आत्मा भूले-भटके बालक की तरह गुम न हो। मृत्यु के उपरान्त वह सीधे मार्ग से और शुद्ध भाव से परमात्मा में लीन हो सके इसका मार्गदर्शन वैदिक संस्कृति कराती है। इसी कारण बालक के जन्म के पूर्व से आरम्भ हुए वैदिक संस्कृति के १६ संस्कार उस व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् (श्राद्ध के रूप में) तीन पीढ़ियों तक चलते रहते हैं। इतनी शिस्तबद्ध जीवन-प्रणाली में यदि किसी से कुछ प्रमाद हो जाता तो उसके लिए प्रायश्चित्त नाम की सामाजिक दंड-प्रणाली भी बनी थी। ऐसे मानवी व्यवहारों के उन नियमों को जानबूझकर उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को अनार्य कहा जाता था। ऐसे हठी या दुराग्रही व्यक्ति को सामाजिक बहिष्कार के कठोर दण्ड से नीतिनियमानुसार जीवन बिताने के लिए प्रवृत्त किया जाता था। जैसे चोरी करने वाले को कारावास दिया जाता है। किन्तु सामाजिक बहिष्कार का हेतु उस व्यक्ति को पुनः धर्माचरण में लाने का था, न कि उसे धर्मबाह्य या अहिंदू कराने का। अहिंदू तो वे तब से होने लगे जब से ईसाई और इस्लामी पंथ निकले। तब तक तो सारे आर्यधर्मी ही गिने जाते थे। चाहे वे अपराधी भी हों तो वे दंडनीय समझे जाते जैसे माता-पिता शरारती बच्चे को दण्ड तो देते हैं फिर भी कुटुम्ब से नाता नहीं तुड़वाते। अधिक बड़े अपराध को कारावास या देहान्त दण्ड भी होता था। फिर भी मरणोपरान्त वैदिक क्रिया ही कराई जाती थी। इसका तात्पर्य यह है कि आर्य, वैदिक, हिन्दू, सनातन धर्म, मानव धर्म है जिसमें हर एक का स्थान या भूमिका, गुण और कर्मों के अनुसार निश्चित होती है।

परमात्मा सम्बन्धी वैदिक धारणा

अधिकतर सामान्य हिन्दूजन मंदिरों में या घरों में देवमूर्ति की पूजा, प्रार्थना आदि करते दीखते हैं। अतः उस प्रकार की पूजा, प्रार्थना, जाप आदि

हिन्दुत्व का मुख्य अंग समझा गया है। तथापि वह धारणा सरासर गलत है। वैदिक सिद्धांत के अनुसार चराचर सृष्टि के कण-कण में भगवान् का अस्तित्व है। अतः पत्थर में भी भगवान् है। किसी सरकारी यंत्रणा में राजा या राष्ट्रपति से लिपिक और चपरासी तक सरकारी अधिकार ही बंटा होता है। उस यंत्रणा का प्रत्येक व्यक्ति अपने आपमें सरकारी अधि-कार का ही प्रतिनिधित्व करता है। तथापि न्यायी यंत्रणा में किसी भी व्यक्ति की खुशामद करने से ध्येय सिद्धि न होकर निश्चित नियमों का पालन करके इच्छित वस्तु प्राप्त होती है।

वही परमेश्वरी सृष्टि के बाबत वैदिक परंपरा कहती है कि भगवान् स्तुति रूपी खुशामद नहीं चाहते और न ही वे ध्यान या जाप के ढोंग मात्र से प्रसन्न होते हैं। वह तो कहती है कि ईश्वर ने जिस परिस्थिति में मानव को जन्म दिया हो उसमें प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्त्तव्य सेवाभावसे परोपकारी और निस्वार्थी पद्धति से, तत्परता से और निरालस ढंग से निभाता रहे तो वही ईश्वरी सेवा है। उसीसे प्रत्येक व्यक्ति सीधा मोक्ष प्राप्त कर सकता है। अतः मोक्ष का सीधा मार्ग प्रत्येक व्यक्ति द्वारा कर्त्तव्य-पालन से ही तय किया जा सकता है।

अपना कर्त्तव्य परोपकारिता और सेवाभाव से निभाते हुए यदि कोई मनःशान्ति के लिए, या केवल परम्परा पालन के लिए, या श्रद्धावश ईश्वरी प्रतिमा (चाहे वह शैव, वैष्णव या कोई हो) का पूजन करता है, या केवल होम हवन करता है, या मूर्तिहीन स्थान पर प्रार्थना करता है, या जाप करता है, या ध्यान करता है, या किसी प्रकार की कर्मठ प्रथा का पालन न करता हुआ केवल परमात्मा में विश्वास करता है (यानी अपने आपको आस्तिक कहता है), या किसी प्रकार की परमेश्वरी शक्ति में विश्वास नहीं करता (यानी पूर्णतया नास्तिक है) तो वे सारे वैदिक धर्मी कहलायेंगे। क्यों-कि वैदिक आचार-प्रणाली में केवल धर्माचरण, कर्त्तव्यपालन, सेवाभाव, परोपकार इन बातों को महत्त्व दिया जाता है। पूजा प्रथा, भक्ति प्रकार, आस्तिकता या नास्तिकता आदि वैदिक जीवन में नगण्य हैं। अतः अपने आपको मुहम्मदी या ईसाई समझने वाले व्यक्ति भी वैदिक प्रणाली के अंग समझे जा सकते हैं यदि वह कर्त्तव्यपालन, परोपकार और सेवा, त्याग-

भाव आदि का जीवन बिताने लगे और अपने पंथ, प्रार्थना पद्धति और धर्मगुरू सम्बन्धी बातें दूसरों पर लादने का दुराग्रह छोड़ दें तो।

'द्रविड़' उस वैदिक समाज के विश्वभर के अधीक्षक थे

इस प्रकार सारे मानवों को सम्मिलित करने वाले वैदिक समाज के विश्व भर का अधीक्षक, निरीक्षक, व्यवस्थापक जो ऋषिमुनि वर्ग होता था उसे 'द्रविड़' यह संज्ञा थी। वैदिक, सामाजिक जीवन सुसंगठित रूप से चलता रहे यह उनकी जिम्मेदारी थी। वे उस समाज के पुरोहित, अध्यापक, गुरु, गणितज्ञ, वैज्ञानिक, पंचांगकर्ता, खगोल ज्योतिषी, भविष्यवेत्ता, मंत्रद्रष्टा, वेदपाठी, धार्मिक क्रियाकर्म की परिपाटी चलाने वाले, प्रायश्चित आदि का निर्णय लेने वाले गुरुजन थे। इन सबको 'द्र' यानी 'द्रष्टा' और 'विद' यानी 'ज्ञानी' इस अर्थ से द्रविड़ नाम पड़ा है। यूरोप में उस शब्द का उच्चारण 'ड्रुइड्' ऐसा रूढ़ है।

इसी कारण भारत के द्रविड़ लोगों में अभीतक संस्कृत और वेदांतिक पंडिताई की परम्परा प्राचीनकाल से बनी हुई है। उनमें शिव और विष्णु दोनों के पूजक होते हैं और केवल श्यामवर्णी नहीं अपितु गौरवर्णी लोग भी होते हैं।

अगस्त्य मुनि के नेतृत्व में द्रविड़ों के एक गुट ने विंध्याचल पार कर दक्षिण में स्थान-स्थान पर गुरुकुल चलाए। तब से वे सारे दक्षिण के लोग द्रविड़ कहलाए; यद्यपि उनमें मलयाली, तमिल, तेलुगु और कन्नड ऐसे चार भाषावर्ग हैं। अतः वे सारे वेदान्ती हैं और संस्कृत के प्रति नतमस्तक हैं।

द्रविड़ों का अन्तर्गत भ्रम

'द्रविड़ों के शत्रु आर्य' यह जैसा एक भ्रम अंग्रेजी शासन ने भारत में फैलाया। उसी प्रकार अंग्रेजों ने दक्षिण भारतीयों में आपस में फूट डालने के हेतु ब्राह्मण और अब्राह्मण यह एक अन्य वाद भी खड़ा किया। बहुसंख्य अब्राह्मणों के मन में यह भावना गढ़ दी गई कि वे जिन लोगों को ब्राह्मणत्व का आदर और मानसम्मान प्रदान करते हैं वे तो उन पर थोपे गए और उन्हें चूसने वाले आर्य शत्रु हैं। अपना राज्य भारत में दीर्घकाल तक चलता

रहे इस हेतु से आंग्ल शासन ने विविध निमित्त बताकर भारतीय जनता के
विविध वर्गों में परस्पर शत्रुत्वभाव फैलाया। उसी चाल की ब्राह्मण विरुद्ध
अब्राह्मण यह फूट एक भाग था। उस षड्यन्त्र के फलस्वरूप द्रविड़ प्रान्तों
में और महाराष्ट्र में भी आपसी मारामारी हुई और पाश्चात्यनिर्मित उस
विषधारा को आगे प्रवाहित करने वाली एक क्रोधी साहित्य परंपरा भी अंकु-
रित हुई और क्रोधभरे ब्राह्मण-विरोधी सार्वजनिक भाषण देनेवाले वक्ताओं
की प्रणाली भी बनती रही। हिन्दी भाषा का तमिलों द्वारा विरोध यह
उसी आंग्ल षड्यन्त्र का एक प्रखर परिणाम है।

जब कोई देश परतन्त्र हो जाता है तो उसका इतिहास न केवल
खण्डित होता है अपितु उसे विकृत कर उसमें स्थान-स्थान पर विष कैसे
भरा जाता है यह 'आर्य विरुद्ध द्रविड़' और 'ब्राह्मण विरुद्ध अब्राह्मण' इन
वादों से देखा जा सकता है। 'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारात् द्विज
उच्यते'—इस मनु महाराज के उक्त्यनुसार प्रत्येक समाज में ज्ञानी,
त्यागी और व्रतचारी जीवन बिताने वाले व्यक्ति ही ब्राह्मण कहलाते थे।
वे कोई भिन्न, ठूंसे गए पराए लोग नहीं थे। जैसे किसी एक विद्यालय में
खेलकूद, विद्याभ्यास और आदर्श आचरण करने वाले आदर प्राप्त करते
है वैसे ही वैदिक परंपरा में उत्तम आचरण करने वाले ब्राह्मण-स्तर के
समझे जाते थे।

केवल ज्ञानी व्यक्ति को ब्राह्मण नहीं कहा जाता था। ज्ञानी होकर
जो अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य (यानी सेवाभाव से
और नियंत्रित आचरण से निःशुल्क सेवा में जीवन बिताने) का आचरण
करे उसे ब्राह्मण कहा जाता है। विविध क्षेत्र का उच्चतम ज्ञान प्राप्त कर
जो उसे निःशुल्क समाजसेवा में लगाते है वे ब्राह्मण कहलाते है। गुरु
द्रोणाचार्य कौरव राजकुल को शस्त्रास्त्र विद्या सिखाते थे तथापि वे निर्धन
थे। अतः शूद्र के स्तर से आरम्भ कर वैश्य, क्षत्रिय आदि स्तर के गुण
और कर्म करते हुए जो उनसे भी ऊपर उठता वह ब्राह्मण कहलाता। इसी
कारण तो आज तक ब्राह्मण नाम को बहुत आदर प्राप्त है यद्यपि ब्राह्मण
(और अन्य सभी वर्ग) को निजधर्म से च्युत हुए सैकड़ों वर्ष बीत गए हैं।

वैश्य वह व्यक्ति था जो शूद्र के सर्व कर्म कर सके किन्तु शारीरिक

और मनःशुद्धि के नियम पालकर नियंत्रित मुनाफा (लगभग ६ प्रतिशत
भाग) लेकर खेतीबाड़ी, लेन-देन, हिसाब-किताब आदि व्यवहार करे।

शूद्र और वैश्यों से ऊपर उठकर क्षत्रिय-स्तर की शस्त्रास्त्र विद्या पूरी
कर जो देश या समाज को क्षति से बचाने में अपना जीवन बिता दे वह
वीर, त्यागी व्यक्ति क्षत्रिय कहलाते है।

क्षत्रिय स्तर से भी ऊँचे दर्जे का ज्ञान और वीरता प्राप्त करने वाले
और सत्य, अपरिग्रह आदि पाँच व्रतों का पालन कर निःशुल्क सेवा में
जीवन बिताने वाले ब्राह्मण कहलाते थे।

वर्तमान कलियुग में तो परिस्थिति पूर्णतया विपरीत हुई है। क्योंकि
पाश्चात्य प्रणाली की उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाला प्रत्येक व्यक्ति चाहे
वह डॉक्टर, इंजीनियर, मैनेजर या शिक्षक ही क्यों न हो वह अधिक से
अधिक वेतन माँगता है और धूम्रपान, मदिरापान आदि अनेक व्यसनों में
डूबा रहता है।

आज केवल ब्राह्मण ही नहीं अपितु क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी निजी
वैदिक स्तर से पूर्णतया स्खलित हो गए हैं, गिर गए हैं, जैसे वैश्य। यदि
वे ६ से ९० प्रतिशत से अधिक लाभ व्यापार आदि से उठाते हों तो वे वैदिक
स्तर के वैश्य नहीं समझे जाने चाहिएँ।

शूद्र भी यदि प्रातः ४-४½ बजे उठकर नहा-धो कर निजी कार्य में मग्न
नहीं हो जाता और यदि वह व्यसनमुक्त नहीं है तो वह पापी और पतित
कहा जाता था। इस प्रकार के वैदिक समाज में जो शूद्र के आचरण का स्तर
था उससे भी नीचे वर्तमान कलियुग के विद्वज्जन और प्रतिष्ठित लोग गिर
चुके हैं। द्रव्यलोभ, व्यसनाधीनता, सेवाभाव का अभाव पग-पग पर दिखते
हैं। अतः वर्तमान समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र का भेद नाममात्र
का रह गया है। प्राचीन वैदिक परम्परा में ऐसी जन्मजति या जन्मजात
छूत-अछूत का भेद नहीं था।

जातिव्यवस्था का रहस्य—

वैदिक समाज में लुहार, बढ़ई, ग्वाले ऐसे आधुनिक Trade union
जैसे काम धन्धे के अनुसार गुटों का समाज बना हुआ था। उस समय

अधिक आर्थिक लाभ के लिए अपना पारम्परिक कर्त्तव्य छोड़कर अन्य किसी धंधे में घुस जाना पाप कहलाता था। वर्तमान पाश्चात्य विचार-धारा में तो कम से कम श्रम और अधिक से अधिक धन का प्रलोभन जहाँ भी हो उस व्यवसाय में चिपक जाने में बड़ी बुद्धिमानी मानी जाती है। इस समाज व्यवस्था के आदी हो जाने के कारण हमें उसमें कोई बुराई नहीं दिखती। किन्तु कोई भी व्यक्ति किसी भी काम धन्धे से अधिक से अधिक धन कमाकर ऐयाशी में अपना जीवन बिताए--यह वर्तमान धारणा उतनी ही निंद्य और त्याज्य है जितनी अन्य किसी समाज की होगी जो समाज अपने सदस्यों को किसी भी परिवार का घर-बार किसी भी समय लूटकर अधिकतम संपत्ति इकट्ठा करने की न केवल छूट दे अपितु प्रोत्साहन भी दे।

वैदिक समाज के कामधन्धे इसलिए जन्मजात समझे गए हैं कि केवल धन और मुनाफे के लोभ से अपना कौटुम्बिक व्यवसाय छोड़ने की सहूलियत किसी को भी उपलब्ध नहीं थी। क्योंकि ऐसे समाज में एक दूसरे के आर्थिक शोषण की होड़ से दरिद्रता और भिखमंगी बढ़ती है। यदि कोई निजी गुण और कर्म से समाज की निःशुल्क सेवा करने के लिए अपनी जाति त्यागकर दूसरी जाति में सम्मिलित होना चाहता तो उसको प्रोत्साहन ही मिला करता था। इस दृष्टि से वैदिक समाज जन्म-कर्म से बद्ध नहीं था। मूल कसौटी यह थी कि क्या तुम इसलिए दूसरी जाति का धन्धा करना चाहते हो कि तुम अधिक से अधिक धन सम्पत्ति कमा सको ? यदि 'हाँ' तो ऐसे व्यक्ति को कठोर दण्ड का पात्र समझा जाता था क्योंकि वह निजी लोभ के कारण पूरे समाज में विघटन के बीज बो देगा। किन्तु यदि वह अपना कौटुम्बिक व्यवसाय इसलिए छोड़ना चाहता है कि उससे वह समाज की निःशुल्क सेवा, अधिक कुशलता से कर सके, तो ऐसे व्यक्ति को सम्मानपूर्वक दूसरी जाति में प्रवेश दिया जाता था। अतः यद्यपि वैदिक समाज दिखने में जन्मजात व्यवसायों पर आधारित था, पर वास्तव में वह भगवान् श्रीकृष्ण के वचनानुसार गुणकर्मों के नियमों से ही बद्ध था। इतिहास की यह जटिल गुत्थी थी जिसको हमने यहाँ सुलझाया है। ध्यान इस बात का रखा जाता था कि वे बन्धन कोई व्यक्ति निजी स्वार्थ के कारण

तोड़ न पाए। ऐसे कड़े नियमों से समाज को बद्ध रखने का, निगरानी और अमल का कार्य, द्रविड़ों का था।

एशिया ही ड्रुइडों का मूल स्थान

यूरोप के गौरवर्णी 'ड्रुइड' और भारत के श्यामवर्णी 'द्रविड़' एक ही व्यावसायिक संघटन के सदस्य थे—इस तथ्य का विवरण जो ऊपर दिया गया है उसकी पुष्टि यूरोपीय ग्रन्थों से भी होती है।

Asiatic Researches (खण्ड २, पृष्ठ ४८३) ग्रन्थ में रेवरेण्ड थॉमस् मौरिस (Thomas Maurice) लिखते हैं, "प्राचीन समाज के अध्ययन में 'ड्रुइड' लोगों का मूलस्थान एशिया खण्ड ही था यह बात दीर्घ समय से मान्यता प्राप्त है। रियूब्रेन बरो (Reuben Burrow) नामक विख्यात खगोल ज्योतिषी पहला व्यक्ति था जिसने ड्रुइडों की दन्तकथाएँ, उनका समय, मान्यताएँ, धारणाएँ आदि का कड़ा अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि वे भारत से आए दार्शनिक थे।"

प्राचीन इतिहास के समुचित विवरण से भारत के द्रविड़ और यूरोप के ड्रुइड एक ही समाजरक्षक संगठन के सदस्य थे—इस हमारे निष्कर्ष की पुष्टि रियूबेन बरो नाम के विद्वान् के अन्य प्रमाणों के अध्ययन से भी होती है, यह कितनी प्रसन्नता की बात है।

Antiquities of India (खण्ड ६, भाग १, पृष्ठ २४६) में रेवरेण्ड थॉमस् मौरिस ने लिखा है, "यह पुरोहित (ड्रुइड लोग) भारत के ब्राह्मण थे। एशिया के उत्तरी प्रदेशों में फैलते-फैलते वे साइबेरिया तक गए। शनैः-शनैः केल्टिक (उर्फ सेल्टिक) जातियों (कश्मीर के दक्खन के 'कालतोय') में वे घुलमिल गए। वहाँ से आगे चलते-चलते यूरोप के कोने-कोने तक पहुँचते-पहुँचते उन्होंने ब्रिटेन में भी ब्राह्मण केन्द्र (गुरुकुल, मन्दिर) का स्थापन कर दिया। मेरा निष्कर्ष यह है कि ब्रिटेन में एशियाई लोगों की वह सर्वप्रथम बस्ती थी।"

मौरिस साहब का निष्कर्ष पूर्णतया सही है कि भारत के ऋषि-मुनि (द्रविड़ उर्फ ड्रुइड) विश्वभर में फैले हुए थे। किन्तु क्यों, कैसे और कब इन प्रश्नों का उत्तर उन्होंने नहीं दिया है। हम यहाँ उन प्रश्नों का उत्तर

कि वैदिक विश्व राष्ट्र के हमारे
दे रहे हैं। इस ग्रन्थ की यही तो खूबी है
सिद्धान्त से इतिहास की सारी जटिल समस्याएं तुरन्त सुलझ जाती है।
युद्ध तक तो सारे विश्व में सम्पूर्ण

कृतयुग से लेकर महाभारतीय ईसाई और मुहम्मदी (इस्लाम)
वैदिक समाज-व्यवस्था रही। तत्पश्चात् संस्कृति जहाँ-तहाँ लड़खड़ाते-
पन्थों के प्रसार तक टूटी-फूटी वैदिक जब भी वैदिक विश्वसम्राटों के
लड़खड़ाते जी रही थी। उस कालखण्ड में नई मानव-बस्ती बन जाती या
शासन के अन्तर्गत कहीं निर्जन प्रदेश में जाता तो द्रविड़ों को
अन्य प्रदेशों में विद्रोह से या आतंक से समाज टूट विचारगोष्ठी, धर्म-
वहाँ धर्मसंस्थापनार्थाय जाना पड़ता था। वैसे भी, शिक्षा आदि के
सम्मेलन, शास्त्रचर्चा, गुरुकुलों में चलाई जाने वाली होता रहता
लिए भी वैदिक द्रविड़ ऋषि-मुनियों का संचार विश्वभर में रहता था। अतः
था। 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का कार्य अखण्ड चलता
भारत के यह द्रविड़ ऋषि-मुनि विश्व के प्रत्येक प्रदेश में समय-समय पर
जाते रहे हैं।

उस दृष्टि से हम यहाँ एक आंग्ल ग्रन्थ के कुछ गिने-चुने भाग पाठकों की जानकारी के लिए नीचे उद्धृत कर रहे हैं। उस ग्रन्थ का नाम है—A Complete History of the Druids—Their origin, manners, customs, temples, rites and superstitions, with an inquiry into their Religion and its Coincidance with the Patriarchal, (प्रकाशक—Lichfields, मुद्रक—T. G. Lomax, विक्रेता—Longman, Hurst, Reas and Orms, London, सन् १८१०)।

उस ग्रन्थ का शीर्षक बड़ा लम्बा-चौड़ा इस प्रकार है—"ड्रूइडों का सम्पूर्ण इतिहास—उनका उद्गम, आचारप्रणाली, प्रथाएँ, मन्दिर, विधि, श्रद्धाएँ तथा उनका धर्म और गुरुपरम्परा से उसकी साम्यता।"

उस ग्रन्थ के पिछले आवरण के बहिरंग पर सफेद दाढ़ीवाले एक ऋषि का चित्र है। घुटने तक आने वाला लम्बा चोंगा उसने पहना हुआ है। उसके दाएँ हाथ में एक खुला ग्रन्थ है और बाएँ हाथ में लाठी है। ठेठ वैदिक ऋषि का ही वह चित्र है।

उस ग्रन्थ की भूमिका में विश्व के विविध प्रदेशों में पाए शिलाओं पर

खुदे स्तम्भ चक्र और सर्प के चिह्नों का उल्लेख है। आगे भूमिका में लिखा है—रोमन लोगों ने छत वाले मन्दिरों की प्रथा फैलाई। प्राचीन खुले देवस्थानों के प्रति दुर्लक्ष होते-होते वे नष्ट होने गए। Canaan (कान्हा) के प्रदेश में तो देवालयों का दुरुपयोग होने के कारण देवालय नष्ट कराए गए और ईश्वरायली (Israeli) यानी इजरायली लोगों को देवप्रतिमाएँ बनाने से किस प्रकार रोका गया यह (बाइबिल के) आदेश से ही पड़ताला जा सकता है। Levit, XXVI-1 में आदेश है कि—ईश्वर के प्रतीक मत बनाओ, प्रतिमाएँ भी न बनाएँ, प्रस्तरमूर्तियों के आगे नतमस्तक होने की प्रथा बन्द करें क्योंकि मैं ही तुम्हारा परमेश्वर हूँ।"

ऊपर दिए गए उद्धरण का अर्थ यूरोपीय ईसाईवाचकों को समझ में आना कठिन है क्योंकि वे प्राचीन परिस्थिति से परिचित नहीं हैं।

कृष्ण मूर्तियाँ

यहूदी और ईसाई ग्रन्थों में कॅनन् कॅनन् (Cannan Cannan) कहकर जिसका उल्लेख किया जाता है वे हैं कान्हा अर्थात् हमारे भगवान् कृष्ण। यूरोप और पश्चिम एशिया देशों में जो कृष्ण-मन्दिर होते थे उनमें भारत की तरह ही बड़े-बड़े स्तम्भ हुआ करते थे। गर्भगृह में भगवान् कृष्ण या विष्णु की मूर्ति हुआ करती थी। इन दोनों पर कालिया या अनन्त नाग के फणों का छत्र होता था। यमुना के डोह में भगवान् कृष्ण ने कालिया का दमन किया, उस सर्प पर नाचते हुए बालकृष्ण का चित्र हमें चिरपरिचित है। महाविष्णु भी महाकाय सर्प के ऊपर लेटे बतलाए जाते हैं। दोनों चित्रों में या तो पूरे चित्र को घेरे हुए एक दिव्य तेजोवलय होता है या भगवान् के चेहरे का घेरा हुआ प्रकाशचक्र बताया जाता है। प्राचीन वैदिक विश्व में स्थान-स्थान पर उन दो देवों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की जाती रहीं।

स्तम्भ, सर्प, चक्र और कान्हान प्रदेश का उल्लेख उसी कारण है। इस्रेल उर्फ इजराइल (Israel) शब्द संस्कृत 'ईश्वरालय' का अपभ्रंश है। कान्हा उर्फ कृष्ण यदु लोगों का नेता था। यदु से जदु (Jadu) और 'यदु-स्म' (Yedusm) का विकृत उच्चारण 'जदु-स्म' (Jadusm) उर्फ

(Judaism) ज्यूडेइज्म् किया जाता है। प्राचीनकाल में यदु लोग (यानी यहूदी) भगवान् कृष्ण की प्रतिमा बनाकर उसे पूजते थे किन्तु कुछ काल पश्चात् वे अपने मन्दिर मूर्तिहीन रखने लगे। कारण इस प्रकार थे—

(१) द्वारका से बिछुड़ जाने के पश्चात् ज्यू (यदु) लोग किसी एक देश में स्थिर न हो पाए। देश-प्रदेशों में घूमते, भटकते रहे। अतः उस अनन्त भ्रमण में भगवान् की मूर्तियाँ साथ ले जाना कठिन हो गया। ज्यू लोगों के शत्रु उनकी देवमूर्तियाँ बार-बार तोड़ते रहे। (२) वैदिक परम्परा में शिव, गणेश, दुर्गा, सरस्वती, लक्ष्मी आदि देवी-देवताओं की ज्यू लोग पूजा करते थे। किन्तु द्वारिका छोड़ने के पश्चात् भी यदि देश-प्रदेश में बिखरे ज्यू लोग विविध देवी-देवताओं को पूजते रहते तो उनमें पन्थ, उप-पन्थ निर्माण होकर फूट पड़ जाती और विरोधियों के हाथों ज्यू लोग नष्ट हो जाते। ऐसे अनेक कारणों से ज्यू लोगों ने मूर्तिपूजा बन्द की। तथापि मुसलमानों जैसा ज्यू लोग मूर्तिपूजा का तिरस्कार नहीं करते। उल्टा, ज्यू लोगों का मूर्तिपूजा के प्रति बड़ा श्रद्धाभाव है।

ड्रुइडों के इतिहास में आगे लिखा है (पृष्ठ ६ पर) कि "वह सर्प तेज, बुद्धिमानी और शारीरिक-स्वास्थ्य का द्योतक समझा जाता था। भारतीय, ईरानी, बाबिलोनी, फणी, ईजिप्ती, ग्रीस-निवासी आदि प्राच्य लोग और पेरू देश के लोग भी सर्प को महत्त्व दिया करते थे। उसका नाम 'सर्प' (Seraph) था।"

सेराफ (Seraph) शब्द तो स्पष्टतया संस्कृत 'सर्प' ही था। इससे वाचक देखें कि न केवल serp शब्द अपितु उस विशाल सर्प की आकृति भी प्राचीन विश्व में ज्ञात थी। जब ग्रीस और पेरू जैसे पाश्चात्य देशों में भी अनन्तनाग की प्रतिमाएँ बनती थीं तो यह भी एक और प्रमाण है कि सारे विश्व में वैदिक संस्कृति का प्रसार था। ग्रीस देश यूरोपीय संस्कृति का स्रोत माना जाता है। उस ग्रीस देश में शेष नाग की प्रतिमा बनती थी यह विशेष विचारणीय है।

वैदिक संस्कृति में शेषनाग की अन्य भी कई भूमिकाएँ हैं। जैसे ज्योतिष शास्त्र में राहु-केतु काल सर्प के सर और पूँछ माने जाते हैं। योग-विद्या में कमर से ब्रह्मरन्ध्र तक की सर्परज्जु मानव में शक्तिस्रोत होती है।

ईजिप्त के सम्राटों के ललाटों पर वैसा ही फण खड़ा किए नाग की प्रतिमाएँ बनाई जाती हैं जैसे भारत में देव और राजमुकुटों पर होते हैं। वैदिक देवताओं के शीर्ष के ऊपर नागों के फण की छाया होती है। प्रत्यक्ष में भी यह देखने में आया है कि जिस (सोए या लेटे) व्यक्ति के ऊपर नाग अपना फण कुछ क्षण तक छत्र जैसा खड़ा करे और बगैर काटे निकल जाता है वह व्यक्ति भाग्यवान् बनता है।

यहूदी लोग हेयेकय्या (Heyekiah) के समय भी शेषनाग के सम्मुख धूप जलाया करते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन विश्व में नाग-पूजा सर्वत्र हुआ करती थी।

'ड्रुइडों का सम्पूर्ण इतिहास' नाम के ऊपर उल्लिखित ग्रन्थ में पृष्ठ १५ पर लिखा है उत्तमोत्तम इतिहासकारों के निरीक्षणानुसार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रलय के पश्चात् ब्रिटेन में बसने वाले लोग पूर्ववर्ती देशों से आए।

इससे पूर्व हम थॉमस मौरिस और रियूबेन बरो का निष्कर्ष उद्धृत कर ही चुके हैं कि ब्रिटेन के ड्रुइड लोग भारतीय ब्राह्मण थे। इससे मेरे निष्कर्ष की पूर्णतया पुष्टि हो जाती है कि भारत के द्रविड़ और यूरोप के ड्रुइड एक ही वर्ग या जन-विभाग के सदस्य हैं।

इस बात को एक अन्य मुद्दे से पुष्टि मिलती है। चोल नाम का एक प्रबल वैदिक राजवंश भारत में था। उसका अस्तित्व ब्रिटेन में यों दीखता है कि स्कॉटलैण्ड (क्षात्रस्थान) नाम के ब्रिटेन के उत्तरी भाग में cholomondelay नाम का एक ग्राम है। उसका लम्बा-चौड़ा उच्चारण 'चोलोमांडेले' बनता है। किन्तु अंग्रेज उसके आदी नहीं हैं और न ही वे उस शब्द का अर्थ समझ पाते हैं अतः वे उसे संक्षेप में 'चमले' कह देते हैं जबकि उनकी भाषा में न तो 'चमले' का कोई अर्थ है और न ही 'चोलोमांडेले' का।

हम भारतीयों के लिए तो उस शब्द में इतिहास भरा है। क्योंकि वह 'चोल-मण्डल-आलय' शब्द है। द्रविड़ ब्राह्मण जो भारत से ब्रिटेन गए वे वैसे कैसे वहाँ पहुँच सकते थे। ऐसी बातों में राजाश्रय की आवश्यकता होती है। वैदिक विश्वसम्राटों की सेनाएँ वहाँ प्रथम गई होंगी जब ही तो

द्रविड़ (ऋषि-मुनि) ब्रिटेन में गए होंगे। गुरुकुल आदि चलाने के लिए अतः 'चोल' और 'द्रविड़' दोनों उल्लेख परस्परपूरक हैं।

वर्तमान भारतीय इतिहास में चोल, यादव, राष्ट्रकूट, पांड्य आदि कुछ राजवंशों का उल्लेख आता है जिससे यह प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत में जो तीन-चार छोटे-मोटे हिन्दू राजकुल थे, वे एक-दूसरे पर चढ़ाई करते तब उनकी रियासतें घटती-बढ़ती रहती थीं। किन्तु ब्रिटेन तक किसी चोलवंश का राज रहा हो इसका तो लवमात्र कहीं इतिहास में उल्लेख नहीं है।

हमारी यही तो शिकायत है कि इस ग्रन्थ में जो प्रमाण उद्धृत कर रहे हैं वैसे अनेक स्थान-स्थान पर बिखरे पड़े हैं और फिर भी इतिहासकारों ने उन प्रमाणों की दखल नहीं ली। इसका दोष सर्वथा पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का है। एक तो वे कभी मानते ही नहीं कि ईसापूर्व समय में यूरोप में वैदिक संस्कृति थी। अतः उस तथ्य की पुष्टि करने वाले प्रमाण उन्हें दिखे ही नहीं। या उन प्रमाणों को निरर्थक मानकर वे उन्हें छोड़ देते रहे। चोलवंश का नाम ब्रिटेन में पाया जाना ऐसा ही एक ठोस प्रमाण है। इस तरह के ढेरों और प्रमाण हम इस ग्रन्थ में आगे चलकर विविध सन्दर्भों में देने ही वाले हैं। वर्तमान इतिहास में जिस छोटे चोलवंश का नाम आता है उससे कहीं अधिक साम्राज्यवाला चोल-राजवंश प्राचीनकाल में था ऐसा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से ज्ञात होता है। उदाहरणार्थ पूर्ववर्ती मलाया देश की राजधानी का नाम वर्तमान समय में क्वालालम्पुर (Kuala lampur) कहलाता है। मूलतः वह 'चोलानाम् पुरम्' था। आंग्ल उच्चारण में Chola का उच्चारण 'क्वाल' हो गया। भारत के पश्चिम के देशों में Chaldean साम्राज्य का नाम सुनाई देता है। उसका उच्चार 'चालडियन्' और 'खाल्डियन' ऐसे दोनों प्रकार से होता है। वह वास्तव में 'चोल+आदि'='चोलादि' संस्कृत शब्द है। चोल आदि वैदिक सेनाओं का जहाँ अमल था वह प्रदेश चालडिय या खाल्डीय कहलाने लगा।

इसकी पुष्टि 'ड्रुइडों का सम्पूर्ण इतिहास' ग्रन्थ से भी होती है। उस ग्रन्थ में उल्लेख है कि "पूर्व दिशा के निवासी अनेक प्रदेशों को जीतते-

जीतते लगभग पूरे यूरोप-खण्ड के स्वामी बन गए। वे ही प्रायः उत्तर ब्रिटेन के सर्वप्रथम निवासी बने। प्रलय से ७००-८०० वर्ष पश्चात् वे आ बसे।"

ऊपर दिए कथन में हमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि ब्रिटेन स्थित वैदिक संस्कृति प्रलय के तुरन्त बाद की है। प्रलय के पश्चात् के मानव तो मनु की ही सन्तान थे। वे सारे संस्कृत ही बोला करते थे क्योंकि मनु महाराज स्वयं संस्कृत ही बोला करते थे। आंग्ल शब्द मॅन (Man) मनु के वंशज का ही द्योतक है। जिसे 'मन' होता है वह man। आंग्ल शब्द humanity वस्तुतः संस्कृत 'सु-मन-इति' (व्यवस्थित, तीव्र बुद्धि, विचार-शक्ति वाला भारत 'सु' अक्षर आंग्ल में 'हु' में बदलने से 'सु-मन-इति' का अपभ्रंश 'ह्यू मनइति' यानी humanity हो जाता है।

'ड्रुइडों के इतिहास' में लिखा है कि "सिरी के अनुसार ईसा के प्रायः पांच सौ वर्ष पूर्व फ्रांस उर्फ गॉल प्रदेश के शासक अम्भिगॉलिस (Ambigalus) ने दो बड़े जत्थे भेजे। एक जत्था जर्मनी में जा बसा और दूसरा इटली में।" (पृष्ठ १६)

उस उल्लेख से पता लगता है कि फ्रांस, इटली, जर्मनी आदि में भी वैदिक सभ्यता ही थी।

पृष्ठ १८ पर उस ग्रन्थ में आंग्लभूमि के एक Devonshire का उल्लेख है जो स्पष्टतया देवनेश्वर यानी देवाधिदेव का द्योतक है।

उस ग्रन्थ के पृष्ठ २० पर लिखा है कि "ग्रीक लोग प्रथमतः आंग्ल द्वीप में पहुँचे तो मन (Man) और आँग्लेश (Angelsey) द्वीपों में उतरे।" वे दोनों नाम भी संस्कृत हैं। आंग्ल भाषा ने कई बार संस्कृत शब्द के अन्तिम स्वर को छोड़ दिया है। जैसे 'विधवा' शब्द का उच्चार वे 'विडो' करते हैं। उसी प्रकार 'मनु' का 'उ' छोड़कर उनके एक द्वीप का नाम 'मन' कहा जाता है।

ॲंगलसी Angelsey द्वीप आंग्लेशः शब्द का अपभ्रंश है। आंग्लेशः यानी आंग्ल देश का स्वामी या प्रभु। उस द्वीप का वह नाम पड़ने का कारण उस द्वीप पर शेषशायी भगवान् महाविष्णु की एक विशाल प्रतिमा बनी हुई थी।

उसी के पश्चात् ड्रुइडों के इतिहास में उल्लेख है कि ईसापूर्व समय

में ब्रिटेन और फ्रांस के लोगों का रहन-सहन एक जैसा था। उनके गुरुकुल ब्रिटेन में होते थे और प्रतिवर्ष ब्रिटेन से द्रविड़ विद्वान् धार्मिक समारम्भों में सम्मिलित होने के लिए गॉल प्रान्त (यानी फ्रांस) में जाया करते थे। इससे स्पष्ट है कि ईसापूर्व ब्रिटेन और फ्रांस में वैदिक होम-हवन करने के लिए ब्रिटेन से लोग जाते थे। अतः इंग्लैण्ड और फ्रांस के बीच आना-जाना प्राचीन काल से चला आ रहा है। इंग्लैण्ड में जो ईटन और हैरो (Eton and Harrow) नाम के दो विद्यालय प्रसिद्ध हैं वे इस कारण हैं कि वे प्राचीन गुरुकुल-प्रथा आगे चला रहे हैं। छोटे बालक घर छोड़कर उन विद्यालयों में ही रहने जाते हैं। वर्तमान बारह वर्षों का शालेय अध्ययन उस प्राचीन वैदिक प्रथा के कारण ही है।

उसी ग्रन्थ के पृष्ठ २१-२२ पर उल्लेख है कि "ड्रुइड लोग ब्रिटेन में प्राचीन काल से बसे हुए हैं कि कई विद्वान् उन्हें यहीं के मूल निवासी समझते रहे। किन्तु उस मत का खण्डन हुआ है। डॉ० डॉक्टर स्टूकले (Dr. Stukeley)का निष्कर्ष है कि विश्व के पूर्ववर्ती भागों से ड्रुइड लोग प्रथम अब्रह्म् के काल में आए।"

पाश्चात्य लोग जिसे अब्रह्म् कहते हैं वह वस्तुतः 'ब्रह्मा' है। उनके समय से यानी लगभग वैदिक संस्कृति भारत में प्रारम्भ हुई। उसके तुरन्त पश्चात् आंग्ल द्वीप तक यानी यूरोप खण्ड की पश्चिमी सीमा तक वैदिक शासक तथा गुरुजन पहुँच गए।

भाट उर्फ बरदाई प्रथा

प्राचीन वैदिक क्षत्रियों के साहस, उचित शासन, धर्मपरायणता आदि का इतिहास काव्य में और गीतों में बखान करने वालों को भाट या बरदाई (उदाहरण पृथ्वीराज का समकालीन चाँद बरदाई) कहा जाता है। कैसी आश्चर्य की बात है कि वे दोनों शब्द जैसे के तैसे आंग्लभाषा में और आंग्ल प्रथा में भी कायम हैं। भाट शब्द का आंग्ल अपभ्रंश है Poet और बरदाई शब्द का आंग्ल अपभ्रंश है Bard। यह एक सूक्ष्म सा किन्तु कितना महत्वपूर्ण प्रमाण है कि आंग्ल राजवंश भी प्राचीन वैदिक क्षत्रिय-परम्परा का ही अंग है जबकि यूरोप के लोग इस बात से पूर्णतया

अनभिज्ञ हैं।

ड्रुइडों के इतिहास में पृष्ठ २३ पर उल्लेख है कि "भाट रखने की प्रथा पूर्ववर्ती देशों की है और वहाँ वह अनादिकाल से चली आ रही है। वहाँ से वह ग्रीक और लैटिन लोगों में आई। ग्रीक लोगों के केवल देवताओं के ही गीत नहीं होते थे अपितु विवाहों से लेकर अन्त्येष्टि तक उनकी सारी धार्मिक विधियाँ मंत्रगीतों के साथ मनाई जाती थीं। उसी प्रकार संकटों से मुक्ति, युद्धविजय आदि सभी प्रसंगों पर वे देवताओं के स्तुति-गीत गाते और बड़े भक्तिभाव से वाद्यों की संगत से जनता से भी गवाते।"

वह प्रथा तो भारत में अभी है। ग्रीक और लैटिन लोगों में भी वह प्रथा इस कारण थी कि वे सारे वैदिक संस्कृति के ही अनुयायी थे।

पृष्ठ २३-२४ पर उसी ग्रन्थ में लिखा है कि "बरदायी लोग गीतों में राजकुलों के विविध राजाओं के गुण जनसमूहों को सुनाया करते थे। यह बरदाई लोग प्रथम धार्मिक गीत गायक थे। वे गीत बड़े पवित्र प्रसंगों पर गाए जाते थे। धीरे-धीरे उनका पतन होते-होते वे सामान्य कवि और गायक बन गए। आरम्भ में उनके गीतों में आत्मा का अमरत्व, प्रकृति का स्वभाव, ग्रहों का भ्रमण, देवों का कीर्तन और जनता को स्फूर्ति दिलाने के लिए श्रेष्ठ व्यक्तियों की महत्ता बखानी जाती थी। किन्तु आगे चलकर वे इनाम के लालच से राजकुलों की खोखली स्तुति गाना और गूढ़ रहस्यमय भविष्यवाणी, जादू टोना, मृत व्यक्तियों से संभाषण करना आदि में इतने मग्न होते गए कि उनके मूल अच्छे प्रभावी गीत कम ही रह जाते।"

भाटों के पतन का यह वर्णन सर्वप्रदेशों में लागू है। हम भारतीय जन तो बरदाई या भाट-पद्धति से भली प्रकार परिचित हैं। जब यही पद्धति यूरोप में भी थी तो क्या यूरोप वैदिक प्रदेश नहीं था?

उसी ग्रन्थ के पृष्ठ २६-२७ पर उल्लेख है कि "ड्रुइड लोग निजी परम्परा और प्रथाएँ अखंड चलाते रहे इसके प्रति बड़े जागरूक रहते थे। किंतु सामान्यजन (उनके मंत्र या कर्मकाण्ड आदि) समझ नहीं पाते थे। वे (मंत्र-तंत्र आदि पंडितों के सिवाय इतरों को उपलब्ध नहीं थे। कुछ लिखा नहीं जाता था।"

ऊपर दिया हुआ ब्यौरा वैदिक परम्परा में ही लागू होता है। वेदमंत्र मुखोद्गत होना, पंडितों के सिवाय इतरों के पल्ले न पड़ना मुख्य कारण था।

जर्मनी में तो वेदस्थान (Vaitland) नाम का एक प्रदेश है। छह ऋषियों की प्रतिमाएँ और एक वैदिक मन्दिर वहाँ पाए गए थे। जर्मनी सम्बन्धी अध्याय में इसका अधिक विवरण देंगे।

'ड्रुइडों का इतिहास' ग्रन्थ में पृष्ठ २७ पर उल्लेख है "ब्रिटेन और गॉल (फ्रांस) में ड्रुइडों का धर्म प्रदीर्घ समय तक रहा। इटली में भी उसका प्रसार हुआ था। इसका प्रमाण यह है कि ईसाई रोमन सम्राट् ऑगस्टस् ने रोमन लोगों को आज्ञा दी कि वे (ड्रुइडों के) गूढ़ समारम्भों से कोई सम्बन्ध ना रखें।"

इतने प्रमाण होने पर भी यूरोप के एक-एक प्रदेश का उल्लेख कर कहते रहना कि ड्रुइड (वैदिक) परम्परा ब्रिटेन में थी, फ्रांस में थी, इटली में थी, यहाँ थी, वहाँ थी, अयोग्य है। आज तक के इतिहास-संशोधक ऐसे ही गोता खा गए। अरे भाई जब इतने उदाहरण आपके पास हैं तो सीधे ही कह क्यों नहीं देते कि ईसा पूर्व का यूरोपखण्ड सारा का सारा वैदिक संस्कृति का ही पालन करता था। क्योंकि यूरोप की अग्नेय सीमा का ग्रीस देश और वायव्य सीमा का ब्रिटेन यदि वैदिक प्रदेश थे तो क्या उन दो विरुद्ध सीमा केन्द्रों में बने यूरोप की अन्य कोई संस्कृति हो सकती थी? विशेषतया उस समय जब विश्व में अन्य सभ्यताएँ अभी जन्मी ही नहीं थीं।

उदाहरण पृष्ठ २७ पर उसी ग्रन्थ में उल्लेख है कि "टुंग्रिया (नेदरलैंड्स् देश का लियाज धर्मप्रदेश) से एक द्रविड़ स्त्री ने देवक्लेशन (deoclesian) नाम के गैलिया प्रदेश के एक सादे सैनिक का भविष्य कहा था कि वह कभी रोम का सम्राट् बनेगा।"

ऐसी भविष्यवाणियाँ करना वैदिक सम्प्रदाय के पंडितों की एक विशिष्ट विद्या थी। नेदरलंड्स् (यानी हॉलैंड) में भी वही वैदिक प्रणाली होती थी इसका यह एक प्रमाण है।

पृष्ठ २८ से ३१ तक उस ग्रन्थ में कहा है कि "पूरे द्वीप पर ड्रुइडों का अधिकार (धर्मशासन) था। सबका एक प्रमुख था। जनसभा या संसद के प्रसंग पर लोग धर्मप्रमुख से भेंट करते। द्रविड़ पुरोहितों का मुख्य एक प्रकार का धर्माधीश था। ड्रुइडों के प्रति लोगों की इतनी श्रद्धा थी कि ड्रुइडों की आज्ञा प्रमाण होती थी। किसी व्यक्ति को बहिष्कृत कराने का भी ड्रुइडों को अधिकार था। व्यक्तिगत या सामूहिक विवादों में निर्णय इन्हीं का माना जाता था। इन्हें रण में नहीं जाना पड़ता था और कर भी भरने नहीं पड़ते थे। उनके कुछ वचनों के नमूने देखें—

'परमात्मा ही चराचर का स्रोत है।'

'शास्त्रों के मन्त्र लिखिए नहीं, मुखोद्गत करें।'

'बालकों की शिक्षा का भली प्रकार ध्यान रहे।'

'सोमलता के चूर्ण से बाँझपन नष्ट होता है।'

'अवज्ञा करने वालों को यज्ञ में सम्मिलित न करें।'

'आत्मा अमर है।'

'मृत्यु के पश्चात् आत्मा अन्य शरीर में प्रवेश करती हैं'।

'बच्चों की १४ वर्ष की आयु तक की शिक्षा घर से दूर रहकर होनी चाहिए।'

'चन्द्रमा ही सब बातों का परम उपाय है।'

'अवज्ञा करने वाले बहिष्कृत किए जाएँ।"

ऊपर उद्धृत सभी वचन ठेठ वैदिक संस्कृति के ही तो हैं। चन्द्रमा की विशिष्ट तिथियों पर वनस्पतियों में कुछ विशेष गुण उत्पन्न होते हैं। यह आयुर्वेद का ही तो प्रमुख तत्त्व है।

यूरोप में क्रिसमस् के समय mistlato...mistleto की बड़ी चाहत होती है। आप जानते हैं वह क्या है? वह है अपनी वैदिक सोमलता (Somalata) का विकृत यूरोपीय उच्चार। देखिए वैदिक संस्कृति पिछले तीन/चार सहस्र वर्षों में यूरोप में किस प्रकार तोड़ी-मरोड़ी गई। सोमलता के विविध औषधि प्रयोग थे। उससे संजीवनी बनती थी, आयु बढ़ाई जा सकती थी, बाँझ स्त्रियों को गर्भयोग्य किया जा सकता था क्योंकि चन्द्रमा की कला के साथ-साथ सोमवल्ली का एक-एक पत्ता घटता-बढ़ता रहता था। शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन एक-एक पत्ता अधिक उग आता और कृष्णपक्ष में एक-एक पत्ता कम होता रहता।

मृत्यु के पश्चात् आत्मा का नित्य नये शरीर में प्रवेश करना यह तो वैदिक संस्कृति का अपना विशेष सिद्धान्त है।

ड्रुइड लोग समय-समय पर विविध यज्ञ किया करते थे। उनकी वेधशालाएँ होती थीं। ब्रिटेन के जिस प्रदेश को आजकल स्टॅफोर्डशायर (Staffordshire) कहते हैं उसमें प्राचीन काल में घना जंगल था जिसे कानक या कॅंक (cannock या cank) नाम से स्मरण किया जाता है। वस्तुतः वह प्राचीन संस्कृत 'कानन' का टूटा-फूटा उच्चार है।

'ड्रुइडों का इतिहास' पृष्ठ ३५ पर लिखा है, "ग्रीक और रोमन लोग '३' के आँकड़े को बड़ा महत्व देते थे क्योंकि वह '१' के पश्चात् पहला विषम आँकड़ा है। इजाइल (ईश्वरालय) के लोगों से उन्होंने वह सीखा। उनके Elohim (ॐ) शब्द में ही प्रायः त्रिमूर्ति का रहस्य अन्तर्भूत है।"

इस प्रकार यहूदी, ग्रीक और रोमन लोगों में त्रिमूर्ति के प्रति श्रद्धा-भाव का प्रमाण मिलता है।

आगे पृष्ठ ३७ पर लिखा है, "ड्रुइडों के कड़े नियमबद्ध आचरण के कारण उनका समाज में सर्वाधिक सम्मान था। पार्थिव जीवन की चिंताओं से उन्हें मुक्त रखा जाता था। उनका आचरण शुद्ध और नीतिमान् होता था। सद्गुण, परोपकार आदि का वे सदा उपदेश करते थे। उनके संसदों में देवभक्ति, आचार-नीति, आत्मा का अमरत्व, परलोक, खगोल ज्योतिष, दर्शनशास्त्र, स्वभावधर्म, शिशुओं की योग्य शिक्षा आदि ही उनकी संसद् में चर्चा के विषय होते थे। ड्रुइडों (के गुरुकुलों) से जो शिक्षा न पाते उन्हें शासनाधिकार के अयोग्य समझा जाता था।"

आगे इस ग्रन्थ में लिखा है कि "ड्रुइडों की एक वनस्पति सोमरस (Samolus) थी। उसे (जंगल से) लाते समय कुछ विशेष व्रत रखे जाते। उपवास रखा जाता था। वनस्पति के पत्ते तोड़ते समय पीछे मुड़कर देखना अयोग्य समझा जाता था। केवल बाएँ हाथ से पत्ते तोड़े जाते थे। इस प्रकार प्राप्त की हुई वह वनस्पति सूकर और अन्य पशुओं के सारे रोगों पर बड़ी ही प्रभावशाली हुआ करती थी। यज्ञों की प्राचीनता और उनका विश्व-प्रसार देखते हुए यज्ञप्रथा देवी स्रोत की जान पड़ती है। शुद्धता और तपस् उसके लिए आवश्यक गुण थे। यज्ञ के समय प्रभु जेहोवा का बार-बार

आवाहन किया जाता।"

पृष्ठ ४३ पर 'ड्रुइडों का सम्पूर्ण इतिहास' ग्रन्थ में लिखा है कि "ईजिप्त से निकलकर यहूदी लोग उनके प्रदेश में आने से पूर्व कननाइट लोगों ने मूर्तिपूजन आरम्भ कर दिया था।" कॅननाईट जन कान्हा उर्फ कृष्ण के अनुयायी होने के कारण वे वैदिक परम्परा के अन्तर्गत देवमूर्तियों का पूजन करते थे।

पृष्ठ ४४-४५ पर लिखा है कि "मानवों की शुरू की पीढ़ियों के न तो मन्दिर थे और न ही कोई देवमूर्तियाँ। किन्तु वे पूर्वाभिमुख होकर पहाड़ों पर खुले में यज्ञ करते थे। ऊँचे-ऊँचे पहाड़ शनि, गुरु और अपोलो देवों के वसतिस्थान समझकर पवित्र माने जाते थे। सारे पवित्र स्थानों को, वहाँ हरियाली ना भी हो तब भी 'उद्यान वाटिका' (groves) कहा करते थे।"

"कई व्यक्तियों का निष्कर्ष है कि ड्रुइडों के धर्म तत्त्व भारत के ब्राह्मण और योगिजनों से, ईरान के मॅगी (महायोगी) लोगों से और असीरिया के चॅल्डियन लोगों के तत्त्वों के समान ही थे।"

"भारत के जिम्नोसोफिस्ट्स (Gymnosophits) दार्शनिक थे जो एकान्तवास में नग्न रहकर कठोर व्रतों का पालन करते थे। गुफा, वन, और वीरान प्रदेशों में रहकर कन्दमूल खाते और कुछ समय तक शारीरिक उपभोग भी छोड़ देते थे। उन्हें ब्राह्मण भी कहा जाता था। उसका अर्थ था कि वे उनके निर्माता ब्रह्मा के नियमानुसार (यानी ब्रह्मचारी व्रत से) रहते। वे बड़े ज्ञानी थे। लोगों से बड़ा सम्मान पाते और त्रिमूर्ति को बड़ा मानते थे। उस त्रिमूर्ति में एक तो ब्रह्मा है, जिसने इस विश्व का निर्माण किया, दूसरा ब्रेश्चेन (Braschen) यानी विष्णु जो विश्व का पालनकर्त्ता, और तीसरा महद्दिया (Mahaddia) यानी महादेवः जो नष्ट करता है।"

वेद

"उनका कथन है कि ब्रह्मा से उन्हें चार ग्रन्थ प्राप्त हुए जिनमें सारा ज्ञान भण्डार है। मृत्यु के पश्चात् प्रत्येक आत्मा नये शरीर में प्रवेश करता है ऐसा उनका विश्वास है। इस प्रकार उसी आत्मा को मानव या शु-

योनियों में जाना पड़ता है। मुक्ति पाने तक ऐसा ही क्रम चलता है। अत:
उनका कथन है कि जीवहत्या नहीं करनी चाहिए। वे माँस नहीं खाया
करते थे। विशिष्ट तिथियों को उनके यज्ञ और पर्व हुआ करते थे। यद्यपि
उनके कुछ विशिष्ट देव थे, कई लोगों के अपने व्यक्तिगत देव या कुलदेवता
भी होते थे जो किसी विशिष्ट झरने, नदी या पहाड़ से सम्बन्धित थे। इन्द्र
को विविध नामों से पूजा जाता था। तीन सौ से अधिक इन्द्र के नाम थे।
प्रत्येक वर्ग का एक निजी इन्द्र होता था। उसे तारामिस यानी वरुण देवता
कहते थे। उत्तर में उसे 'थोर' कहते थे। वह भी वरुण का ही नाम था।
गुरुवार नाम उसी से पड़ा है। स्वीडन, जर्मनी देशों के निवासी और सैक्सन
लोग उस देवता को उतना ही मानते थे जितने ब्रिटेन के और गॉल (फ्रांस)
के लोग। ड्रुइडों के मन्दिरों के आकार विशिष्ट सांकेतिक दृष्टि से बनाये
जाते थे, जिससे परमात्मा के स्वरूप का आभास हो। जैसे स्टोन्हेंज
(Stonehenge) का गोलाकार या अबीरी गाँव का गोल चक्कर और
पंख वाला सर्प (Seraph)। अबीरी का वह शिल्प बड़ा भव्य और विस्तीर्ण
था। अन्यत्र क्वचित् ही ऐसा विशाल मन्दिर होगा। हाल में तो उसके खंड-
हर ही देखने को मिलते हैं किन्तु जब वह मन्दिर पूर्ण रूप से विद्यमान
होगा तो क्या उसका नेत्रदीपक दृश्य होगा। किन व्यक्तियों ने उसकी
इतनी मनोहारी और भव्य योजना बनाई होगी। यह परमपवित्र ऐसी
त्रिमूर्ति का देवालय था—वे शक्तिमान् देवता जिनका वह मन्दिर प्रतीक
था। (पृष्ठ ४६ से ५६, ड्रुइडों का सम्पूर्ण इतिहास)।

ऊपर दिए उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि ईसा पूर्व विश्व में एक समान
सभ्यता थी। उसके नियन्त्रक ड्रुइड धर्मगुरु होते थे। चराचर विश्व
के कण-कण में परमात्मा का अस्तित्व है ऐसा उनका विश्वास था। उस
परमेश्वरी शक्ति के ब्रह्मा-विष्णु-महेश ऐसे तीन रूप हैं। उस त्रिमूर्ति
के मन्दिर विश्व में सर्वत्र थे। उदाहरणार्थ दिल्ली की अधिकांश दरगाहों
और मस्जिदों में तीन-तीन गुम्बद हैं क्योंकि वे मुसलमानों के आक्रमणों
के पूर्व सारे मन्दिर ही थे। उस सभ्यता के अधीक्षक ब्राह्मण थे और उनके
सम्पूर्ण ज्ञानभण्डार के चार ग्रन्थ (वेद) थे। इस सारे वर्णन से पाठक को
विश्वास हो जाना चाहिए कि समस्त प्राचीन विश्व में वैदिक संस्कृति का
ही प्रसार था।

अब एक अन्य ग्रन्थ के कुछ उद्धरण हम नीचे प्रस्तुत करने जा रहे हैं।
उसमें भी हमारे सिद्धान्त की पुष्टि होती है। ग्रन्थ का नाम है—Matter,
Myth and Spirit or Keltic Hindu Links। लेखिका है डोरोथी चैंप-
लीन (F.S.A. Scott Rider and Co. द्वारा प्रकाशित, लंदन, १९३५)

उस ग्रन्थ में लिखा है "प्राचीन यूरोप के सेल्टिक उर्फ केल्टिक जनता
पर ड्रुइड नाम के पुरोहितों का प्रभाव होता था। सारे समाज के पालन
के लिए वे नियम बनाया करते।" (पृष्ठ १६)

"ब्रिटेन में कैंट का राज्य जाट-बन्धुओं का स्थापित किया हुआ है।
कैंट और वाइट द्वीप (Isle of Wight) के निवासी जाटों की सन्तान
है।" (पृष्ठ ११३)

इससे स्पष्ट है कि जिन वैदिक क्षत्रियों ने दिग्विजय कर विश्व का
शासन 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' इस सिद्धान्तानुसार किया उन क्षत्रियों में
भारत के जाट लोग भी थे।

"ब्रिटेन में प्रथम बार ड्रुइड लोग आकर बसे ऐसा लगता है। ब्रिटिश
द्वीप और ब्रिटनी में स्थान-स्थान पर ड्रुइडों के धर्मकेन्द्र स्थापित हुए
दिखाई पड़ते हैं। उनमें प्रमुख थे—एव्हबुरी (Avebury), स्टोनहेंज
(स्तवनकुंज), woodhenge (वनकुंज), Malvern (मंलव्हर्न), अँगलसी
द्वीप में (Mona) मोना, तारा (आयरलैंड में), आयोना (Iona) Calle-
rnish in the Hebrides, ऑर्कनी द्वीप में स्टेनिस (Stennis in
The Orkney Island) और ब्रिटनी में कैरनॅक।"

वह अन्तिम कैरनॅक नाम तो हमारे 'कोणार्क' का ही अपभ्रंश लगता
है। हो सकता है वहाँ किसी कोण से सूर्यप्रकाश आता हो अत: प्राचीन
काल में सूर्यमन्दिर बना हो। संशोधक उसका शोध लें।

द्रविड़ उर्फ ड्रुइडों का यानी वैदिक पंडितों का प्राचीन ब्रिटेन के सारे
समाज पर पूरा अधिकार था। द्रविड़ केवल ब्राह्मण नहीं अपितु चारों
वर्गों के शासक थे। अत: दक्षिण भारत में जो भ्रम फैलाया गया कि उनका
ब्राह्मण वर्ग उत्तर भारत से या और कहीं से उनपर ठूंसा गया वह अंग्रेज
शासकों का एक षड्यंत्र था। ऊपर हमने जो उद्धरण दिए हैं उनसे यह सिद्ध

होता है कि यूरोप में जो ड्रुइड थे वे ब्राह्मण थे। और इधर तमिल लोगों में यह धारणा गढ़ दी गई है कि सारे अब्राह्मण द्रविड़ हैं और ब्राह्मण पराए हैं। यह परस्पर विरोधी बातें दोनों ही कैसे सत्य हो सकती हैं जबकि हमने ऊपर यह भी बता दिया है कि यूरोप में जो ड्रुइड कहलाते हैं वे भारत से ही गये थे। अतः सही बात यह है कि प्राचीनकाल में धार्मिक और सामाजिक कार्य करने वाले चारों वर्णों के लोग द्रविड़ कहलाते थे। गुण और कर्म के अनुसार उनके चार भाग किये गये थे। जिस कार्य में जो प्रवीण होता था और वह जिस वर्ग का कर्तव्य भली प्रकार निभा सकता था, उसी में उसे सम्मिलित किया जाता। कमाई की लालच से प्राचीनकाल में वर्ण बदलने की प्रथा थी ही नहीं।

डोरोथी चॅपलीन की पुस्तक के पृष्ठ १५४ पर लिखा है कि "द्रविड़ तो क्षत्रिय थे और सारे क्षत्रिय आर्य (धर्मी) थे। मनुस्मृति के १०वें अध्याय के श्लोक ४३, ४४ वृषलों के यानी क्षत्रियों के १० कुल थे जिनमें द्रविड़ सम्मिलित थे।" अतः द्रविड़ क्षत्रिय भी थे। उनके ग्रंथ के पृष्ठ १७९ से १८३ पर डोरोथी लिखती हैं, "ड्रुइड वर्ग सामूहिक रूप से रण में लड़ा नहीं करते थे। उन्हें किसी प्रकार का कर भी देना नहीं पड़ता था। शासन की अन्य जिम्मेदारियों से भी वे मुक्त थे। कोई अपने मन के प्राकृतिक झुकाव के कारण और कोई ऊपर उल्लिखित सहूलियतों के कारण पुरोहित का व्यवसाय करते थे। उस पेशे का प्रशिक्षण लेने के लिए पालक अपने शिशुओं को गुरुकुलों में भेजते थे। वहां वे सारे ग्रंथ मुखोद्गत करते। इस कारण कभी-कभी उनकी शिक्षा बीस वर्ष तक भी चलती। उनकी सारी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य था आत्मा के अमरत्व को समझना। उनका विश्वास था कि आत्मा एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाती है। उस मुख्य तत्व के अन्तर्गत उनके प्रवचन और धर्मचर्चा में खगोलीय ज्योतिष, भूगोल, दर्शनशास्त्र, धर्म की समस्याएँ आदि विषय भी आते थे। ड्रुइड एक सम्मानित वर्ग होता था। उनके तीन विभाग थे जिनमें पौरोहित्य और धर्माचार का विशेष महत्त्व था। प्राचीनकाल में उत्तरी वेल्स के अँगलसी (Angelsey) द्वीप के मोना नगर में द्रविड़ों का एक केन्द्र था जहाँ कई यात्री (शिशु आदि) गुरुकुल-शिक्षा के लिए आया करते थे।"

ऊपर दिए वर्णन से प्रतीत होता है प्राचीन यूरोप में सामाजिक व्यवस्थापन सारा भारत के ड्रुइड (ऋषिमुनि) चलाया करते थे।

बहिष्कृत करना

रोमन सेनानी तथा शासनप्रमुख ज्यूलियस सीझर भारत के विक्रमादित्य का समकालीन (ईसापूर्व सन् ५३ के लगभग) था। उसका यूरोप पर शासन था। दिग्विजय के लिए उसे अनेक प्रदेशों में जाना-आना पड़ता था। उसने निजी संस्मरण लिखे हैं। उस ग्रंथ का शीर्षक है Coesars Commentarious on the Gallic War (आंग्ल अनुवादक T. Rice Holmes, प्रकाशक Macmillan & Co. Ltd., St. Martins Street, London, १९०८)। उसके पृष्ठ १८० से १८२ पर लिखा है कि "गॉल प्रदेश के हर भाग में दो ही वर्ण (वर्ग) महत्वपूर्ण माने जाते हैं। उनमें एक है ड्रुइड, दूसरा वर्ग है सेनानायकों का (यानी क्षत्रिय)। ड्रुइड लोग देवपूजन, व्यक्तिगत या सामूहिक होम-हवन और धर्माचार, सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार, आदि में लगे रहते। युवक अध्ययनार्थ बड़ी संख्या में उनके पास जाते हैं। लोक उन्हें बड़ा मान देते हैं। लगभग सभी विवादों में वे निर्णय देते हैं। उनके निर्णय के अनुसार दण्ड या पारितोषिक, पदक आदि दिए जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति या जाति उनके निर्णय का उल्लंघन करे उसे बहिष्कृत किया जाता था। इस प्रकार जिन्हें दण्ड मिलता उन्हें पापी राक्षस समझकर उनके पास न तो कोई जाता है, ना उनसे कोई संभाषण ही करता है। ऐसा करने से अपवित्र या पापी बनने का भय होता है। ऐसे बहिष्कृत जनों को अन्य किसी के विरुद्ध शिकायत करने का कोई अधिकार नहीं रह जाता। शासन का कोई पद भी उन्हें नहीं दिया जाता था। ड्रुइडों का एक धर्मगुरु होता है। उसे बड़ा सम्मान प्राप्त होता है। किसी पवित्र स्थान पर, निश्चित तिथि को ड्रुइडों का एक वार्षिक संसद कारन्यूट्स (Carnutes) प्रदेश में होता है। गाल प्रदेश का वही प्रसिद्ध केन्द्र है। विविध विवादों का विचार-विनिमय, निर्णय और पारितोषिक आदि देना सब वहीं होता है।

ऊपर जिन पुरोहित या पंडित और सैनिक वर्णों का उल्लेख किया

गया है, वे स्पष्टतया ब्राह्मण और क्षत्रिय थे। उस युग के समाज में वे ही दो महत्त्वपूर्ण वर्ग थे, यह उल्लेख भी ध्यान देने के योग्य है। क्योंकि प्राचीन समाज में धार्मिक अधिकार सारे ब्राह्मण वर्ग के होते थे और पार्थिव शासनाधिकार क्षत्रियों के हाथ होते थे। वैश्य और शूद्रों के ऐसे कोई अधिकार नहीं होते थे। अतः ऊपर दिए उल्लेख से हम यह कह सकते हैं कि ज्यूलियस सीझर के समय यूरोप में भी चातुर्वर्ण्यधर्माश्रम-पद्धति प्रचलित थी। वह पद्धति उतनी कर्मठ नहीं रही होगी जितनी महा-भारतीय युद्ध तक थी। उस युद्ध के पश्चात् वैदिक जीवन-पद्धति टूटी-फूटी, दुबली-पतली अवस्था में चलती रही। जितना अधिक समय बीतता रहा उतनी वह अधिक शिथिल होती गई। किन्तु थी वह वैदिक परंपरा ही। जैसे वर्तमान हिन्दू उतने कर्मठ नहीं हैं जितने ५-७ पीढ़ियों के पूर्व थे तथापि परम्परा तो वही है।

वैदिक परम्परा की शिस्त भंग करने वालों को बहिष्कृत किया जाता, है यह हम भारतीय भली प्रकार जानते हैं। वही प्रथा यूरोप में भी थी, इसका भी ज्यूलियस सीझर ने उल्लेख किया है।

फ्रांस का कर्णावती नगर

ऊपर जिस (Carnutes) धर्मकेन्द्र का उल्लेख है वह संस्कृत कर्णा-वती नाम है। प्राचीन वैदिक शासन में कर्णावती नाम बड़ा प्रचलित था। भारत में भी अहमदाबाद का प्राचीन नाम कर्णावती था।

पापसी (Papacy)

यूरोप में सारे ड्रूइडों का धर्म प्रमुख जिसे सामान्यजनों को पापी ठहराकर बहिष्कृत कराने का या पापमुक्त घोषित करने का अधिकार था, उसके पद का संस्कृत नाम था—'पाप-हृ' (यानी पापहर्ता या पापहंता)। इटली देश की राजधानी रोम (उर्फ रामनगर) में उसके धर्मपीठ को वाटिकन् (Vatican) कहते हैं। वह 'वाटिका' यह संस्कृत शब्द है। पाप-हृ(र्ता) शब्द का ही आंग्ल उच्चारण पोप (Pope) हुआ है। किन्तु फ्रेंच आदि अन्य यूरोपीय भाषाओं में उस धर्मगुरु को अभी भी उसके मूल

संस्कृत नाम से 'पापा' (यानी पाप-हृ) ही कहते हैं और उस धर्मपीठ को 'पापसी' कहा जाता है।

सीझर के संस्मरण में पृष्ठ १८१ पर दी एक टिप्पणी में कहा है कि पाप-हृ धर्मगुरु द्वारा दिये दण्ड का भंग करने पर अपराधी को Poenas (पोएनस्) देना पड़ता था। वह 'पणस्' यानी 'नगद पैसा' इस अर्थ का संस्कृत शब्द है। ब्रिटन में पैसे को Pence (पेन्स्) कहते हैं। वह भी संस्कृत पणस् का ही अपभ्रंश है।

अगले (१८२) पृष्ठ पर सीझर ने कहा है "ड्रूइडों की धर्मपरम्परा ब्रिटेन से फ्रांस में पहुँची।" अतः वह दोनों देशों में थी। ईसा पूर्व यूरोप की जनता heathen (हीदन) या pagan (पेगन) यानि 'काफ़र' थी ऐसा एक घिसापिटा उत्तर वर्तमान यूरोपीय विद्वान् देते रहते हैं। उनकी वह आदत निन्दनीय है। वास्तव में ईसा पूर्व यूरोप की सभ्यता वैदिक थी और उस प्रदेश की भाषा संस्कृत थी यह सत्य उन्हें कटु लगता है। उसे टालने के लिए वे गोलमाल उत्तर देकर बात को टाल देते हैं। सामान्य मुसलमानों की भी यही प्रथा है। उनके पूर्वज कभी हिन्दू थे यह वे कभी मान्य नहीं करेंगे और ना ही कभी वे अपने पूर्वजों के इतिहास की खोज करेंगे। ईसाई लोगों का वही हाल है। वे भी अपने ईसापूर्व दादा पड़दादों का इतिहास टालते और ढकते रहे हैं। वे उसे खोलना या खोजना चाहते ही नहीं। भारतीयों की यह धारणा कि यूरोपीय गोरे साहब लोग ज्ञान के बड़े प्रेमी होते हैं और सत्य बात का पता लगने पर वे उसकी अवश्य खोज करते हैं—पूर्णतया निराधार है। मैंने कई यूरोपीय विद्वानों से परामर्श किया। उन्हें यह बतलाया कि ईसा पूर्व यूरोप में वैदिक सभ्यता थी इसके सर्वांगीण प्रमाण उपलब्ध हैं। तथापि उन सबने उस सुझाव को पूर्णतया टाल दिया। वास्तव में ईसाई पंथ को चले हुए अधिक-से-अधिक १९८५ वर्ष ही हुए हैं। मानव जीवन उससे कितना ही प्राचीन है। अतः ईसा पूर्व काल में जो भी सभ्यता थी वह अ-ईसाई सभ्यता थी। हमारे अध्ययन के अनुसार वह वैदिक थी। वह निष्कर्ष मानने में या उसकी खोज करने में यूरोपीय गोरे ईसाई लोगों को कोई आक्षेप नहीं होना चाहिए। तथापि प्रत्यक्ष में मेरा अनुभव पूर्णतया विपरीत है। यूरोपीयों का ढंग और ढोंग ऐसा है कि

मानव जब से पृथ्वी पर रहने लगा तब से यूरोप की जनता ईसाईपंथी है।
ड्रुइडों की धर्मप्रथा ब्रिटेन से फ्रांस में फैली यह सीझर का अनुमान
सही हो या गलत तथापि उसके कथन से यह प्रतीत होता है कि सीझर
के समय फ्रांस प्रदेश के वैदिक केन्द्रों का नियंत्रण ब्रिटन स्थित ड्रुइड धर्म-
गुरु करते थे। यूरोपखंड से ब्रिटेन कटा होने के कारण एकान्त के लिए
वह स्थान उस समय के श्रेष्ठ ड्रुइडों ने निजी निवास स्थान बना लिया
हो।

मध्यरात्रि से दिनारम्भ

ब्रिटेन और यूरोप में रात के १२ बजे से नये दिन का आरम्भ मानते हैं। यूरोप भर में वैदिक परम्परा का नियन्त्रण जब ब्रिटन स्थित ड्रुइड केन्द्र से होता था तब की वह प्रथा बनी हुई है। ब्रिटेन और भारत के समय में साढ़े पाँच घंटे का अन्तर होता है। भारत में सूर्योदय लगभग साढ़े पाँच बजे प्रातः होता है। उस समय ब्रिटन में रात के १२ बजते हैं। प्राचीनकाल में जब सारे विश्व में वैदिक संस्कृति फैली थी तब भारतीय पंचाग के ही अनुसार सर्वत्र धर्मकार्य आदि चलते थे। अतः भारत जब सूर्योदय पर अपना नया दिन गिनता था तो उस समय ब्रिटेन में रात के बारह बजे होते थे तो वहाँ का द्रविड़केन्द्र भी निजी नया दिन उसी क्षण से समझते थे। इस कारण सारे यूरोप में स्थानीय मध्यरात्रि के समय से नई तिथि गिनने की प्रथा पड़ी। नहीं तो जीवन भर अपनी नींद खराब कर रात के बारह बजे कौन तिथि बदलेगा। इस प्रकार ब्रिटन में और यूरोप में सर्वत्र मध्यरात्रि से तिथि बदलने की प्रथा भी वहाँ की प्राचीन वैदिक परम्परा का एक प्रमाण है।

सीझर ने यह भी लिखा है कि आत्मा के अमरत्व की बात के कारण क्षत्रिय लोग युद्ध में वीरता से लड़ने में हिचकिचाते नहीं थे। (पृष्ठ १८२-१८३)। यह बात भी प्राचीन यूरोप की वैदिक संस्कृति का ठोस प्रमाण है। भगवद्गीता वही तो कहती है—"नायं हन्यते हन्यमाने शरीरे···नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः। न चैनं क्लेदयन्त्यापो। न शोषयति मारुतः। और हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महिम्।" अतः

यूरोपस्थित द्रविड़ केन्द्रों में भगवद्गीता का पठन-पाठन होता था। यह तभी हो सकता है जब वहाँ वैदिक संस्कृति हो।

'ड्रुइडों का सम्पूर्ण इतिहास' और डोरोथी चैपलीन की पुस्तक इनमें ड्रुइडों के बारे में जो विशेषताएँ बतलाई हैं उनकी पुष्टि सीझर के संस्मरणों से भी होती है। पृष्ठ १८२-१८३ पर सीझर का कथन है कि—"ड्रुइड लोग कभी रण में उतरने नहीं और ना ही उनसे कोई कर लिया जाता है। सैनिक सेवा और कर-भार से वे मुक्त रहते हैं। इन सहूलियतों के कारण कई लोग अपने आप उनके पास आकर विद्याग्रहण करते हैं। कइयों को माता-पिता या अन्य (ज्येष्ठ) सम्बन्धी भेजते हैं। गुरुकुलों के उनके निवास में वे श्लोकों में शिक्षा मुखोद्गत करते हैं। कई बीस वर्ष तक विद्या पढ़ने (आश्रम में) रहते हैं। विद्या को लिखित रखने की ड्रुइडों की परम्परा नहीं है। सामान्यजनों के हाथ विद्या सौंपना वे अयोग्य समझते हैं। शिष्यों को वे लिखित पाठों पर निर्भर नहीं रहने देते। उससे विद्या-ग्रहण में छात्र शिथिल होते हैं और उनकी स्मृति कच्ची रहती है ऐसी उनकी धारणा है। मृत्यु के पश्चात् आत्मा दूसरे शरीर में प्रवेश करती है यह उनका सिद्धांत है। इसी विश्वास के कारण वीरता बढ़ती है और मृत्यु से कोई डरता नहीं। वे ग्रहों की स्थिति, उनका परिभ्रमण, विश्व और पृथ्वी का विस्तार, चराचर वस्तुओं का मूल स्रोत, परमात्मा की शक्ति, देवों के अधिकारों की सीमा आदि विषयों पर बहुत चर्चा करते हैं। छात्रों की शिक्षा में भी उन विषयों का अन्तर्भाव होता है।"

ऊपर दिया वर्णन पूर्णतया वैदिक संस्कृति पर ही लागू होता है। उससे यह प्रतीत होता है कि ईसा पूर्व यूरोप में वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण, भगवद्गीता आदि पूरा संस्कृत-साहित्य पढ़ाया जाता था।

देवपूजन

ड्रुइड लोग जिन देवों की मूर्तियाँ बनाकर उनको पूजते थे उनके सम्बन्ध में ज्यूलियस सीझर ने लिखा है कि "जिस देव का वे बड़ा आदर करते हैं और जिसकी अनेक मूर्तियाँ हैं वह है बुध। सारी कलाओं का

जाता है। व्यापार की
निर्माता और यात्रियों का मार्गदर्शक बुध समझा जाता है। उसके पश्चात्
वृद्धि कराना और धन दिलाना बुध का कार्य माना जाता है। उसके पश्चात्
अपोलो (सूर्य), मंगल मिनर्वा (लक्ष्मी) इन पर भी ड्रूइडों की श्रद्धा है।
अपोलो (सूर्य) को वे रोग-हारी मानते थे। मिनर्वा हस्तकला और विविध
उद्योगों की देवी मानी जाती थी। इन्द्र को वे देवों का राजा कहते थे और
मंगल रणदेवता माना जाता था। युद्ध में जीती संपत्ति वे मंगल को अर्पण
करते थे।"

ऊपर दिए विवरण से तो कोई शंका ही नहीं रहनी चाहिए कि यूरोप की ईसापूर्व सभ्यता वैदिक थी। उसके अधीक्षक द्रविड़ थे। इन द्रविड़ों का प्रशिक्षण दक्षिण भारत में होता था और वहां से सारे विश्व में वे सामाजिक शासन के लिए फैल जाते।

अब पाठक को हम एक चौथे ग्रंथ से परिचित कराते हैं। इसका नाम है The Celtic Druids। लेखक हैं गॉडफ्रे हिगिन्स (Godfrey Higgins)। प्रकाशक—Rowland Hunter, St. Pauls' Churchyard, Hurst and Chance, St. Paul's Churchgate and Ridgway & Sons, Picadilly, १८२९.

उस ग्रन्थ के प्रारम्भिक पृष्ठ पर लिखा है "इस ग्रन्थ में यह दर्शाया है कि ड्रूइड धर्मगुरु पूर्ववर्ती देशों के निवासी थे। वे भारत से (ब्रिटन में) आए। प्रथम लिपि वाली कॅडमियन् (Cadmean) वर्णमाला उन्हीं की चलाई हुई थी। स्टोनहेंज (stonehenge), कॅरनॅक (कोणार्क) आदि एशिया और यूरोप की भव्य इमारतों के निर्माता वे ही (भारत के द्रविड़) लोग थे।"

इस ग्रन्थ की भूमिका में हिगिन्स ने लिखा है, "उत्तर भारत के निवासी बौद्ध लोग, जिन्होंने पिरॅमिडस, स्टोनहेंज, कॅरनॅक आदि (भवन) बनाए उन्होंने ही विश्व की (पुराण आदि की) दंतकथाएं लिखीं, जिनका स्रोत एक ही था और जिनकी प्रणाली बड़े उच्च, सुन्दर, सत्य तत्वों पर आधारित थी—उन्हीं की गौरवगाथा इस ग्रंथ (The Celtic Druids) में वर्णित है।

हिगिन्स साहब के कथन से हम पूर्णतया सहमत हैं किन्तु उनकी एक

छोटी गल्ती भी हम यहां बता देना चाहेंगे। वे लोग आर्य, सनातन, वैदिक धर्मी हिन्दू थे। उन्हें बौद्ध समझना बड़ी भूल है। चाहे कोई बौद्ध, महावीर, गणेश या शिव की पूजा करें, वे सारे वैदिक संस्कृति के ही अनुयायी हैं।

हिगिन्स ने ग्रन्थ की भूमिका में आगे लिखा है, "ब्रिटन ड्रूइड सेलटॅक (Caltac) नाम के एक अतिप्राचीन परम्परा के लोग थे। विश्व की अद्यतम पीढ़ियों के वे लोग थे, जो प्रलय से बचकर ग्रीस, इटली, फ्रांस, ब्रिटेन आदि देशों में पहुंचे। इसी प्रकार उन्हीं लोगों की अन्य शाखा दक्षिण एशिया से सीरिया और अफ्रीका में गई। पाश्चात्य देशों की भाषा एक ही थी। प्राचीन आयरलॅण्ड (आर्यस्थान) की लिपि ही उन सबकी लिपि थी। ब्रिटेन, गॉल, इटली, ग्रीस, सीरिया, अर्बस्थान, ईरान और हिन्दुस्थान—सबकी वही लिपि थी।"

इस प्रकार यह चौथा यूरोपीय लेखक भी वही कहता है कि प्रलय के पश्चात् मनु के वंशजों ने ही वैदिक संस्कृति और संस्कृत-भाषा का विश्व में प्रसार किया।

निजी ग्रन्थ के पृष्ठ १ पर हिगिन्स ने लिखा है, "यूरोप के प्राचीनतम इतिहास की खोज करते हुए हर प्रदेश में ड्रूइडों के ही विशाल भवनों के खण्डहर प्राप्त होते हैं। कई स्थानों पर वे अवशेष बड़े भव्य हैं। प्राचीन काल में वे बड़े ही प्रेक्षणीय और शोभायमान होने चाहिएं।

पृष्ठ ११ पर लिखा है, "सीझर के अनुसार ड्रूइडों के धर्माचार लिखे नहीं जाते।"

हम जानते हैं कि प्राचीन संस्कृत की पढ़ाई श्रवण कर मुखोद्गत (कण्ठस्थ) करने की थी। इसीसे पता चलता है कि यूरोप में भी वेदपठन होता था।

सीझर ने कारण यह कहा है—"लिखाई के बजाय ड्रूइड लोग छात्रों से विद्या इसलिए मुखोद्गत कराते थे कि एक तो अयोग्य अपात्र जनों के हाथ वह साहित्य न लगे, लिखित विद्या पुस्तकों में ही धरी न रह जाए, और छात्रों का स्मरण तीव्र रहे।" (The Celtic Druids, पृष्ठ १४)

"रोमन दार्शनिक ड्रूइडों को बड़े विद्वान्, आदर्श और गुणवान्

व्यक्ति मानते थे।" (पृ० १३)

इससे स्पष्ट होता है कि ड्रुइड वैदिक संस्कृति के लोग थे। इस सन्दर्भ में मनु का वचन प्रसिद्ध है—'आदर्श व्यक्ति निर्माण करना ही वैदिक संस्कृति का ध्येय रहा है।

ड्रुइड और वेद

प्राचीन वेदविद्या के सम्बन्ध में 'आगम' और 'निगम' शब्द प्रयुक्त होते हैं। यूरोप के ड्रुइडों में वे ही शब्द पाए जाते हैं। हिगिन्स लिखता है, (उसके ग्रन्थ के पृष्ठ २१ पर) "ईसाई पन्थ-प्रसार के कारण प्राचीन 'अगम' लिपि ईसाई पादरियों के समझ में न आने से उसे जादू-टोना मानकर—जहाँ भी दिखे वहाँ नष्ट कर दी जाती। पैट्रिक ने उस लिपि के तीन सौ ग्रन्थ जलाए। वेल्स भाषा में (ogam उर्फ ogum) अगम शब्द कायम है। उसका अर्थ है 'विधिलिखित' या भविष्य में होनेवाली घटनाएँ। कॅझलर (Kazzler) भी लिखता है कि अग, अगम, अग्म (oga, ogum, ogma) इन सेल्टिक शब्दों से सांकेतिक लिपि या गुप्त विद्या का निर्देश होता था।

वह प्राचीन वैदिक ग्रन्थ सारे यूरोप में नये-नये ईसाई बने लोगों ने बड़े तिरस्कार और शत्रुता से किस प्रकार जला दिए उसका उल्लेख ऊपर आया है। हर शनिवार या रविवार गिरजाघरों में या अन्यत्र ईसाई प्रवचन समाप्त होने पर सारी भीड़ हथौड़े लेकर मन्दिर तोड़ने और मूर्तियाँ फोड़ने निकलती थी और वैदिक ग्रन्थों को आग लगा दी जाती। इससे जाना जा सकता है कि ईसाई मत उसी छल, बल, कपट द्वारा फैलाया गया जिस प्रकार कुछ सदियों बाद इस्लाम लादा गया। दोनों धर्मों में तोड़-फोड़, लूट और लोगों का वध करने वालों को सन्त, सूफी इत्यादि उपाधि बहाल की गई। इसी से पैट्रिक भी ईसाई सन्त माना जाता है।

टोलंड (Toland) वह प्राचीन (अगम) लिपि विविध प्रकार से किस तरह लिखी जाती इसका वर्णन कई हस्तलिखित ग्रन्थों में पाया जाता है। वैसा एक ग्रन्थ डब्लिन नगर (आयरलैंड की राजधानी) कॉलिज के ग्रन्थालय में है और दूसरा Duke of Chandos नाम के दरबारी के घर है।'(पृष्ठ

२६, The Celtic Druids)

हिगिन्स के समय डब्लिन में एक ही कॉलिज होगा। उस प्राचीन लिपि का परिचय देने वाले ग्रन्थ में यूरोप की प्राचीन वैदिक संस्कृति का कुछ और पता लगाया जा सकता है।

यूरोपीय सभ्यता का स्रोत भारत

हिगिन्स का निष्कर्ष है कि यूरोपीय सभ्यता का पालन-पोषण भारतीय वैदिक संस्कृति से हुआ। "ग्रीक, रोमन और सेल्टिक भाषाएँ परस्पर मिलती-जुलती हैं ऐसा (एम० हडलस्टन्) M. Hudelleston ने बता दिया है। वह समानता स्वाभाविक थी। क्योंकि तीनों को सफल बनानेवाली धाराएँ किसी श्रेष्ठ पूर्ववर्ती देश से पश्चिम दिशा में आईं" (The Celtic Druids, पृष्ठ २२)। वह श्रेष्ठ देश भारत के अतिरिक्त और हो ही कौन सकता है?

वेद-विद्या का दैवी स्रोत

हिगिन्स ने लिखा है (The Celtic Druids ग्रन्थ के पृष्ठ २७ से ४२) कि भारत, ईरान और ब्रिटेन में प्राचीनकाल में कुछ सांस्कृतिक मेलजोल रहा हो तो वह भारत के ब्राह्मण, ईरान के मॅगी (Magi) और ड्रुइडों द्वारा ही हो सकता है। प्राचीन लिपि के अंश संस्कृत में ही पाये जाते हैं। पर्सिपोलिस (यानी पुरुषपुर) नगर के शिलालेख आयरलैंड की अगम लिपि से मेल खाते हैं। अगम शब्द संस्कृत में भी है। इसे सर विलियम जोन्स (अठारवीं शताब्दी का एक अंग्रेज विद्वान्) बड़े आश्चर्य की बात मानते हैं। अगम अक्षर आद्यतम लिपि के थे। पेड़ों के पत्तों पर लिखने की ही रोम में प्रथा थी। आयरलैंड के ड्रुइड लोग अपने आपको अगम लिपि के निर्माता नहीं कहते थे। वे तो बताते थे कि अगम बड़े प्राचीन समय से चलती आ रही है।

पाणिनि और अन्य सारे वैदिक विद्वान् बार-बार यही तो कहते रहे हैं कि संस्कृत भाषा और उसकी वर्णमाला देवदत्त है। वह मानव ने नहीं बनाई।

ग्रौर एक बात ध्यान देने योग्य है कि भारत के ब्राह्मण, ईरान के मंगी (या मागी) ग्रौर यूरोप के द्रविड सारे वैदित पण्डित पुरोहित थे। Magi(मागि या मंगी) शब्द 'महा यागी का ग्रपभ्रंश है। द्रविड तो द्र-विद् यानी द्रष्टा ग्रौर विद्वान् ऋषिमुनी तो थे ही।

हिगिन्स के ग्रन्थ के पृष्ठ ४३ से ५९ पर उल्लेख है कि "भारत के नगरकोट, कश्मीर ग्रौर वाराणसी नगरों में, रशिया के समरकंद नगर में बड़े विद्याकेंद्र थे जहां विपुल संस्कृत-साहित्य था।" वैसा ही साहित्य ईजिप्त के ग्रलेक्झेंड्रिया (ग्रलक्ष्येंद्र) नगर में, इटली के रोम नगर में ग्रौर तुर्कस्थान (तुरगस्थान) के इस्तंबूल नगर के वैदिक धर्म-केन्द्रों में भी होता था। ऐसे धर्मकेन्द्र प्राचीन काल में ग्रसंख्य थे। वहाँ की जनता जैसे-जैसे ईसाई ग्रौर इस्लामी बनती गई वहाँ के मन्दिर, ग्रन्थ ग्रादि सब जला दिए गए।

हिगिन्स के ग्रन्थ के पृष्ठ ६०-६१ पर विविध भाषाग्रों के शब्दों की एक तुलनात्मक सूची दी गई है। इससे पता चलता है कि ग्रधिकाधिक प्राचीन काल में सारी भाषाएं संस्कृत से ही निकली दिखती हैं।

वैदिक पुरोहितों का विश्वसंचार (भ्रमण)

वैदिक संस्कृति के समय में विश्वसंचार की प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। ग्राज की तरह वीजा (प्रवेश-पत्र) लेने की रोक-टोक उस समय नहीं थी। हिगिन्स ने लिखा है कि कोई भी पुरोहित, दरवेश, ड्रुइड या ब्राह्मण भारत से ब्रिटेन तक ग्रपनी पवित्र भूमिका के संरक्षण हेतु बड़ी सरलता से प्रवास कर सकता था।"

भारत से फ्रांस ग्रौर बेल्जियम तक भूमि जुड़ी हुई है। तत्पश्चात् २१ मील का सागर पार करके नाव द्वारा ब्रिटेन में प्रवेश करना सरल था। ग्रतः वाचकों को ऐसा नहीं समझना चाहिए कि प्राचीन काल में मोटरें ग्रौर विमान नहीं थे ग्रतएव विदेशों से संपर्क नहीं रखा जा सकता था। शीघ्रगति वाहन हों या न हों साहसी मानव प्रत्येक युग में विश्वसंचार करते ग्रा रहे हैं।

बड़ा दिन (X-mas) ड्रुइडों का वैदिक उत्सव

वर्तमान समय में ऐसी एक भ्रान्त धारणा फैली हुई है कि एक्समस (X'mas) उर्फ क्रिस्मस या 'बड़ा दिन' ईसाई उत्सव है। कर्मठ ईसाई जन स्वयं उस धारणा का इन्कार करते हैं। क्रिस्मस का हल्लागुल्ला, ग्रानन्द मंगल ईसापूर्व लोगों का त्यौहार होने के कारण ईसाइयों को उससे पूर्णतया दूर ग्रौर ग्रलग रहना चाहिए ऐसा प्रचार कर्मठ ईसाइयों द्वारा होता रहता है तथापि सामान्य ईसाई जन कर्मठों के ग्राक्षेप या ग्राग्रह की कहाँ परवाह करते हैं! क्रिस्मस के बहाने मौज ग्रादि करने का ग्रवसर कौन छोड़ेगा जबकि ईसापूर्व समय से उत्तरायण का वैदिक त्यौहार वे ग्रौर उनके पूर्वज बड़ी धूमधाम से मनाते ग्रा रहे हैं।

पृष्ठ १६१ पर हिगिन्स ने लिखा है, "पहाड़ियों पर ग्राग जलाकर २५ दिसम्बर का त्यौहार ब्रिटेन ग्रौर ग्रायरलैंड में मनाया जाता था। बारह दिनों के पश्चात् फिर वैसी ही होली जलाई जाती। उसे एपिफेनी (Epiphany) कहते हैं (एपिफेनी याने किसी दैवी व्यक्ति का साक्षात्कार होना)। फ्रांस में भी ड्रुइडस् की परम्परा वैसी ही सर्वव्यापी थी जैसी ब्रिटेन में। फ्रांस में क्रिस्मस को 'नोए' (Noel) कहते हैं। वह मूलतः इब्रू या चैल्डी भाषा का 'नूल' (Nule) शब्द है। ग्रायरलैंड में ग्रायरिश भाषा में क्रिस्मस को नोलॅग (Nolagh) कहते हैं। (कॉर्निश भाषा में नाडेलिग (Nadelig) कहते हैं। ग्रार्मेरिकन भाषा में 'नेडेलेक' (Nedelak) ग्रौर 'गेल' (Gael) भाषा में 'नॉलिग' कहते हैं। हरियाली ग्रौर विशेषतया 'मिसलटो' (Mistletoe) (यानी 'सोमलता') उस त्यौहार में घर-घर में लगाई जाती। लंदन नगर में भी लगाई जाती। इससे वह ड्रुइडों का त्यौहार होने का पता लगता है। ईसाई परम्परा से उसका (क्रिस्मस का) कोई सम्बन्ध नहीं है।"

वैदिक देवताओं का पूजन

हिगिन्स के The Celtic Druids ग्रन्थ के पृष्ठ १६२-१६३ पर लिखा है, "ईसा पूर्व १०० वर्ष गॉल (Gaul) प्रदेश के चार्त्र (chartra)

जिले में कन्याकुमारी का एक उत्सव मनाया जाता था। उस त्योहार का
नाम था वर्जिनी पारितूरी (Virgini Pariturce)। उसी प्रकार ब्रिटेन के
ऑक्स्फोर्ड नगर में बालक को दूध पिलाने वाली माँ की प्रतिमा एक प्राचीन
सूर्य केन्द्र में थी। उदीयमान बाल सूर्य को वर्षरूपी माता दूध पिला पाल-पोस
कर बड़ा करेगी ऐसा उसका अभिप्राय था। उस सूर्य को मित्र कहा करते
थे। (मित्र संस्कृत-नाम ही है)। प्रोटेस्टंट लोग प्राचीन एट्रुस्कन प्रथा के
अनुसार कन्या और बालक के पूजन से क्रिस्मस मनाते हैं। उसे वे देवी
नूतिया (Nurtia) कहते हैं। उसी से नर्स(Nurse) शब्द बना है। गोरियस
(Gorius) के Tuscan Antiquities ग्रन्थ में गोद में एक बालक को
लिए एक एट्रुस्कन देवता का चित्र है। रोम के ईसाई लोग उसे ईसा की
माता 'मेरी' कह डालते किन्तु दुर्भाग्यवश एट्रुस्कन रिवाज के अनुसार उस
स्त्री की बाहू पर एट्रुस्कन् लिपि में नूतिया (Nurtia) नाम अंकित है।
ईरानी लोगों में भी यह एक बड़ा त्योहार था। वे उसे मित्र (सूर्य) देव का
जन्मदिन मानते थे।"

हिग्गिन्स ने निजी ग्रन्थ की भूमिका में कर्मठ ईसाई लोगों के प्रति बड़ा
क्रोध प्रकट कर उनकी हेराफेरी का भण्डा-फोड किया है। जैसे उसने ऊपर
लिखा है कि एट्रुस्कन देवी नूतिया की प्रतिमा को ईसाई लोग निजी देवता
'मेरी' बतलाकर काम चला लेते यदि उसकी बाहु के ऊपर नूतिया नाम न
लिखा होता।

ऊपर दिए ब्यौरे के अनुसार क्रिस्मस ईसाइयों का त्योहार नहीं अपितु
प्राचीन वैदिक उत्सव है। दिसम्बर २३ को सूर्य का उत्तरायण आरम्भ
होता है। उसी तिथि से दिन बड़ा होने लगता है। इसी कारण उसे बड़ा
दिन का त्योहार कहा जाता है। दिसम्बर २२ की रात सबसे लम्बी रात
होती है। भीष्मपितामह, महाभारत युद्ध के पश्चात् उत्तरायण की प्रतीक्षा
में ही इच्छामरण स्वीकारने से पूर्व शरशय्या पर पड़े रहे। उनकी वह प्रदीर्घ
प्रतीक्षा समाप्त हुई तथा युद्ध भी समाप्त होने से एक भीषण संहार के
अन्त पर बचे-कुचे लोगों ने छुटकारे की लम्बी साँस ली। युद्धविराम पर
कृष्ण भगवान् ही सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति माने गए। वैसे भी भगवद्गीता में
'मासानाम् मार्गशीर्षोऽहम्' वचन से मार्गशीर्ष (दिसम्बर) को भगवान् का

(यानी कृष्ण) मास कहते हैं। अन्तिम प्रदीर्घ रात्रि का मास इस दृष्टि से
भी दिसम्बर के लिए कृष्णमास नाम सार्थक है। ऐसे अनेक संयोगों से
महाभारत युद्ध के समय से भगवान् कृष्ण के जन्म समय पर ठीक १२ बजे
घंटियाँ बजाकर कृष्णमास उत्सव मनाया जाने लगा। रोम (राम) नगर में
अनादि काल से एट्रुस्कन लोग बालकृष्ण को गोद में लिए हुए यशोदा की
मूर्तियाँ और गोकुल का दृश्य बनाकर कृष्णमास त्योहार मनाते थे। वे ही
लोग जब छल-बल और कपट से ईसाई बनाए गए तो उसी प्राचीन यशोदा-
कृष्ण की मूर्तियों को मेरी और उसका पुत्र ईसामसीह कहकर उसी पूजा को
ईसाई मोड़ देने की हेराफेरी ईसा-पन्थियों ने कर दी।

उसी प्रकार ईसाई कहलाने वाले अन्य सारे त्योहार भी ईसापूर्व समय
से मनाए जाते रहे हैं। पहले से चले आ रहे सारे पन्थ, धर्माचार आदि पूरे
निगलकर उन्हें अपने ही घोषित करने के ईसाई षड्यन्त्र के बारे में The
Celtic Driuds ग्रन्थ के पृष्ठ १६४ पर गॉडफ्रे हिग्गिन्स ने लिखा है कि
"ईशानी (Esseni) पन्थ के साधु ईसाई बनाए जाने के पश्चात् पतित और
पापी रोमन और ग्रीक साधु कहलाने लगे। धर्म-परिवर्तन के पश्चात् उनकी
एक खिचड़ी सभ्यता बन गई। उनकी मोनेस्टरीज (monasteries) यानी
आश्रम उनके ईसाई बनने से पूर्व से ही स्थापन हुए थे। उनमें एक विशेष
दिन सूर्यपूजा के लिए निश्चित किया गया था। सूर्य को ईश्वर (प्रभु) कहते
थे। वह दिन था २५ दिसम्बर, मानो जैसे सूर्य का वह (उत्तरायण के रूप
में) जन्मदिन था। ड्रुइड लोग भी इसे मनाते थे। भारत से लेकर पश्चिम
के सारे देशों तक सूर्य के उस उत्तर संक्रमण का दिन जो मनाया जाता था
उसी को उठाकर ईसाइयों ने निजी क्रिस्मस त्योहार घोषित कर दिया।"

इससे विश्व के सारे लोगों को पता लग जाना चाहिए कि उनके वर्तमान पन्थ, धर्म या रीति-रिवाज चाहे कोई भी हों अतीत में सारे मानवों
की एक ही संयुक्त वैदिक-प्रणाली थी। उसी प्रणाली के आचार-विचारों
को ईसाई या इस्लामी कहकर तोड़ामरोड़ा गया है।

प्राचीन यूरोप के लोग सेल्ट (Celts) या केल्ट (Kelts) कहलाते थे।
डोरोथी चैंपलीन ने अपनी पुस्तक Matter, Myth and Spirit उर्फ
Keltic and Hindu Links के पृष्ठ १६ से २० पर लिखा है, "केल्ट

लोग विभिन्न जातियों के थे। उनकी भाषाएँ भी भिन्न थीं तथापि उनकी संस्कृति एक थी। उनके न्यायालय होते थे। ड्रुइड पुरोहितों के बनाए नियमानुसार समाज का नियन्त्रण होता था। केल्टजन आर्य थे या नहीं इस पर मतभेद है। किन्तु यदि वे आर्य नहीं थे तो होम-हवन की प्रथा उनमें कैसे आई? ऋग्वेद के अतिरिक्त किस प्राचीन ग्रन्थ में यज्ञ के बारे में विपुल वर्णन है? हिन्दुओं के धर्मग्रन्थों के अतिरिक्त बैल, वराह और सर्प को किस साहित्य में दैवी प्रतीक समझा जाता है?"

ऊपर दिए उद्धरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ईसापूर्व काल में यूरोप की जनता आर्य यानी वैदिक प्रणाली की थी। कई यूरोपीय विद्वानों ने भ्रम फैला रखा है कि आर्य नाम की एक विशिष्ट जाति थी। इस ग्रन्थ में हमने स्थान-स्थान पर यह बतला दिया है कि आर्य किसी जाति का नहीं अपितु वैदिक जीवन-पद्धति का नाम है। व्यक्ति चाहे मंगोल, हब्शी, गोरा आदि किसी जाति का हो यदि वह वैदिक-प्रणाली को अपना लेता है तो वह आर्य कहलाता है। इसी कारण प्राचीन यूरोप के केल्ट लोग भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलते थे, विभिन्न जाति के थे फिर भी कुछ विद्वान् तो उन्हें आर्य ही समझते थे। वह योग्य भी है। क्योंकि आर्यत्व तो वैदिक आचार-प्रणाली है जो 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' उद्घोष के अनुसार सारे मानवों के लिए परमात्मा द्वारा दी गई है।

अब हम पाठकों को एक पाँचवें ग्रन्थ से परिचित कराते हैं। नाम है Sanskrit and its kindred Literatures—Studies in Comparative Mythology। लेखिका है लॉरा एलिझाबेथ पुअर (Laura Elizabeth Poor)। प्रकाशक है C. Kegan Paul and co., Paternoster Square London, १८८१।

इस ग्रन्थ के पृष्ठ १ और २ पर लेखिका कहती है, "अनेक देशों के विभिन्न समय के साहित्य की बाबत् मैं लिखना चाहती हूँ। मुझे यह दर्शाना है कि वह सारा साहित्य एक ही है। विभिन्न समय में वही विचार उस साहित्य में बार-बार प्रकट किये जाते रहे हैं। विभिन्न देश एक-दूसरे से चाहे कितने ही दूर रहे हों उनके साहित्य में मानवी विचारों की एक ही छवि दीखती है यानी उस साहित्य में एक ही विचारशृंखला दीखती है।

फिनीशियन्, कार्थेजियन्, रोमन, ग्रीक आदि लोगों के इतिहास भिन्न-भिन्न भले ही लगें किन्तु जब यह पता चल जाता है कि वे सारे किसी एक राष्ट्र से सम्बन्धित हैं तो उस अध्ययन में रुचि बढ़ती है और चेतना प्राप्त होती है। संस्कृत भाषा ही सबको एक सूत्र में पिरोती है। इस जानकारी से वह विचार परिवर्तन होता है। उन सारे साहित्यों का मूल जानने के लिए संस्कृतभाषा की जानकारी होना, उस भाषा के महान् योगदान का ज्ञान और आधुनिक शास्त्रों से उस भाषा का सम्बन्ध ज्ञात कर लेना आवश्यक है। सॉलोमन के समय (यानी ईसापूर्व सन् १०१५) में और अलेक्झेंडर के समय (ईसापूर्व ३२४) में भी संस्कृत बोली जाती थी।"

संस्कृत में 'द्यु' अक्षर स्वर्लोक का द्योतक है। उसका स्वामी या शासक देवस्-पितर् कहलाता है। यही दो शब्द मिलकर द्युपितर् (Dyaus Pitar उर्फ Zeupiter), ज्युपितर (Jupiter) यह यूरोपीय नाम बन गया।

'देवस्' यह प्राचीन संस्कृत शब्द ईरानी झेंड भाषा में 'दोवस्', लैटिन में 'देऊस', ग्रीक में 'थिऑस', इटैलियन् में 'दिवास', फ्रेंच में 'द्यु' और आंग्ल भाषा में 'डेव्हिल' बन गया। ईसाई और इस्लामी परम्परा में प्राचीन वैदिक परम्परा के प्रति तिरस्कार बढ़ाकर उससे नाता तोड़ने के लिए वैदिक देवताओं को शैतान् या जिन् यानी भूत आदि दूषण लगाए जाते रहे। जिन वैदिक देवताओं को ईसाई और इस्लामी लोगों के पूर्वज पूजते थे उनका अस्तित्व भुला देने के लिए ईसाई और इस्लामी नेताओं ने उन देवताओं की निन्दा करते रहने की चाल चली।

विश्व-साहित्य का स्रोत—संस्कृत

लॉरा के पृष्ठ १२० पर उल्लेख है कि, "संस्कृत-साहित्य में ऐसी कई कथाएँ हैं जिन पर Arabian Nights ग्रन्थ की कुछ कथाएँ आधारित हैं"। Aesop's Fables नाम की यूरोपीय लोगों की कहानियों की पुस्तक भी संस्कृत हितोपदेश और पंचतन्त्र पर आधारित है। अरबों ने उन दो संस्कृत कथासंग्रहों के अरबी अनुवाद भी कर लिए थे।

ईरान जबतक हिन्दू देश रहा तब तक विशाल वैदिक संस्कृति का एक अंग रहा। किन्तु लॉरा ने लिखा है (उसके ग्रन्थ के पृष्ठ १४२ पर) कि

बन गया। "इस्लाम-मुसलमान बनते ही ईरान एक पापी और राक्षसी देश बन गया। "इस्लाम-मुसलमान बनते ही ईरान एक पापी और राक्षसी देश बन गया। ईसापूर्व सन् २२३४ पूर्व समय में ईरान पूर्णतया भिन्न प्रकार का देश था। ईसापूर्व सन् २२३४ में ईरान में आर्य शासन था। इस्लामी देश बनने के पश्चात् ईरान स्त्रैण और विश्वासघातकी देश हो गया है। जो भी महम्मदी होता है उसका जीवन विषय-वासनाओं से लिप्त रहता है।

संस्कृत-साहित्य की प्राथमिकता और महत्ता

लॉरा के ग्रन्थ में (पृष्ठ १७३) लिखा है, "संस्कृत-साहित्य की बात करते हुए यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि वह स्वयं प्रेरित था। अन्य किसी प्रदेश के सम्पर्क बिना ही संस्कृत-साहित्य का गठन हुआ। ग्रीक-साहित्य उस प्रकार स्वतन्त्र नहीं है। संस्कृत-साहित्य आध्यात्मिक, दयार्द्र और सद्गुणी (पवित्र)-सा लगता है जबकि ग्रीक-साहित्य कृत्रिम, अनैतिक और अनाध्यात्मिक-सा लगता है।

ज्ञाति का शासन

वैदिक समाज के अन्तर्गत प्रत्येक ज्ञाति (जैसे लुहार, कुम्हार आदि) का निजी संगठन और शासन होता था। स्कॉटलैंड के पहाड़ी प्रदेशों में भी वैसा ही ज्ञाति शासन प्रचलित था। यह कोई भारत की या स्कॉटलैंड की ही विशेषता नहीं है। प्राचीन विश्व-भर में जो वैदिक समाज था उसमें सर्वत्र ज्ञाति-ज्ञाति का ही शासन होता था।

ड्रूइडों की विद्या-प्रणाली

ड्रूइडों की विद्या-प्रणाली वैदिक थी। इसके अनुसार बालक पाँच वर्ष का होते ही १२ से २० वर्ष तक की शिक्षा के लिए गुरु के आश्रम में भेजा जाता था। इस सम्बन्ध में लॉरा ने लिखा है—"पवित्र मन्त्र सीखने के लिए ड्रूइडों को २० वर्षों का समय दिया जाता। किन्तु वे इन्हें कभी लिखते नहीं थे। अतः वह सारा ज्ञानसाहित्य लुप्त हो गया है। इस पर चिन्ता करने की बात नहीं। क्योंकि वेदमन्त्र तो उपलब्ध हैं ही। हमारे सारे निष्कर्ष सिद्ध करने के लिए वे पर्याप्त हैं। किन्तु ड्रूइडों की प्रणाली से तुरन्त भारत का स्मरण होता है। ड्रूइड भी शिक्षक, न्यायाधीश और वैद्य होते थे। भारत के ब्राह्मणों की तरह ही ड्रूइडों के बड़े अधिकार थे।"

लॉरा के कथन में इस कुछ छुट-पुट संशोधन सुझाना चाहेंगे। उन्हें छोड़कर लॉरा के निष्कर्ष सारे सही और महत्त्वपूर्ण हैं। ड्रूइडों के मन्त्र वैदिक ही थे यह लॉरा का कथन सही है। उनकी विद्याप्रणाली वैदिक थी यह भी ठीक है। ब्रिटेन में और यूरोप में अन्यत्र पाए जानेवाली प्रस्तरी इमारतों के खण्डहर, जो क्रॉमलैक (chromlacs), डॉलमेन (Dolmens) और स्टोनहेंज (Stonehenge) आदि कहे जाते हैं, वे ड्रूइडों की वैदिक सभ्यता के अवशेष हैं। ब्रिटेन में तो वे विपुल पाए जाते हैं। नष्ट मन्दिर, भवन, आश्रम, विद्यालय आदि वे फूटे-टूटे अवशेष हैं।

भारतीयों का विश्वप्रसार (फैलाव)

वर्तमान पाश्चात्य विचारधारा के विद्वज्जनों की यह धारणा है की आर्य नाम की कोई जाति थी जो किसी अन्य स्थान से यूरोप और भारत में जा बसी, और केल्टिक लोग एशियाई जन थे जो यूरोप में जा बसे। ये लोग भारत छोड़कर क्यों जाते रहे इसकी स्पष्ट कल्पना आज तक उपलब्ध नहीं थी। हम उसका विवरण यहाँ दे रहे हैं। आर्य नाम की कोई जाति थी ही नहीं। आर्य तो सनातन, वैदिक हिन्दू प्रणाली का नाम है। वह धर्म कभी भारत से सारे विश्व में फैलाया गया। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि आर्य विचारधारा के लोग उस समय विश्व में फैले जब अन्य कोई विचारधारा थी ही नहीं। उस समय अनार्य उनको कहते थे जो पिछड़े हुए थे और संस्कारादि नियमबद्ध सुसंगठित समाज का ज्ञान नहीं था। उस आर्यधर्म के प्रसारक, नियंत्रक, व्यवस्थापक वर्ग को द्रविड़ कहा जाता था। अतः आर्यधर्म का प्रसार करनेवाले ऋषि-मुनिवर्ग को द्रविड़ कहा जाता था। इस दृष्टि से द्रविड़ों की निगरानी या नेतृत्व में आर्यधर्म का विश्व-प्रसार हुआ। इसी कारण आर्य और द्रविड़ शब्द बार-बार सर्वत्र सुनाई देते हैं। यूरोप में द्रविड़ का उच्चारण ड्रूइड हुआ।

इतिहास की उथल-पुथल में बड़े-बड़े जनसमूह सदियों का निजी प्रदेश छोड़कर दूर जा बसे। जैसे प्रलय होने पर मनुमहाराज के साथ कुछ लोग

सुरक्षित स्थान पर चले गए। महाभारतीय युद्ध के पश्चात् मूसलास्त्र से हताहत यदु लोग द्वारका छोड़कर पश्चिमी देशों में चले गए। महमूद गजनवी, घोरी आदि इस्लामी आक्रामकों ने भारत में जो आतंक मचाया उससे त्रस्त हिन्दू लोग समय-समय पर देश छोड़कर चले गए। सन् १९४७ में जब भारत के एक हिस्से में पाकिस्तान बना लाखों लोग नई सीमा पार-कर पाकिस्तान में गए या सुकड़े हुए भारत में आ बसे।

एक समय था कि विश्व के सारे जन वैदिकधर्मी यानी हिन्दू थे। जब से इन्हें छल-बल, धोखे से या प्रलोभन से ईसाई बनाया गया तबसे वे अपने आपको अलग मानने लगे। इस धर्मपरिवर्तन के कारण उनकी भाषा, रहन-सहन, पोशाक, खानपान आदि इतने बदल गए हैं कि हजारों वर्ष पश्चात् वे लोग कहीं और से भारत आ बसे। किन्तु वह निष्कर्ष गलत होगा। लोग वही होते हुए भी धर्मपरिवर्तन के कारण उनके बर्ताव में आमूलाग्र परिवर्तन होकर वे किसी अन्य स्थान से आए हुए लगते हैं। जैसे इटली देश में ईसा पूर्व ७वीं शताब्दी से ६००-७०० ई० तक एट्रुस्कन् सभ्यता का कुछ इतिहास मिलता है। तत्पश्चात् उनका अस्तित्व इतिहास से मिट गया-सा लगता है। इसका अर्थ यह नहीं कि सारे एट्रुस्कन लोग यकायक इटली देश छोड़कर चले गए। विश्व इतिहास के ऐसे कई गलत सिद्धान्त ठीक करने की आवश्यकता है। हो सकता है कि जैसे-जैसे रोमन साम्राज्य का बोलबाला होता चला गया वैसे-वैसे एट्रुस्कन लोगों का नाम कालगति के कारण मिट गया या जानबूझकर मिटाया गया। जब सामूहिक देशान्तर का कोई प्रमाण नहीं मिलता तो किसी जाति का इतिहास लुप्त होने का कारण उसी देश के अन्तर्गत दुर्लक्ष या वैमनस्य में ढूंढ़ना योग्य होगा।

२४
वैदिक संस्कृति का मूलस्थान

सूरत नगर के किसी इस्लामी शोधसंस्थान में कार्य करने वाले एक अरब ने मुझे पत्र द्वारा यह लिखा कि हिन्दू रहन-सहन और प्राचीन (इस्लामपूर्व) अरब रहन-सहन, विचारधारा आदि में इतनी समानता पाई जाती है कि इससे स्पष्ट है कि भारत में हिन्दू धर्म अरबस्थान से आया।

उसका वह सुझाव स्पष्टतया पक्षपाती था। उस पत्र का एक और गुप्त हेतु यह सुझाना होगा कि जैसे प्राचीन समय में अरबों ने भारत को हिन्दू-प्रणाली दी वैसे ही सातवीं शताब्दी से इस्लाम दिया। यानी मानों जैसे अरबस्थान एक-से-एक बेहतर धर्मों का संचालक और उदार वितरक प्रसारक रहा है।

कई श्रोता या पाठक ऐसे कथनों से धोखा खा जाते हैं। जब किसी को बताया जाता है कि संस्कृत और आंग्ल भाषाओं में समानता इसलिए है कि वे अंग्रेजी संस्कृत से निकली है तो वह उल्टा यह पूछता है कि यदि ऐसा है तो ऐसा निष्कर्ष क्यों न निकाला जाए कि संस्कृत ही आंग्ल भाषा से निकली है?

ऐसी समस्या का सीधा-सादा उत्तर यह है कि दोनों की आयु देखी जानी चाहिए। संस्कृत आंग्ल भाषा की पुत्री नहीं हो सकती क्योंकि आंग्ल भाषा एक या डेढ़ हजार वर्षों से प्राचीन नहीं है जबकि संस्कृत का अस्तित्व विश्व के आरम्भ से है।

वही बात अरबी पर लागू है। कट्टर और धर्मांध मुसलमानों के अनुसार इस्लाम के पूर्व अरब में कोई स्थिरता और शान्ति थी ही नहीं। सारी सभ्यता, स्थिरता आदि इस्लाम ने आरम्भ की। यदि ऐसा हो तो इस्लाम पूर्व अरबों का कुछ योगदान भारत को या विश्व को हो ही नहीं सकता।

वास्तव में मुसलमानों ने पक्षपाती प्रवृत्ति के कारण इतिहास को

उल्टा कर डाला है। अरबस्थान में इस्लामपूर्व शान्ति, स्थिरता और सभ्यता थी। अरब लोग छल-बल से मुसलमान बनाए जाने के पश्चात् उन्होंने उसी दहशतवाद को यत्र-तत्र लागू कराकर मार-काट से विश्व में महम्मदी पंथ का प्रसार किया।

तथापि उस अरब व्यक्ति के पत्र से एक बात स्पष्ट हो जाती है। वह यह है कि इस्लामपूर्व अरबों का रहन-सहन, त्योहार, व्रत, आदि सारे हिन्दू प्रणाली के ही थे।

इस ग्रन्थ का मूल उद्देश्य इतिहास के उस लुप्त तथ्य से जनता को अवगत कराना है कि जिसे आधुनिक परिभाषा में हिन्दूधर्म कहते हैं वह वास्तव में वैदिक जीवन-प्रणाली है और वही प्रणाली भारत, अरबस्थान आदि सारे विश्व में फैली होने के कारण किसी भी देश-प्रदेश की प्राचीन सभ्यता अवश्य भारत की वर्तमान हिन्दू सभ्यता जैसी ही दिखाई देगी।

मुख्य प्रश्न तो यह है कि वह सभ्यता कहाँ आरम्भ हुई? क्या वह भारत में निर्माण होकर अन्य देशों में गई या किसी अन्य प्रदेश से भारत में आई? इस जीवन-पद्धति का एक नाम है—आर्य जीवन-पद्धति।

विकृत इतिहास से मचा हाहाकार

इस प्रश्न का सही उत्तर न जानते हुए कुछ विकृत और कपोलकल्पित तथ्य विश्वभर में रटाए जाने के कारण कई बार बड़ा हाहाकार मचा है। सन् १९३३ से १९४५ तक हर हिटलर जर्मनी का सर्वसत्ताधारी रहा। उसने यह रट लगा रखी थी कि जर्मन लोग मूलतः आर्य हैं और ज्यू लोग अनार्य हैं। अतः ज्यू लोगों को या तो मार डालना चाहिए या जर्मनी से निकाल देना चाहिए। हिटलर के इस दुराग्रह के कारण, कहते हैं, उसने साठ लाख ज्यू लोग मार डाले। आर्य-अनार्य शब्दों की ठीक-ठीक व्याख्या या व्याप्ति न समझने के कारण कितना बड़ा हाहाकार मच सकता है इसका यह एक प्रबल उदाहरण है। ऐसे कितने ही ऐतिहासिक भ्रम प्रसृत होने से कितने ही आतंक मचे होंगे यह एक संशोधन का बड़ा उद्बोधक विषय हो सकता है।

हिटलर और पर्याय से पाश्चात्य प्रणाली के सारे विद्वान् आर्य को

जाति समझ बैठे, यह उनकी पहली गलती है। उन्हें यह जानना आवश्यक था कि आर्य तो वैदिक जीवन प्रणाली का नाम था। वह जीवन-प्रणाली प्राचीनकाल में सारे विश्व में प्रसृत होने के कारण, यूरोपीय लोगों जैसे ही, अरब, ईरानी, भारतीय, यहूदी सारे ही आर्य थे। यहूदी लोग मूलतः भगवान् कृष्ण के यदु लोग थे। इन्हें द्वारका छोड़कर लगभग ५-६ हजार वर्ष पूर्व अन्यत्र जाकर बसना पड़ा। वे विभिन्न टोलियों में जैसे अनेक देशों में गए वैसे जर्मनी में भी जा बसे। अतः जर्मनी के मूल निवासियों में और नये आए यहूदियों में कुछ अलगाव-सा रहा। तथापि यहूदि भी तो आर्य ही थे। भगवद्गीता के प्रवर्तक भगवान् कृष्ण की जाति के यदुवंशी भला आर्य के अतिरिक्त हो ही क्या सकते थे। तथापि विकृत इतिहास पढ़ाये जाने के कारण हिटलर की मनोवृत्ति भी विकृत हो गई और उसने यहूदियों को निर्वंश करने का बीड़ा उठाया।

वैदिक संस्कृति को ही आर्यधर्म कहते हैं। इसी प्रकार सनातन धर्म और हिन्दू धर्म यह भी उसी सभ्यता के अन्य नाम हैं। वेदों में उस प्रणाली के मूल नियम और स्वरूप पाए जाते हैं इस अर्थ से वह वैदिक सभ्यता है। जिस प्रणाली में आत्मा को अपने-आपको उन्नत करते-करते परोपकार, सत्य, अहिंसा आदि के मार्ग से मोक्ष प्राप्त करनी है उसे आर्य भी कहते हैं। आर्यधर्म वह है जिसमें श्रेष्ठतम उन्नति का मार्ग अनिवार्य कहा गया है। सनातन इसलिए कहलाता है कि उस जीवन-प्रणाली के नियम किसी भी युग में, विश्व के किसी भी प्रदेश में, सभी व्यक्तियों पर लागू होते हैं। हिन्दू शब्द सिंधु शब्द का और इंदु शब्द का पर्यायी उच्चारण है। हिन्दूधर्म यानी सिन्धुधर्म जो सिन्धु नदी के प्रदेश में प्रथम प्रारम्भ हुआ। इंदु यानी चन्द्रमा जैसे नगण्य अवस्था से पूर्णत्व के प्रति जाने का मार्ग बतलाने वाला धर्म। उसी इंदु शब्द का ही यूरोपीय लोगों ने 'इंदीय' (India) (देश) और मुसलमानों ने 'हिंदीय' ऐसा अपभ्रंश किया।

आर्यधर्म किसी भी जाति या पंथ का मनुष्य अपना सकता है। क्योंकि जो भी आर्यधर्मों के नीतिनियमों के अनुसार चलने का ध्येय रखे या उसका आदर करे, वह आर्य है। ऐसा मनुष्य पापभीरु, अनुशासित, सभ्य और सुसंस्कृत होना चाहिए। महम्मद या ईसामसीह जैसे किसी एक व्यक्ति को

परम नेता मानकर उसके साथ अपने आपको जिसने जकड़ न लिया हो ऐसा व्यक्ति आर्य कहलाने योग्य होता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति बर्बर, क्रूर अव्यवस्थित, अनियमित, असत्य व्यवहार करे वह अनार्य है।

सृष्टि-उत्पत्ति के समय महाविष्णु द्वारा प्रचलित की गई वैदिक सभ्यता सारे विश्व में प्रसृत थी। इसके दो प्रकार हो सकते हैं—एक तो यह कि विश्व भर में जो वैदिक संस्कृति शुरू से ही थी वह सुकड़ते-सुकड़ते केवल भारत में ही रह गई क्योंकि इतरत्र के लोग अपने-आपको बौद्ध, ईसाई या इस्लामी कहकर अलग रहने लगे। अतः यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि प्राचीन विश्व में वैदिक संस्कृति भारत द्वारा फैलाई गई।

दूसरा पर्याय यह हो सकता है कि सिन्धु-गंगा-यमुना और तिब्बत के प्रदेश में यह संस्कृति सृष्टि-उत्पत्ति के समय से आरम्भ हुई और 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' कहने वाले द्रविड़ों ने (यानी ऋषि-मुनियों ने) उसे महाविष्णु की आज्ञा से सारे विश्व में फैलाया।

प्राप्त सूत्रों के आधार से वह दूसरा पर्याय अधिक उचित और तथ्य-पूर्ण जान पड़ता है। वे आधार इस प्रकार हैं। कैलाश और मानस-सरोवर, आरम्भ से ही इस संस्कृति के आधार केन्द्र हैं। तिब्बत शब्द 'त्रिविष्टप' यानी 'स्वर्ग' इस अर्थ का द्योतक है। यह तभी हो सकता है जब स्वर्ग द्वारा प्रथम पीढ़ी के मानवों का वहाँ निर्माण किया गया। भगीरथ के यत्नों से गंगावतरण उस प्रदेश में होना इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

सारे विश्व में वैदिक संस्कृति महाभारतीय युद्ध तक पूर्ण रूप से थी। तत्पश्चात् वह टूटी-फूटी अवस्था में चलती रही। सन् ३१२ ईसवी में रोमन सम्राट् कॉन्स्टेंटाईन के ईसाई बनने पर उसकी रोमन सेना के छल-बल से सारे यूरोप को ईसाई बनाने का चक्र चलाया। तत्पश्चात् ६०० वर्षों में सारा यूरोप ईसाई बनाया गया।

इधर अरबों को सातवीं शताब्दी से बलात् मुसलमान बनाने का कुचक्र आरम्भ हुआ। अरब स्वयं मुसलमान बन गए और उन्होंने एक सहस्र वर्षों के आक्रमण से कई अन्य देशों की जनता को छल-बल से मुसलमान बनाया। अनादि काल से आजतक के इतिहास का यही संक्षिप्त ब्योरा है।

अब स्थूल रूप से केवल भारत, नेपाल और बालि द्वीप में हिन्दू,

वैदिक, सनातन, आर्य धर्म शेष है। विश्व के अन्य देशों के दबाव, अज्ञान आदि कारणों से बौद्ध, ईसाई या महम्मदी धर्म के अपने-आपको अनुयायी मान लेने के कारण वे वैदिक धर्म से बिछुड़ गए हैं। इतना ही नहीं अपितु गलत इतिहास पढ़ाए जाने के कारण हिटलर जैसे व्यक्ति ने भुला दिया कि मूलतः वे सारे हिन्दू ही रहे हैं।

अतः इस ग्रन्थ से विधर्मी पाठकों को उनकी अपनी प्राथमिक दैवी वैदिक संस्कृति में लौट आने की प्रेरणा मिलनी चाहिए तथा वैदिक धर्म के पाठकों को यह प्रेरणा होनी चाहिए की वे अथक यत्न करके प्रत्येक विधर्मी को बार-बार स्नेहमय निमन्त्रण देकर हिन्दू धर्म में फिर सम्मिलित कर लें।

जैसे किसी हिन्दू व्यक्ति के चार पुत्र हैं। दैववशात् उनमें से तीन क्रमशः बौद्ध, ईसाई और महम्मदी बन गए। तब भी उनके आचार-विचारादि उस चौथे भाई जैसे ही होंगे जो हिन्दू ही रहा हो। तथापि धर्म-परिवर्तन किए हुए अन्य भाई शनैः-शनैः निजी विभक्तता दर्शाने के लिए कुछ अलग, अटपटे व्यवहार या चिह्न अपना लेंगे। करते-करते वे यह भी भूल जाएँगे या लोगों को भुलाने का यत्न करेंगे कि वे कभी हिन्दू थे। वर्तमान बौद्ध, इस्लामी और ईसाइयों का यही हाल है। उनके पूर्वज कभी हिन्दू थे। इसका उल्लेख वे टालते रहते हैं और ऐसा ढोंग करते हैं जैसे वे विश्व के आरम्भ से ही वे बौद्ध, ईसाई या महम्मदी रहे हैं। इतिहासवेत्ताओं को इस रहस्य को बार-बार खोलते रहना चाहिए।

हिन्दुओं को इस बात का गर्व होना चाहिए कि छल-बल से विश्व का अधिकांश भाग विधर्मी बनाया गया तब भी वे अपनी प्राचीन दैवी वैदिक संस्कृति को टिका पाए हैं।

एडवर्ड पोकॉक (Edward Pocock) अपने 'India in Greece' नाम के ग्रन्थ में पृष्ठ २५१ पर लिखते हैं, "सर विलियम् जोन्स का निष्कर्ष था कि प्राचीन ईरानी, हब्शी, मिस्री, फिनीशियन, ग्रीक, टस्कन, सीथियन्, गोठ, सेल्ट, चीनी, जापानी और पेरू के लोगों की सभ्यता की तरह भारत की सभ्यता भी अनादि रही है।" सर विलियम जोन्स ने बड़े पते की बात कही है तथापि दुर्भाग्यवश वे स्वयं उसे ठीक समझ नहीं पाए हैं। ऊपर

जितने नाम दिए हैं उनकी सभ्यता एक-दूसरे से भिन्न थोड़े ही थी। वे सारे लोग वैदिक संस्कृति के ही तो अनुयायी थे। उनकी सभ्यता भी भारतीय सभ्यता जैसी ही प्राचीन थी इसीलिए लगता है कि वह भी वैदिक सभ्यता ही थी। उस सभ्यता का नाम आर्यधर्म था। अतः विश्व के अधिकांश लोग अपने आपको आर्य कहते हैं यद्यपि उनके देश-प्रदेश, धर्म और जाति भिन्न-भिन्न हैं। और आर्य लोग सर्वत्र होने के कारण आर्य लोग कहाँ से आए? इस प्रश्न के उत्तर में पाश्चात्य विद्वान् या उनके अनुयायी पामीर, तुर्कस्थान, मेसोपोटामिया, उत्तरी ध्रुव आदि विविध प्रदेशों को आर्यों का मूलस्थान कहते रहे। यह भ्रम उत्पन्न होने का कारण यही था कि सृष्टि-उत्पत्ति समय से या उसके तुरन्त पश्चात् आर्य, वैदिक, सनातन धर्म सब प्रदेशों में फैला हुआ था।

आर्यधर्म ही सारी मानवजाति का मूल धर्म है, यह ज्ञात कराने से एक सुप्त ऐतिहासिक तथ्य तो लोगों को अवगत होगा ही किन्तु एक और लाभ यह है कि जागतिक शान्ति, एकता, न्याय और सुख का मार्ग भी मिलेगा। वैदिक जीवन-पद्धति की समाज-रचना अधिकतम सुख, शान्ति और सद्भाव कायम रहे, इस उद्देश्य से बनाई गई थी।

एडवर्ड पोकॉक ने अपने ग्रन्थ 'India in Greece' के पृष्ठ २४६ पर प्रोफेसर विल्सन का निष्कर्ष उद्धृत किया है कि "पुराणों में वर्णित तथ्य, परम्पराएँ और संस्थाएँ क्या किसी एक दिन प्रस्थापित हो सकती हैं। अरे अच्छा ईसाई सन् के तीन सौ वर्ष पूर्व भी उनका अस्तित्व पाया जाता है जिससे वह बहुत प्राचीन लगते हैं—इतने प्राचीन कि उनकी बराबरी अन्य कोई भी प्रणाली नहीं कर सकती।"

सर विलियम् जोन्स, विलफोर्ड, टॉड, कोलब्रुक आदि कई यूरोपीय विद्वानों का निष्कर्ष है कि पुराणों में मानव की प्राचीनतम घटनाओं और परम्पराओं का वर्णन है। उसके आगे विश्व को अब यह भी जान लेना चाहिए कि वे परम्पराएँ पूर्णतया वैदिक ही हैं और वे विश्व के सारे प्रदेशों में लागू थीं, केवल भारत में ही नहीं।

भारत ही उस प्रणाली का उद्गमस्थल था इसके कुछ प्रमाण हम ऊपर देख चुके हैं। एक और प्रमाण यह है कि वह प्रणाली पूर्णतया भारत में अवशिष्ट है। अन्य प्रदेशों में से वह नष्टप्रायः ही हो गई है जैसे किसी वटवृक्ष की जड़ें तो मूलस्थान पर कायम रहें और दूर-दूर तक फैली उसकी शाखाएँ काटी जाएँ। यह इसी कारण हुआ कि देश-प्रदेश में सारे ही जन बलात् ईसाई और इस्लामी बनाए गए और उनकी इमारतें, मन्दिर आदि गिरजाघर, मस्जिदें और मकबरे घोषित कर दिए गए।

वैदिक धर्म की जड़ें भारत में थीं इसीलिए तो यहाँ लगातार १२३५ वर्ष पश्चिमी प्रदेशवर्ती इस्लामी और यूरोपीय हमलावरों के आक्रमण होते हुए भी भारतीय वैदिक क्षत्रिय जाति ने इनका डटकर कड़ा प्रतिरोध किया और उस भीषण एवं प्रदीर्घ संघर्ष के पश्चात् शत्रु का नामोनिशान मिटाकर भारत को स्वतन्त्र किया। क्या ऐसे १२३५ वर्षों के युद्ध का इतिहास में और कहीं उल्लेख है? वह संघर्ष केवल पराए आक्रामकों के विरुद्ध ही नहीं था अपितु उन करोड़ों एतद्देशीय बगलबच्चों के विरुद्ध भी था जो बलात् मुसलमान और ईसाई बनाए जाने पर भी अपनी मूछों पर ताव देकर विधर्मी और विदेशी शत्रुओं का ही साथ देते रहे।

इतनी निग्रही और दैवी निष्ठा की उस प्रणाली का स्रोत भारत ही था और सारे प्राचीन विश्व में वही प्रणाली प्रसृत थी इसको मानने वाले और भी पाश्चात्य विद्वान् हैं।

विलियम ड्यूरांट नाम के एक अमेरिकन ने 'The Story of Civilization' (संस्कृति की कथा) नाम का १० भागों का एक ग्रन्थ लिखा है। उसमें वे लिखते हैं, "जैसे भारत ही मानव जाति की माता है उसी प्रकार संस्कृत ही विश्व की सारी भाषाओं की जननी है। संस्कृत में ही हमारा दर्शनशास्त्र पाया जाता है, गणित का भी स्रोत वही है, ईसाईपंथ में गढ़े आदर्शों का उद्गम भी भारत ही है। स्वतन्त्रता, जनशासन आदि सारी प्रथाएँ भारत- मूलक होने के कारण भारत ही विविध प्रकार से मानवी सभ्यता की जननी है"।

भारत का सही मूल्यांकन यही है। क्योंकि एक वत्सल माता की तरह भारत ने ही तो प्रत्यक्ष रूप से और सांस्कृतिक दृष्टि से मानवता को उत्कट मातृभाव से पाल-पोसकर बड़ा किया। जैसे किसी माँ की गोद में खिले-खेले, फले-फूले बालक बड़े होकर विविध क्षेत्रों में अपना कर्तृत्व बतलाते हैं

प्रकार विभिन्न देशों की प्रणालियाँ भारत से ही तो निकली हैं। उसी
उसी प्रकार विभिन्न देशों की प्रणालियाँ भारत से ही तो निकली हैं। उसी
कारण उनकी भाषाएँ, प्रथाएँ, देवकथाएँ, स्थापत्य, विद्याप्रणाली,
परिभाषा आदि सारे क्षेत्रों में एक समानता का सूत्र दिखाई देता है।
काउण्ट बियाँनस्टियर्ना (Count Bionstiarna) ने अपने 'The
Theogony of the Hindus' ग्रन्थ में लिखा है कि "हिन्दू लोग ग्रीकों से
कितने ही अधिक प्रखर होने के कारण वही ग्रीकों के गुरु रहे होंगे और
ग्रीक लोग हिन्दुओं के शिष्य"।

इससे यह ज्ञात हो जाता है कि जैसे किसी सरोवर से नलकों द्वारा
घर-घर में जल पहुँचाया जाता है या जैसे हृदय की धक्-धक् शरीर के प्रत्येक
अवयव को रुधिर पहुँचाती रहती है उसी प्रकार भारत से सारी विद्या,
कलाएँ, भाषा, परम्परा सारे प्रदेशों में गई तो ग्रीस देश में भी पहुँची।
किन्तु इससे पाठक यह न समझ बैठें कि आज की तरह भारत और ग्रीस
कोई भिन्न देश थे। उस प्राचीन काल में तो सारे प्रदेश मानो जैसे एक ही
वैदिक संस्कृति के अंगप्रत्यंग थे जिन्हें भारत हृदय की धड़कन और मन की
प्रेरणा जैसे चेतनास्रोत पहुँचाता रहता। ईसाई या इस्लामी पंथों ने जैसे
विश्व में हाहाकार और आतंक मचाकर गिरे-पटके-दबाए लोगों पर सवारी
की या फोड़ों की भांति मानवजाति को दुःखी और दलील किया वैसे
भारत ने कभी नहीं किया। भारत ने तो सब को वात्सल्यभरा निजी दूध
पिलाया और उन्हें भली प्रकार अँगुली पकड़कर और लेखनी पकड़वाकर
चलाया, लिखाया, ज्ञान दिया, मनोरंजन किया, संगीत आदि कलाएँ
सिखलाई और ऊपर से आशीर्वाद दिया, आदर्श दिया कि बेटा ! सबसे
मिलजुलकर रहना, निजी स्वार्थ के लिए, धर्मांधता से, असूया से, क्रोध-
लोभ और मोह की लपेट में आकर निजी कर्तव्य निभाने में कदापि कसूर
न हो। आखिर ध्येय-निष्ठा और कर्तव्यपरायणता ही तो सर्वोत्तम आदर्श
है। संकट और अड़चनें तो जीवन में आती ही रहती हैं। किन्तु ऐसे समय
में भी जो सैनिक अपने स्वामी के ध्येय के लिए लड़ता रहे, जो पति-पत्नी
एक-दूसरे को अन्तर न दें, जो माता-पिता और पुत्र अपना धर्म न छोड़ें
वही तो इस जीवन की ईश्वरीय कसौटी में उत्तीर्ण होकर मोक्ष पाते हैं। जो
डगमगाकर प्राणभय या प्रलोभन के कारण अपना कर्तव्य छोड़ देते हैं वे

इस विश्व की ईश्वरीय परीक्षा में अनुत्तीर्ण माने जाते हैं और ऐसी आत्माओं को जीवनचक्र में जन्मजन्मान्तर में गोते खाने पड़ते हैं।

काउण्ट बिय्रॉनस्टियर्ना के ऊपर निर्दिष्ट ग्रन्थ में पृष्ठ १६८ पर उल्लेख है कि "विश्व में हिन्दुओं की कोई बराबरी नहीं कर सकता। हिन्दुओं की उच्च सभ्यता फैलते-फैलते पश्चिम में इथियोपिया, ईजिप्त और फिलीशिया तक गई, पूर्व में स्याम, चीन और जापान तक पहुँची, दक्षिण में सीलोन और जावा, सुमात्रा तक फैली और उत्तर में ईरान, चैल्डी और कॉलचिस होते हुए ग्रीस और रोम तक फैली और अंत में तो सुदूर के हायपरबोरिअन्स (Hyperboreans) के प्रदेश में भी जा धमकी"।

एडवर्ड पोकॉक 'India in Greece' ग्रन्थ में लिखते हैं,"ग्रीस का सारा समाज, सैनिकी या नागरी, प्रमुखतः एशियाई और अधिकतर भारतीय ढाँचे का था। इससे पता लगता है कि भारतीयों द्वारा उस प्रदेश को बसाने के कारण वहाँ उनका धर्म और भाषा दीखती है। भारत से जो राजकुल या सरदार दरबारियों के घराने यकायक लुप्त से हो गए वे ही ग्रीस देश में प्रकट होकर ट्रॉय के समरांगण में लड़े थे"।

प्राचीन विश्व की एकमेव भाषा संस्कृत

यूरोपीय सभ्यता का स्रोत ग्रीस देश माना जाता है। और ऊपर जैसे दर्शाया है ग्रीकों की सभ्यता का उद्गम भारत है। भारत की सभ्यता थी वैदिक। इससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वैदिक संस्कृति ही सारे विश्व की सभ्यता का मूल स्रोत है। वैदिक सभ्यता की एकमेव भाषा संस्कृत ही थी। उसके सारे मन्त्र, ग्रन्थ, तन्त्र, विद्याएँ, कलाएँ, मनोरंजन शास्त्र आदि का माध्यम संस्कृत ही थी। अतः संस्कृत ही विश्व की मूलभाषा रही है।

सर आयझॅक टेलर (Sir Issac Taylor) ने 'Origin of the Aryans' नाम के निजी ग्रन्थ में पृष्ठ १ पर लिखा है—"विविध दर्शन-शास्त्रों का तुलनात्मक अध्ययन कर अॅडेलंग (Adelung) (एक जर्मन विद्वान्) ने यह निष्कर्ष निकाला कि मानवी सभ्यता का आरम्भ कश्मीर में हुआ। वही 'स्वर्ग' था। अॅडेलंग का और एक निष्कर्ष, जिसे बड़ी मान्यता प्राप्त हुई, यह है कि मानवता का आरम्भ पूर्ववर्ती प्रदेशों में होने

के कारण इबेरियन्स (Iberians) और सेल्टस् (Celts) जैसी पश्चिमी जातियाँ वहीं से निकली होंगी"।

ऊपर कहे तथ्य में हम थोड़ा परिवर्तन सुझाना चाहते हैं। प्राचीन काल में त्रिविष्टप (यानी तिब्बत उर्फ स्वर्ग) अफगानिस्तान तक के पूरे हिमालयी प्रदेश को कहा जाता था। उस प्रदेश में कश्मीर का भी अन्तर्भाव होता था। सेल्टस् और इबेरियन्स जैसी पश्चिमी समझी जाने वाली जातियाँ मूलतः उसी हिन्दू वैदिक 'स्वर्ग' से निकली होंगी यह कहने के बजाय ऐसा कहना अधिक योग्य होगा कि विश्व के प्रत्येक प्रदेश में रहने-वाले जन मूलतः पूर्णतया वैदिकधर्मी थे। महाभारतीय युद्ध के संहार से संचार और सम्पर्क के सब साधन टूट गए। अतः जो जाति या जनसमूह भारत से अधिक दूर और संचार तथा सम्पर्क के साधनों के अभाव में वैदिक संस्कृति से अधिक बिछुड़े रहे उनके रीति-रिवाज अधिकाधिक भिन्न होते गए। जो जनसमूह भारत से और उसकी वैदिक संस्कृति से अधिक सम्पर्क में रहे, उनकी प्रथा और जीवन-प्रणाली बड़ी मात्रा में वैदिक ही रही। आगे चलकर जो जन ईसाई और इस्लामी बनाए गए उन्होंने वैदिक संस्कृति से निजी भिन्नत्व बतलाने के लिए दुराग्रह और शत्रुभाव से खान-पान, रहन-सहन, आचार-विचार, बोलचाल आदि में आमूलाग्र परिवर्तन लाना शुरू किया। इसी से वह भावना जाग उठी कि मुसलमान कहलाने वाला प्रत्येक व्यक्ति उस व्यवहार को सही माने जो हिन्दू प्रथा के पूर्णतया विरुद्ध होगा। जैसे सूर्यास्त से नया दिन मानना, पश्चिमाभिमुख होकर प्रार्थना करना इत्यादि...।

एक फ्रेंच लेखक क्रूइसे (Cruiser) ने लिखा है, "विश्व में यदि ऐसा कोई देश है जो मानवता का पलना होने का दावा कर सकता है या आरम्भ से मानव का निवासस्थान रहा और जहाँ से प्रगति और ज्ञान की लहरें सर्वत्र पहुँचकर मानव का पुनरुज्जीवन होता रहा, तो वह देश भारत ही है"।

क्रूइसे जैसे पाश्चात्य विद्वानों का यह अनुमान कि मानव मूलतः वन्य अवस्था से धीरे-धीरे उन्नत होता गया, ठीक नहीं है। मानव का आरम्भ कृतयुग के दैवी, उच्च प्रगत स्तर से हुआ।

उस समय उच्चतम वैज्ञानिक शोधसामग्री तो उपलब्ध थी ही किन्तु वर्तमान युग के वेश्याव्यवसाय, स्त्रियों से होने वाले अन्य सामाजिक दुर्व्यवहार, दुर्बल चारित्र्यहीन समाज, लूटमार आदि दोष प्रकट नहीं हुए थे। वैदिक समाज अविभक्त कुटुम्ब पद्धति और व्यावसायिक संगठनों में बँधा हुआ रहता था। वर्तमान समय में वह इतना टूट-फूट रहा है कि पति-पत्नी और बच्चे तक एक-दूसरे से बिछुड़ रहे हैं।

वॅडेल (L. A. Waddell) नाम के एक यूरोपीय लेखक का निष्कर्ष है (Phoenician Origin of the Britons, Scots and Anglo-Saxons ग्रन्थ की भूमिका लिखते हुए पृष्ठ १० पर कहा है), "प्राचीन सभ्यताओं में जो समानता दीखती है उसका रहस्य समझ में नहीं आता था। अब पता लगता है कि वह किसी उन्नत सभ्यता के अंग-प्रत्यंग रहे और विश्व में फैले। वह उन्नत लोग आर्य कहलाते थे। उन्हीं का एक भाग फिनीशियन्स (यानी पणि या फणि) लोग सागर पारकर सर्वत्र जा बसे।

आर्य धर्म था, जाति नहीं थी। उस दृष्टि से आर्यों के विश्वप्रसार का वॅडेल का सिद्धान्त सही है।

एच० एच० विलसन (H. H. Wilson) (एक पाश्चात्य विद्वान्) ने ऑक्सफोर्ड में प्रकाशित विष्णु पुराण के संस्करण की भूमिका लिखते हुए (पृष्ठ C ii पर) लिखा है, "संस्कृत भाषा के गुणविशेष विश्वभर की भाषाओं में पाए जाने के कारण उन सबका प्रसार उस एक केन्द्र-स्थान से हुआ होगा जहाँ मानव आरम्भ में बसता था"।

The Teaching of the Vedas ग्रन्थ के पृष्ठ २३१ पर फादर फिलिप्स (Father Philips) ने लिखा है, "बाइबिल के पूर्वभाग (Old Testament) का इतिहास और कालक्रम के बारे में जो आधुनिकतम संशोधन हुआ है उससे हम यह कह सकते हैं कि ऋग्वेद प्राचीनतम ग्रन्थ है। केवल आर्यों का ही नहीं अपितु सारे मानवों का। अतः यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि वैदिक आर्यों के उच्च और श्रेष्ठ सिद्धान्त प्रारम्भिक दैवी आविष्कार द्वारा ही ज्ञात कराए गए थे।"

फादर फिलिप्स का निष्कर्ष स्थूल रूप से तो ठीक है। किन्तु ऋग्वेद कोई एक अकेला ग्रन्थ नहीं है। चारों वेद एक साथ ही प्रकट हुए, न कि

अलग-अलग समय पर।

उसी प्रकार 'आर्य' एक जाति नहीं थी। वह मानव की मूलतम देवदत्त जीवन-प्रणाली है।

ईसाई और इस्लामी लोग अपने आपको किताबिया (यानी बाइबिल या कुरान जैसे एक विशिष्ट धर्मग्रन्थ के अनुयायी) कहते हैं। यह उनका दावा ठीक नहीं है। वेद, झेंद अवेस्ता आदि भी तो धर्मग्रन्थ ही हैं। अतः किताबियां तो सभी हैं। अन्तर इतना ही है कि ईसाई और इस्लामी कहलाने वालों ने अपना मूल दैवी ग्रन्थ 'वेद' से नाता तोड़कर कृत्रिम मानवलिखित ग्रन्थ को अपनाया।

२५

प्राचीन विश्व में भारत की ख्याति

भारत ही विश्वप्रसृत वैदिक सभ्यता का केन्द्रस्थान रहा है। बटवृक्ष जैसे उसकी कई मूल शाखाओं से लटकते-लटकते नये-नये प्रदेशों की भूमि में प्रवेश कर इस धर्मवृक्ष का विस्तार और छत्रछाया बढ़ाते रहे हैं।

इसके अमरत्व, अखण्डत्व का कोई दैवी रहस्य है। इस्लामी और ईसाई आक्रामकों ने उस सनातन वैदिक वृक्ष को सातवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक नष्ट करने के लगातार यत्न जारी रखे किन्तु वे सारे असफल हुए।

एक मुसलमान कवि मौलाना अल्ताफ हुसेन अली ने उस रहस्य को पहचानते हुए सखेदाश्चर्य प्रकट करते हुए कहा—

वो दीने हजाजी का बेबाक बेड़ा।
निशां जिसका अक्साए आलम में पहुँचा।
न कुलसम में झिझका न सेहों में अटका।
मुकाबिल हुआ कोई खतरा न जिसको।
किए पैसं पर जिसने सातों समन्दर।
वो डूबा दहाने में गंगा के आकर।

कवि कहता है कि "इस्लाम की सेना से लदी नौकाएं बड़े गर्व से इस्लाम का विजयी ध्वज लहराते हुए सातों समुद्र पार करती गईं। कितने ही कड़े विरोधों पर और कठिन परिस्थितियों पर उन्होंने मात की। किन्तु जब वे गंगा की लपेटों में आईं तो डूबकर नामशेष हो गईं।"

ऐसा है भारत और ऐसा है हिन्दुत्व का गौरव। वैदिक सम्राट् भरत प्रलय के पश्चात् विश्व के सम्राट् हुए तब से सारे विश्व का भारतवर्ष नाम पड़ा। वर्ष शब्द पूरी गोल पृथ्वी का निदर्शक है। आंग्ल शब्द युनिवर्ष (universe) में भी वही संस्कृत शब्द उसी अर्थ से रूढ़ है। बारह मासों का

एक वर्ष जब कहा जाता है तो वहाँ भी 'वर्ष' शब्द पूरे गोल ऋतुचक्र का
द्योतक है। कौरव-पाण्डव उस वैदिक विश्व के अन्तिम सम्राट् थे। महा-
भारतीय युद्ध के अपार जनसंहार से वैदिक विश्वसाम्राज्य के टुकड़े हो
गए और विश्व की गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली भंग हो गई। आयुर्वेद की पढ़ाई
भी बन्द हो गई। चातुर्वर्ण्य धर्माश्रम-व्यवस्था टूट-फूट गई। अतः महा-
भारतीय युद्ध के पश्चात् उस वैदिक विश्वसाम्राज्य की सीमाएँ सुकुड़ते-
सुकुड़ते वर्तमान हिन्दुस्थान के कुछ हिस्से में ही वह विद्यमान है। इस प्रकार
पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के महाभारतकाल से विद्यमान लघुभारत तक का
सुसंगत, अखण्ड, व्यवस्थित इतिहास प्रस्तुत करनेवाला यह प्रायः पहला ही
ग्रन्थ होगा।

एक समय सारे सप्तखण्ड पृथ्वी में वैदिक साम्राज्य था। तत्पश्चात्
अफ्रीका में केवल वन्य जीवन ही रहजाने से उस खण्ड से वैदिक संस्कृति का
सम्बन्ध टूटा। सन् ३६२ के आसपास रोमन सम्राट् कॉन्स्टण्टाइन के ईसाई
हो जाने पर छह सौ वर्षों में शनैः-शनैः सारा यूरोप ईसाई बनने से उसका
भारत की वैदिक संस्कृति से नाता टूटा। तत्पश्चात् तुर्कस्थान रशिया आदि
देशों से चीन, जापान तक के देश वैदिक संस्कृति अपनाते रहे। इस्लामी
और यूरोपीय आक्रमणों के कारण भारत परतन्त्र होने से शनैः-शनैः उन
देशों का भी वैदिक संस्कृति से नाता टूट गया।

भारत देश का नाम हिन्दुस्थान उर्फ इन्दुस्थान भी अति प्राचीनकाल
से है। यह कहना योग्य नहीं होगा कि यह नाम तिरस्कृत भावना से अरबी
और ईरानियों ने भारत को चिपका दिया है। इस्लामी साहित्य में हिन्दू
और हिन्दुस्थान गौरवपूर्ण शब्द भी रहे हैं।

कई भारतीय विद्वानों का आग्रह है कि इस्लामी गाली सदृश्य प्रयोग
से 'हिन्दुस्थान' और 'हिन्दू' शब्द इतने घृणित हो गए हैं कि हमें वे दोनों
शब्द त्यागकर उनके बदले 'भारत' और 'भारतीय' संज्ञाओं का प्रयोग
करना चाहिए। किन्तु ऐसा करना बुद्धिमानी नहीं होगी। लोग किसी नाम
से चिढ़ाते हैं उसे यदि व्यक्ति त्याग दे तो चिढ़ानेवाला व्यक्ति नए धारण
किए नाम में भी तिरस्कार भर देगा।

नाम कुछ भी हो, वह धारण के व्यक्ति के आचरण के अनुसार उस

नाम की ख्याति या निन्दा होगी। यदि हिन्दू बलवान और शूर हों तो लोग
हिन्दू और हिन्दुस्थान नामों से डरेंगे। यदि हिन्दू शिथिल, बावले, दुर्बल,
अविश्वसनीय आदि प्रतीत हुए तो हिन्दू या हिन्दुस्थान शब्द निन्दाव्यंजक
और उपहासात्मक शब्द बनेंगे। अतः अच्छा तो यह होगा कि हिन्दू स्वार्थ
और कायरता को त्यागकर शत्रुओं पर टूट पड़ना सीखें। इससे अपने आप
हिन्दू और हिन्दुस्थान यह दोनों संज्ञाएँ शत्रु के मन में भी भय और आदर
की पात्र समझी जाएँगी।

इस सम्बन्ध में एक लक्षणिक कथा है। एक व्यक्ति का नाम उसके
माता-पिता ने 'ठण्ठण् पाल' रखा था। बड़ा होने पर उसके साथी उसे
चिढ़ाने लगे। तंग आकर ठण्ठण्पाल दूसरा 'अच्छा' नाम चुनने के लिए
घर से निकल पड़ा। जाते-जाते उसने एक अंत्ययात्रा देखी। मृतक का नाम
पूछा तो वह निकला 'अमरनाथ'। ठण्ठण्पाल सोच में पड़ गया कि जब
मरना अटल था तो 'अमरनाथ' नाम कितना अटपटा सिद्ध होता है। आगे
चला तो एक भिखारी सामने आया। उसका नाम पूछा तो वह था कुबेर।
यहाँ भी नाम और दैवगति सुसंगत नहीं दिखी। और आगे जाने पर एक
दरिद्र महिला जंगल में सूखी टहनियों का ईंधन जमा करती दिखाई दी।
नाम पूछने पर पता लगा कि उसका नाम था लक्ष्मी। लक्ष्मी बेचारी ईंधन
भी खरीद नहीं सकती थी। यह सब देखकर बेचारे ठण्ठण्पाल ने निर्णय
लिया कि जो नाम उसे माता-पिता ने दिया है वही ठीक है। किसी के
चिढ़ाने से नाम पटककर भाग पड़ना कोई बहादुरी थोड़ी ही है। अच्छा तो
यह है कि शत्रु के मन में उसी नाम की दहशत और उसी के प्रति आदर
निर्माण हो ऐसा कार्य करे।

सिन्धु शब्द का उच्चारण हिन्दू करना केवल मुसलमानी प्रथा नहीं
है। और कई प्रदेशों में 'स' का उच्चारण 'ह' में किया जाता है। आंग्ल
भाषा में ही देखें। मूल शब्द Demisphere होते हुए भी उसे वे
hemisphere बोलते हैं और लिखते हैं। सप्ताह शब्द का हप्ता उच्चार
होता है।

भारत ही के सौराष्ट्र प्रदेश के सारे हिन्दू लोग 'समझा' के जाए
'हमझा', साढ़ेसात का हाडाहाथ, सत्यानन्द का हत्यानन्द, सोमनाथ का

होमनाथ आदि उच्चारण करते रहते हैं। इन सब उदाहरणों से विश्व में 'स' और 'ह' के उच्चार एक-दूसरे में बदल जाते हैं।

हिन्दू और सिन्धु उच्चार लाखों वर्ष प्राचीन होते हुए यदि गत ७००-८०० वर्षों में कुछ पराए आक्रामकों ने यदि उस शब्द को घृणात्मक अर्थ चिपका दिया हो तो उससे घबराकर उस नाम को त्याग देना ठीक नहीं है। हिन्दुओं का देश जीतकर, सम्पत्ति लूटकर मुसलमान आक्रामक जब से हिन्दू लोगों पर अत्याचार करने लगे तब से हिन्दू शब्द कलंकित हो जाना स्वाभाविक ही था। परिस्थिति के अनुसार एक ही नाम किसी समय आदरणीय तो कभी तिरस्करणीय होता ही रहता है।

जो इस भ्रम में हों कि हिन्दू शब्द मुसलमानों में घृणित है उन्हें हम उसके विपरीत प्रमाण बतलाना चाहते हैं। उदाहरणार्थ इस्लामी कहावत है हिन्दुस्थान जन्नते निशां यानी हिन्दुस्थान तो स्वर्गसमान देश है।

मुसलमान लोग चार नदियों का बड़े आदर से उल्लेख करते हैं—ईजिप्त की नाईल (नील), इराक की फरात, तुर्कस्थान की जेहु और भारत की सेहु (यानी सिंधु)।

अरब लोगों की धारणा है कि प्रथम मानव बाबा आदम स्वर्ग से भारत में ही उतरा था। हमारी वैदिक परम्परा भी तो यही कहती है।

एक अरब लेखक जाहीज ने निजी टिप्पणियों में भारत के बड़े गौरव-पूर्ण उल्लेख किए हैं। उस लेखक का पूरा नाम था—उमर बिन बहर बिन महमूद अबु उस्मान।

दूसरे एक अरब लेखक इब्न-ए-फिक्या हिमभानी ने लिखा है कि ईश्वर (अल्लाह) की कृपा से भारत में सुगन्धी पौधे हैं, हीरे, अन्य जवाहरात, गेंडे, हाथी, मयूर और कई अन्य प्यारे-प्यारे प्राणी हैं। उस उल्लेख में उस लेखक ने 'सिंध' नाम सिंधु नदी के मुख के परिसर के प्रदेश को लगाया है। शेष भारत को वह 'हिन्द' कहता है। दोनों में से किसी में भी उसने भारत के प्रति ज़रा-सा भी अनादर व्यक्त नहीं किया है।

इब्राहीम अबु अनाजिल उर्फ सिन्धबाद सागरयात्री (Sindbad the Sailor) की जो कथाएं प्रसिद्ध हैं वह एक प्राचीन सिन्धप्रान्त के हिन्दू वैद्य थे। प्राचीन विश्व में वे एक जानेमाने हिन्दू वैद्य थे जिन्हें रोगचिकित्सा के

लिए विश्व के अनेक देशों से निमन्त्रण आता रहता था। अतः उन्हें बार-बार सागरपार यात्रा करनी पड़ती थी।

दूसरे एक अरबी लेखक, मसौदी ने भारत की प्रशंसा करते-करते भारत के बुद्धिमान् हाथियों की भी तारीफ की है। उसने लिखा है कि एक हाथी का पालनहार महावत मृत हो जाने पर हाथी ने आंसू बहाए और आहार लेना बन्द कर दिया।

दूसरी एक विचित्र घटना उसने लिखी है। एक दिन किसी नगर के हाथीखाने से निकला हाथियों का एक झुण्ड डोलते-डोलते एक सुकड़ी गली में से एक कतार में एक के पीछे एक चल पड़ा। किसी मोड़ पर एक महिला अपने ही विचारों में मग्न-सी घर से निकली थी। सुकड़ी गलियों के नुक्कड़ पर जब एक विशालकाय हाथी यकायक उस महिला के सम्मुख एक काली चट्टान की तरह दिखाई दिया तो वह एकदम हड़बड़ाकर मूर्छित हो गली में ही गिर पड़ी। उसे देख वह हाथी भी रुक गया। हाथीके आगे एक महिला का अचेतन शरीर भूमि पर फैला पड़ा था। साड़ी का पल्लू महिला के वक्षस्थल से ढल गया था। हाथी पीछे मुड़ा और सूंड ऊपर उठाये हुए कतार में आनेवाले अपने साथियों को उसने इशारा किया कि "भाइयो उतावली मत करना आगे मार्ग में रुकावट है अतः ज़रा रुक जाओ।" और क्या आश्चर्य सारी कतार रुक गई। अगले हाथी ने फिर सूझ-बूझ वाले प्रौढ़ मानव की तरह अपनी सूंड से उस महिला का ढला पल्लू वक्षस्थल पर फैला दिया। तब तक वह मूर्छित महिला सचेत हो गई। वह उठकर गली की दीवार से सटकर खड़ी हो गई। तब रुकावट दूर होने की सूचना अपने साथियों को देने हेतु अगले हाथी ने चीत्कार किया और वह स्वयं झट आगे चल पड़ा। उसके पीछे-पीछे बाकी हाथी भी एक-एक करके सब निकल गए।

ऊपर कही घटना का वर्णन कम-से-कम तीन स्थानों में मिलेगा—(१) पृष्ठ ३, अरब और हिन्द के तालुकात, लेखक सुलेमान नदवी, (२) सन् १९६१ के जुलाई से नवम्बर तक के उर्दू मासिक बुर्हान में अबुल नस्र अहमद खल्दी का लेख, (३) उर्दू पुस्तक खण्ड १, पृष्ठ १६० से १६३ 'हिन्दुस्थान अरबों की नजरों में'।

मक्का नगर के एक अरबी निवासी माथिर बिन ताहिर मुकदसी ने लिखा है(पृष्ठ २४७, २७६ और ३७६ से ३६४ हिन्दुस्थान अरबों की नजरों में)कि जिन्हें बलात् मुसलमान बनाया जाता था उन्हें देवल स्मृति के आधार पर (प्रायश्चित विधि द्वारा) फिर शुद्ध करवा लिया जाता था। इतिहास से ऐसे सबक सीखकर हिन्दुजाति शीघ्रातिशीघ्र भारत के सारे मुसलमान और ईसाइयों को आग्रह से, प्रेम से बार-बार हिन्दूधर्म में वापस बुलवाकर हिन्दू करा लेना आवश्यक है। समाज को दुर्बल करने वाले ऐसे विविध कारण ढूंढकर उन्हें परिस्थिति पर मात करने से ही इतिहास पढ़ने का उद्देश्य सार्थक होता है।

मक्का निवासी दूसरे एक अरब विशारी मुकदसी ने लिखा है कि सिंधु का शासन और न्यायव्यवस्था बड़ी तत्पर, सरल और पूर्ण समाधान करने वाली होती थी। मदिरा और स्त्रीलंपटता का कहीं नामोंनिशान नहीं था।

स्पेन देश में जिसका जन्म हुआ था ऐसे एक अरबी काभी सईद अदलसी ने लिखा है कि सिन्धी लोग गणित में बड़े प्रवीण हैं। अरब लोग भारतीयों से ही गणित सीखे।

याकूबी नाम के एक अरबी इतिहासकार ने लिखा है कि एक हिन्दू राजा ने बाबिलोनिया और इजराइलों को दण्डित करने के लिए उनके ऊपर चढ़ाई की थी।

हिन्दुओं की वर्तमान धारणा यह है कि हिन्दुओं ने अपने सीमा पार शत्रुओं पर कभी चढ़ाई नहीं की बल्कि घर बैठे पराए शत्रुओं के कई हमले सहन किए। वह धारणा सही नहीं है—हिन्दुओं ने वैदिक धर्म के प्रसार के लिए विश्व दिग्विजय किया था। अतः हिन्दुओं के उस विश्वविजयी इतिहास की खोज की जानी चाहिए। याकूबी जैसे कई प्राचीन अन्य देश-वासी इतिहासकारों के ग्रन्थों के उल्लेख से हिन्दू-विजयों की गाथा बना लेनी चाहिए।

रशिया में श्याम सागर (Black Sea) के तट पर के एक नगर का नाम सिन्धु है जो मूलतः संस्कृत 'सिन्धु' शब्द है।

चीनी यात्रियों के ग्रन्थों में सिन्धु नदी का उल्लेख 'शितो', 'शितु' या 'शितुहो' नाम से हुआ है। जापानी लोग सिन्धु उर्फ हिन्दु प्रणाली का उच्चार 'शिटो' करते हैं।

भारतीयों को अरब लेखक हिन्दू कहा करते थे क्योंकि उस समय भारतनिवासी सारे हिन्दू होते थे।

फ्रेंच लोग भी भारतीयों को हिन्दू ही कहते हैं।

मोलसवर्थ साहब द्वारा लिखे मराठी-आंग्ल शब्दकोश में उल्लेख है कि ईरान के लोग 'हिन्दू' शब्द से (गोरकाय छोड़कर) श्याम व अन्य वर्णी लोगों का उल्लेख करते हैं। ईरानी शब्दकोश में 'हिन्दू' शब्द का अर्थ श्याम-वर्णी या चोर या तिल भी होता है। किन्तु ईरानी लोग बलात् मुसलमान बनाए जाने के बाद का वह उल्लेख है। ईरानी मुसलमान इस्लामी सिखलाई के कारण ही हिन्दू शब्द का घृणापूर्ण उल्लेख करने लगे। महम्मदपूर्व काल में ईरानी लोगों को हिन्दुओं के प्रति बड़ा आदर था।

अरबी शब्दकोश में तो हिन्दू शब्द के बड़े अच्छे अर्थ दिए हुए हैं। सेवाये नाम के कवि ने लिखा है—

दो सुन्दरियों ने मुझे स्तम्भित किया।
पहली थी हिन्द और दूसरी खलीदा।

इस देश के 'भारत और हिन्दुस्थान' उर्फ 'इण्डिया' ऐसे जो दो नाम हैं उनकी और भी उपपत्तियां हैं। 'भा—रत' यानी सूर्य की दैवी आभा के ध्यान में रत रहने वाला देश। क्योंकि हमारे देश में गायत्री मन्त्र की बड़ी महत्ता है इसलिए 'इन्दिय' यानि चन्द्र के समान।

हिन्दू शब्द 'इन्दु' (यानी 'चन्द्रमा') से बना और इण्डिया (India) उसी का यूरोपीय उच्चार है।

चीनी यात्री हुएन्त्संग ने लिखा है "तिएन्च्यू (भारत) के कई नाम हैं। प्राचीनकाल में भारत को 'शितु' और 'हिनाऊ' कहते थे। किन्तु उसका सही उच्चार 'इन्दु' है। उस देश के निवासी निजी देश का उल्लेख कई प्रकार से करते हैं। चीनी भाषा में 'चन्द्रमा' के कई नाम हैं जिसमें एक 'इन्तु' (इन्दु) है। उस नाम के प्रति बड़ा आदरभाव है। उस देश का नाम इन्दु इसलिए है कि उस देश के विद्वानों ने अपने शीतल, धवल ज्ञानप्रकाश से चन्द्रमा जैसे ही सारे विश्व को उजागर किया"। (Samual Beal का किया हुएन्त्संग की यात्राकथा का अनुवाद।)

आधुनिक भारत के जो विद्यार्थी चीनी-सभ्यता और भाषा का विशेष
अध्ययन करते हैं उनकी एक ऐसी धारणा बन जाती है कि चीनी भाषा के
विशिष्ट "टिंग-लिंग-तुंग" आदि उच्चार पद्धति के कारण उस देश की
सभ्यता और भाषा भारत से पूर्णतया भिन्न है। हमारा उनके लिए यह
सुझाव है कि वे उस भ्रम की लपेट में न आएँ। जैसा कि इस ग्रन्थ में कहा
है प्राचीनकाल में सारे जनों की सभ्यता वैदिक और भाषा संस्कृत ही थी।
महाभारतीय युद्ध के पश्चात् चीनी लोगों ने अपने उच्चार धीरे-धीरे बदले।
बदलते-बदलते उनके उच्चार इतने बिगड़ गए कि अब वे पूर्णतया भिन्न
लगते हैं। तथापि वर्तमान उच्चार को भूलकर यदि वे चीनी भाषा के मूल
शब्दों की व्युत्पत्ति ढूंढ़ें तो वह संस्कृत ही मिलेगी। जैसे 'इन्दु' (यानी
चन्द्रमा) शब्द उनमें है, किन्तु उसे वे 'इन्तु' कहते हैं।

सिन्धु शब्द का ही अपभ्रंश हिन्दू हुआ यह सामान्य धारणा गलत हो
सकती है क्योंकि यदि वैसा होता तो सिन्ध प्रान्त का ही 'हिन्द' नाम पड़ता।
महाभारत में भी उस प्रान्त का उल्लेख 'सिन्धु सौवीर' नाम से है।

अलबरूनी के ग्रन्थ से भी स्पष्ट हो जाता है कि सिन्धु और हिन्दू दो
अलग उच्चार हैं। अलबरूनी ने लिखा है कि उसके प्रदेश से "सिन्ध में जाने
के लिए हिमरोज उर्फ सिजिस्थान से होकर जाना पड़ता है किन्तु यदि
हिन्द में पहुँचना हो तो काबुल होकर जाना पड़ता है।" (पृष्ठ १९८, खण्ड
१, Edward Sachau द्वारा अनूदित Al Beruni's India)।

भारत की वायव्य सीमापर जो हिन्दूकुश पर्वतश्रेणी है, उससे कुछ
व्यक्ति कल्पना कर लेते हैं कि वहाँ बड़ी मात्रा में हिन्दुओं का कत्ल होता
रहा अतः उन पहाड़ियों का हिन्दुकुश नाम पड़ा। मुसलमानों के लगाए यह
सारे दूषण भारत को चुभ रहे हैं। यह कई विद्वानों की शंका निराधार है।
इस्लाम का पूरा इतिहास ही १४०० वर्षों का है। किन्तु भारत के जलस्थल
के नाम तो इस्लाम से कहीं प्राचीन हैं। अतः उन नामों को इस्लामी गाली
प्रदान से दूषित नहीं समझना चाहिए। 'कुश' तो एक प्रकार की घास होती
है। हो सकता है उस घास का नाम 'इन्दु कुश' रहा हो जिसका आधुनिक
उच्चारण 'हिन्दुकुश' हो गया हो। भारत की तो सारा विश्व प्रशंसा ही
करता आ रहा है। उस बीच यदि कुछ मुसलमान शत्रुओं ने कभी
भारत के नाम पर कुछ कीचड़ उछाला भी हो तो उससे विचलित होना
सर्वथा अयोग्य है।

२९

वैदिक सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था

वैदिक समाज के चार अंग थे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। एक
तरह से यह आड़ा विभाजन कहा जा सकता है। दूसरा था खड़ा विभाजन
जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के जीवनकाल को चार हिस्सों में बाँटा गया था—
ब्रह्मचर्य, गृहस्थजीवन, संन्यास और वानप्रस्थाश्रम।

ब्राह्मण से लेकर शूद्र तक प्रत्येक विभाग को अधिकाधिक घटिया माना
जाता था। यह प्रचलित धारणा सही नहीं है। वैदिक समाज में चारों वर्गों
का महत्त्व समान था। उदाहरणार्थ क्षत्रिय राजा, दरबारी आदि ब्राह्मण
से कम सम्मान नहीं पाते थे। आदर्श वैदिक ब्राह्मण 'अपरिग्रह' बरतते
हुए सारा दिन, सारा जीवन, निःशुल्क ज्ञानसंपादन और समाजसेवा में लगा
रहता था। इससे प्रभावित होकर समाज में उसकी यदि मान-प्रतिष्ठा होती
थी तो यह उसके गुणों के कारण थी। लोगों पर ऐसा कोई दबाव नहीं था
कि वे ब्राह्मणों का सम्मान करते रहें और शूद्रों को लड़ाते रहें। ब्राह्मण की
तनिक कटु आलोचना से राजा यदि गद्दी से उतर जाता था तो वह इसलिए
कि ब्राह्मण के त्यागी और परोपकारी जीवन के कारण ब्राह्मण की वाणी में
सात्विक दैवी शक्ति थी। तथापि चारों वर्गों का मानवी मूल्य और
सामाजिक महत्त्व समान था। किसी भी वर्ग को दूसरे किसी वर्ग से घटिया
नहीं समझा जाता था। प्रत्येक वर्ग के सामाजिक कर्तव्य अलग-अलग थे।
ब्राह्मण को एक कौड़ी की भी सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं था। क्षत्रिय
शासक और वैश्य लोगों को समाज से कर या लाभ के रूप में स्मृति ग्रन्थों
द्वारा निश्चित प्रमाण में द्रव्य-प्राप्ति होती थी। शूद्र लोग शारीरिक भाग-
दौड़ और मेहनत के कार्य करते थे। साहूकारी का धन्धा शूद्र ही करते थे।
अतः शूद्रों की आर्थिक स्थिति प्राचीन वैदिक समाज में अच्छी होती थी।
तथापि किसी भी व्यक्ति के पास अपार सम्पत्ति कभी इकट्ठी न हो पाए

प्रत्येक व्यक्ति के मन में भर दी
इस हेतु सतत दान करते रहने की भावना प्रत्येक व्यक्ति के मन में भर दी
जाती थी। अतः प्रत्येक गृहस्थ घर में जन्म, व्रतबन्ध, विवाह, त्यौहार,
जन्मोत्सव, षष्ट्यब्दपूर्ति, मृत्यु आदि महत्त्वपूर्ण प्रसंगों पर सतत दान दिया
करता था, अतिथि अभ्यागतों का स्वागत और मान-सम्मान किया करता
था, तुलादान किया करता। राजा लोग प्रति वर्ष पांच वर्ष के पश्चात् निजी
सम्पत्ति सत्पात्र लोगों को बाँट देते थे। शूद्र भी इसी प्रकार स्वसम्पत्ति का
समय-समय पर दान दिया करते थे। छुआछूत और दरिद्रता यह दो कठि-
नाइयाँ शूद्रों के पल्ले तब से पड़ीं जब से भारत इस्लामी आक्रामकों की लूट-
पाट का शिकार होता चला गया। क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तो
इस्लामी आक्रमणों की भीषण परिस्थिति में भी किसी तरह से अपना जीवन
चला लेते थे, लेकिन शूद्रों के पास सिवाय शारीरिक मेहनत के और कोई
विशेष कुशलता न होने के कारण उनका सामाजिक स्तर एकदम नीचे गिर
गया।

अतः शूद्रों की वर्तमान दयनीय अवस्था ऐतिहासिक उथल-पुथल से हुई। इस सम्बन्ध में और एक भ्रम से बचने की आवश्यकता है। जन-साधारण क्षुद्र और शूद्र शब्दों के अर्थों की अनजाने मिलावट कर देते हैं। क्षुद्र शब्द का अर्थ तो 'नगण्य' होता है किन्तु 'शूद्र' शब्द का अर्थ वैसा नहीं है। राम को युवराज बनाने की जब तैयारियाँ अयोध्या में चल रही थीं तो उस समारोह में चारों वर्णों के लोगों को निमन्त्रण था।

ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, पेट से वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए यह जो पुराणों में व्युत्पत्ति दी गई है उसमें भी शब्दों की अवहेलना का भाव नहीं है। वैसे देखा जाए तो मुख से ही कफ थूक आदि अधिक-से-अधिक गन्दगी निकलती है। पैरों से तो केवल घर्म और कुछ धूल निकलती है। ब्रह्मा के विविध अवयवों से उन चार वर्णों का नाता जोड़ने का उद्देश्य उनके विविध कर्त्तव्यों का निर्देश करना था। किसी वर्ण का उच्च-नीच स्थान बतलाने का हेतु उसमें नहीं था।

पाश्चात्य लेखकों ने एक बड़ा अन्याय करके ऊपर कहे भ्रम को बढ़ावा दिया है। उन्होंने निजी ग्रन्थों और लेखों द्वारा भारतीय हिन्दू वैदिक समाज-प्रणाली को ब्राह्मणी धर्म (Brahminical) या ब्राह्मणी व्यवस्था

कहा है जो सरासर झूठ और गलत है।

उनकी वह नासमझी या अन्याय स्पष्ट करने के लिए हम एक उदाहरण देते हैं। प्रचलित पाश्चात्य विद्या-प्रणाली में जो विद्यार्थी बचपन से लगन से अध्ययन कर अच्छे गुण कमाकर विविध परीक्षाओं में उच्च श्रेणी में उत्तीर्ण होते हैं उन्हीं को प्रौढ़ जीवन में प्राध्यापक (प्रोफेसर), विभाग-प्रमुख (Head of the Department, Vice chancellor) आदि पद मिलते हैं। उन्हीं की निगरानी में सारी शिक्षा-व्यवस्था चलती है। तो क्या हम ऐसी शिक्षा-प्रणाली को ऐसे दूषण लगा सकते हैं कि "वह तो कुछ गिने-चुने प्रोफेसरों की तानाशाही है, उन्होंने सब को अपने अधिकारों में दबा रखा है"? इसी प्रकार 'जन्मना जायते शूद्रः। संस्कारात द्विज उच्यते' इस उक्ति के अनुसार ब्राह्मण उसे कहा जाता था जो अपने त्याग, दान, तप और सदाचरण से समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त कर लेता था। ऐसी अवस्था में समाज की सुव्यवस्था की निगरानी का कार्य ब्राह्मणों द्वारा होना अनिवार्य था। समाज के अन्य व्यक्तियों से ब्राह्मण कोई भिन्न नहीं था। शूद्र अवस्था से जीवन का आरम्भ करके अपने गुणों से ब्राह्मण पद पर पहुँचने की सहूलियत हर एक व्यक्ति को होती थी। ब्राह्मण पद पाना और टिकाना कोई बच्चों का खेल या फूलों की शय्या जैसा सरल या सुखासीन पद नहीं था। सारा जीवन अत्युच्च ज्ञान-संपादन करना और त्यागी जीवन बसर करना असिधाराव्रत जैसा कठिन था।

जाति-प्रथा जन्मजात है या कर्मानुसार?

भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है कि चातुर्वर्ण गुण और कर्मों के अनुसार बने हैं। मनुस्मृति भी कहती है कि जन्मतः प्रत्येक व्यक्ति शूद्र ही होता है। संस्कारों द्वारा वह वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण बन सकता है। तथापि प्रत्यक्ष में तो वर्तमान दैनन्दिन जीवन में जातियाँ जन्मजात ही दिखाई देती हैं। उस विरोधाभास को कैसे सुलझाया जा सकता है? देखने में तो समस्या बड़ी जटिल दीखती है। तथापि वैदिक संस्कृत के विश्वप्रसार के इस सुसंगत इतिहास में ऐसी कई समस्याओं के उत्तर सरलता से मिल जाते हैं।

बनाई गई है। जन्मजात
वैसे तो वर्ण-व्यवस्था गुण और कर्मानुसार ही बनाई गई है। जन्मजात
कर्तव्यों को करते-करते यदि कोई यह अनुभव करे कि वह निजी गुण और
कर्मानुसार और किसी वर्ण में (कुम्हार, चमार आदि बनकर) समाजसेवा
अधिक प्रकार से कर सकता है तो उसका उस दूसरे वर्ण में स्वागत ही
होता था। जैसे महाराष्ट्र के शासक पेशवा जन्म से ब्राह्मण होते हुए भी
व्यवसाय से क्षत्रिय बन गए थे। चित्तौड़ का सिसोदिया कुल भी मूलतः
ब्राह्मण होते हुए बाद में व्यवसाय से क्षत्रिय बन गया था।

किन्तु केवल अधिक आर्थिक लाभ कमाने के उद्देश्य से या क्रोध, असूया
आदि भावना से, किसी का अपमान कराने के लिए या किसी को नीचा
दिखलाने के हेतु निजी वर्ण या व्यवसाय छोड़ने पर अवश्य प्रतिबन्ध था।
क्योंकि एक व्यक्ति के स्वार्थ हेतु के कारण सारे समाज का आर्थिक संतु-
लन बिगाड़ना वैदिक संस्कृति को मान्य नहीं है। अतः वैदिक समाज एक
तरह से जन्मजात है भी और नहीं भी। निःस्वार्थ, त्यागी और अधिक सेवा
हेतु वर्ण बदलना अवश्य अच्छा समझा जाता था। किन्तु कुटिल, स्वार्थी,
छद्मी या दुष्ट हेतु से वर्ण बदलने पर पूरा प्रतिबन्ध था। और जब ऐसे
मतलबी हेतु से वर्ण बदलने पर प्रतिबन्ध था तो क्वचित् एकाध व्यक्ति
ही समाज की अधिक कारगर सेवा के हेतु निजी कर्म और गुणों के अनुसार
वर्ण परिवर्तन करते थे।

श्रेष्ठतम वर्ण से अत्यधिक त्याग और संयम की अपेक्षा

वैदिक संस्कृति ने शूद्र अवस्था से ही मानव पर संस्कारों को डालते-
डालते उसको इतना उन्नत किया था कि वह शारीरीक भोग, क्रोध आदि
दुर्गुण और आर्थिक लाभ के प्रलोभनों को दूर रखकर केवल मानवी सेवा
में निजी कर्तव्य पूर्ति समझे। यह ध्येय साध्य होने पर मनुस्मृति में लिखा
गया कि—

> "एतद्देशप्रसूतस्य सकाशात् अग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः।"

यानी इस प्रदेश के ब्राह्मणों को आदर्श समझकर विश्व भर के अन्य लोग
उन ब्राह्मणों के आचरण का अनुकरण करें।

क्योंकि ब्राह्मण अत्युच्च कौशल और श्रेष्ठतम आचरण का स्तर प्राप्त करने के पश्चात् भी समाज की निष्काम सेवा करने में ही अपना जीवन व्यतीत करता था इसीलिए आज तक ब्राह्मण शब्द से जनता के मन में आदर-भाव जागृत होता है यद्यपि ब्राह्मणों को (और बाकियों को भी) निजी आदर्श त्यागे हुए हजारों वर्ष बीत चुके हैं।

ब्राह्मण का दैनन्दिन कार्यक्रम

प्रतिदिन प्रातः सूर्योदय से दो-तीन घण्टे पूर्व उठना, प्रातर्विधि, स्नान, सूर्यनमस्कार, अन्य योगासन, स्वाध्याय और गोदुग्धपान—यह आदर्श आचरण वैदिक संस्कृति में ब्राह्मणों से लेकर शूद्र तक सब को विहित था। केवल तत्पश्चात् के कर्तव्य प्रत्येक वर्ण के और व्यक्ति के अलग-अलग थे। घर-गृहस्थी की देखभाल स्त्रियाँ करती थीं कुटुम्ब के प्रौढ़ स्त्री-पुरुष महिलाओं को लिखाई-पढ़ाई की शिक्षा घर में ही दिया करते थे। बच्चे गुरुकुल में पढ़ते थे। ब्राह्मण शिक्षा, न्याय, ज्योतिष, वैद्यक, समाज व्यवस्था आदि का कार्य करते थे, क्षत्रिय लोग शासन, सुरक्षा, सेना-संगठन आदि संभालते, वैश्य लोग खेती, व्यापार आदि देखते और शूद्र लोग साहूकारी और शारीरिक, यांत्रिक व्यवसाय करते।

इस व्यवस्था से समाज में शांतता और सुरक्षा बनी रहती थी। घर-घर में पीढ़ियों से एक ही व्यवसाय चलने के कारण कुशलता बढ़ती रहती थी। आर्थिक लाभ बढ़ाने का लोभ वैदिक शिक्षा आदर्शों के कारण किसी के मन में जागता ही नहीं था। सारे व्यवसाय जन्मजात होने के कारण उनमें ऐरे-गैरे व्यक्तियों का हस्तक्षेप, स्पर्द्धा और भगदड़ मचती नहीं थी। अतः समाज से अत्यधिक द्रव्य बटोरकर व्यक्तिगत खजाना बढ़ाने की होड़ व्यापारियों में या व्यवसायियों में होती नहीं थी। इससे वस्तुओं के भावों पर नियंत्रण होता था। प्रत्येक वस्तु पर लगभग प्रतिशत छह रुपये से अधिक मुनाफा लेना, वस्तुओं में मिलावट करना या घटिया वस्तु अच्छे के दाम पर बेचना आदि घोर पाप समझकर कोई करता ही नहीं था।

क्षत्रियों का कर्त्तव्य

जनता को क्षति से बचाने के लिए निजी जीवन या सुरक्षा की चिन्ता न करने वाला क्षत्रिय कहलाता था। इनके आचरण के स्तर उच्चकोटि के होते थे। जैसे पीठ पर शत्रु का वार लगना कायरता का द्योतक समझा जाता था। राज्याभिषेक होते ही निजी सेनानियों के साथ राजा किसी शत्रु पर चढ़ाई कर देता था। कोई शत्रु न हो तो शिकार आयोजित करता था। उद्देश्य यह था कि ऐसे संघर्ष में प्रत्येक व्यक्ति की वीरता, साहस, स्वामि-निष्ठा, बुद्धिमानी आदि गुण अजमाए जा सकें। किसी न्याय ध्येय के लिए युद्ध लड़ना क्षत्रिय बड़े गौरव और आनन्द का अवसर समझते थे। 'यदृच्छयाचोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्'—मानो जैसे स्वर्ग का द्वार ही स्वागत के लिए अपने-आप खुल गया हो। क्षत्रियों को युद्धनीति और शस्त्रास्त्र-विद्या में प्रवीण होना पड़ता था और देश तथा जनता की रक्षा में प्राणों की भी बाजी लगा देने का साहस करना पड़ता था।

इस्लामी आक्रमणों के समय भारतीय क्षत्रियों के सिखलाई में एक बड़ा दोष दिखाई दिया। अधर्मी इस्लामी आक्रामकों से भी क्षत्रिय राजा और सेनानी धर्मयुद्ध के नियम पालन करते रहे जो मनु, राम, कृष्ण आदि की परम्परा के पूर्णतया विरुद्ध था। धर्मयुद्ध तब होता है जब दोनों वैदिक संस्कृति के अनुयायी हों और वैदिक युद्धनीति के नियम पालन करते हों। भारतीय राजा लोग जब एक-दूसरे पर चढ़ाई किया करते थे तो वे दूर किसी मैदान में जाकर एक-दूसरे का सैनिक बल आजमा लेते थे। प्रजाजनों को उस युद्ध से क्षति नहीं पहुँचती थी। किन्तु इस्लामी शत्रु तो किसी भी नियम का पालन नहीं करता था। सीमा के अन्दर घुसते ही वह गरीब निहत्थे किसानों से लेकर जो भी स्त्री, पुरुष या बच्चा हाथ लगे उस पर अत्याचारों का आतंक मचा देता था। ऐसे संघर्ष में धर्मयुद्ध के नियम पालन करना स्वयं एक अधर्म है। इससे हिन्दुस्थान पर लगातार ६०० वर्ष भीषण अत्याचार करते रहने का अवसर महम्मद बिन कासिम से लेकर अहमदशाह अब्दाली तक के सारे मुसलमानी आक्रामकों को मिला। राक्षस पर विजय पाने के लिए प्रतिराक्षस बनना पड़ता है। यही देव-

दानव संघर्ष की पौराणिक कथाओं का सार है। हिन्दू राजा और सेनानियों को वह तथ्य रटाया जाना चाहिए।

वैश्य

वैश्यों का भी प्रातः दैनन्दिन वैदिक कार्यक्रम वही होता था जो अन्य वर्णों का। तत्पश्चात् वे अपने खेती, व्यापार आदि कारोबार में व्यस्त हो जाते। रात के ९ बजे तक वैदिक परम्परा के सारे लोग सो जाते थे। प्रतिशत ६ रुपये से अधिक लाभ व्यापारी नहीं लिया करते थे। उस सीमित आय से जो धन इकट्ठा हो जाता था वह भी समय-समय पर दान में निर्धन सदाचारी व्यक्तियों को देते रहने की वैश्यों की परम्परा थी।

शूद्र

वर्तमान समय में शूद्र फटे-टूटे कपड़े पहनने वाले, गरीब, गंदे या व्यसनी लोग समझे जाते हैं। इस्लामी आक्रमणों में भारत की और शूद्रों की यह दुर्दशा हुई। वैदिक समाज में तो दिनभर धन-कमाई के विविध व्यवसाय करने वाले शूद्र लोग बड़े धनवान् हुआ करते थे। क्योंकि उनकी कमाई के ऊपर वैदिक परम्परा ने वैसा अंकुश नहीं लगा रखा था जैसे ऊपर के तीन वर्गों के कमाई के ऊपर। वैदिक तत्त्वप्रणाली के अनुसार जिस वर्ग की मानसिक प्रगल्भता जितनी कम होती उसे द्रव्य आदि सुविधाओं की अधिक सहूलियत दी जाती थी। जैसे बच्चों पर वैसे कड़े नियम लागू नहीं किए जाते जो प्रौढ़ व्यक्तियों को पालन करने पड़ते हैं।

वैदिक समाज में उच्चवर्णियों के सामाजिक अपराध पर दण्ड भी अन्यों से अधिक कड़ा लगाया जाता था।

चार आश्रम

प्रत्येक व्यक्ति को यह शिस्त लगाई गई थी कि वह निजी आयु १०० वर्ष की समझकर उसके चार हिस्से करे। प्रथम भाग (लगभग २५ वर्ष तक) वह ज्ञानसम्पादन में बिताए। इससे पता चलता है कि बाल-विवाह की प्रथा प्राचीन नहीं है। हो सकता है कि इस्लामी आक्रमणों के कारण

हिन्दू सामाजिक जीवन ध्वस्त हो जाने से बाल-विवाह की प्रथा पड़ी।

अगले २५ वर्ष व्यक्ति गृहस्थ जीवन बिताए। तत्पश्चात् वह संन्यास लेकर तीर्थयात्रा, पठन-पाठन, समाज-सेवा आदि के लिए घर-बार त्याग दे। इससे घरेलू मतभेद आदि की समस्याएँ खड़ी नहीं होती थीं। तत्पश्चात् वानप्रस्थाश्रम।

इस व्यवस्था में आर्थिक स्पर्द्धा में किसी भी समय कम व्यक्ति रह जाते थे। अतः हड़ताल आदि संघर्ष की परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती थी।

पाश्चात्य प्रणाली में जहाँ कम-से-कम समय में अत्यल्प श्रम से अधिकाधिक धन कमाने की होड़ सारे समाज में लगी रहती है वहीं सिग्मंड फ्रायड और कार्ल मार्क्स जैसे व्यक्तियों के सिद्धान्त पनपते हैं। कामवासना और धन का लालच ही मानव के कृति-स्रोत होते हैं।

शिशु अवस्था में लालन-पालन ठीक न होने से बच्चे जैसे भटककर गुण्डे बन जाते हैं उसी प्रकार यदि समाज में मनमानी प्रवृत्तियाँ बढ़ने दी जाएँ तो कामवासना और सम्पत्ति तथा अधिकार-लालसा से अनाचार-अत्याचार-दुराचार बढ़ते रहते हैं। यही जानकर ऋषि-मुनियों ने वैदिक समाज का गठन ऐसा बना रखा था कि उसमें कुप्रवृत्तियों का निर्माण या वर्धन होता ही नहीं था।

सत्ता, अधिकार, धन आदि की स्पर्द्धा समाज में बढ़ने दी जाए तो वैश्य, क्षत्रिय और ब्राह्मण वर्ग अधिक शिक्षित, जानकार, अनुभवी आदि होने के कारण उनके हाथों अनपढ़ शूद्रों की आर्थिक और सामाजिक दुर्गति होना अनिवार्य है। उससे चिढ़कर शूद्रों द्वारा अन्य तीन अग्रसर वर्णों के विरुद्ध मारपीट करना शुरू करना भी स्वाभाविक है। इस प्रकार आपसी फूट से समाज ध्वस्त होता है। इसी का ध्यान रखकर वैदिक समाज के अन्तर्गत कामवासना, लोभ, अधिकार लालसा आदि घातक प्रवृत्तियों को काबू में रखकर पाप-पुण्य और परोपकार की भावनाओं पर सारे सामाजिक व्यवहार आधारित करने की प्रत्येक व्यक्ति की मानसिक तैयारी कराई जाती थी।

क्या शूद्रों और स्त्रियों को वैदिक शिक्षा का अधिकार नहीं था?

ऐसा एक भ्रम समाज में फैला है कि वेद-पठन स्त्रियों और शूद्रों को मना था। वह धारणा सही नहीं है। वेद तो ज्ञानका भण्डार होने के कारण सबको खुले थे।

किन्तु वेदों को तो विद्वान्-से-विद्वान् व्यक्ति नहीं समझ सकता। क्योंकि उनमें सारे विश्व का उच्चतम तान्त्रिक और वैज्ञानिक ब्योरा सांकेतिक और संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत है। अतः शूद्र, महिलाएँ और अन्य जो भी व्यक्ति वेदपाठी ब्राह्मणों की तरह अहोरात्र, पीढ़ियों से वेदाध्ययन में रत न हों, उन्हें वेदों का अर्थ तो क्या उच्चारण भी ठीक नहीं आएगा। इसलिए उस लोकोक्ति का तात्पर्य यह है कि पढ़ने को तो क्या भले ही कोई भी व्यक्ति किसी भी किताब को उठाकर पढ़ ले किन्तु वेद ऐसे उठाकर पढ़ने से पल्ले कुछ नहीं पड़ेगा। उल्टा यह होगा कि निजी आधे-अधूरे ज्ञान पर भरोसा रखकर कोई व्यक्ति यदि वेदों के शब्दों का ऊटपटांग अर्थ कहने लगा तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा।

महिला गृह-सम्राज्ञी

महिलाओं को वैदिक समाज में गृहलक्ष्मी या गृह-सम्राज्ञी का स्थान दिया गया है। नवविवाहिता वधू जब पति के घर आती है तो उसे पुरोहित कहते हैं 'सम्राज्ञी भव' अर्थात् 'तुम इस घर की सम्राज्ञी बनकर सारा कारोबार चलाओ'। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि वैदिक समाज में वधू प्रौढ़ होती थी और दूसरी बात यह कि घर-बार पर अधिकार चलाने के लिए उसे हर प्रकार की शिक्षा दी जाती थी।

स्त्रियों के संरक्षण की व्यवस्था

स्त्रियों को समाज में यदि निराधार छोड़ा जाए तो उनकी बड़ी दुर्दशा होती है। यह जानकर वैदिक समाज में स्त्रियों की सुरक्षा की पूरी व्यवस्था थी। इसी अर्थ से मनुस्मृति में कहा है कि अविवाहित कन्या का रक्षक पिता होता है, वधू का रक्षक पति और वृद्धा माता का रक्षक पुत्र होता है। अतः किसी भी अवस्था में स्त्री को निराधार नहीं छोड़ना चाहिए। 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' का यही अर्थ है। स्त्री को जकड़ के रखा जाए ऐसा उसका अर्थ नहीं है क्योंकि प्रथम तीन पदों का सन्दर्भ वह नहीं है। किसी भी

वध की स्त्री को आसेष्ट पुरुषों ने ऐसा कभी नहीं कहना चाहिए 'तू अपने
आप जो चाहे कर हमारे ऊपर तेरी कोई जिम्मेदारी नहीं है'। स्त्रियों की
सुरक्षा की जिम्मेदारी पुरुषों के मन में वैदिक समाज ने इतनी पक्की बैठा
दी है कि घर में कन्या यदि अविवाहित हो तो मरणासन्न पिता भी अपने
आपको बड़ा अपराधी समझता है कि कन्या की सुरक्षा और देखभाल किसी
पति के हाथ सौंपने से पूर्व ही वह यह विश्व छोड़कर जा रहा है सो बड़ा
पाप और दुर्भाग्य है।

विवाह के समय कन्यादान की जो विधि होती है उसका अर्थ किसी भिखारी को दान दिया जाता है वैसा नहीं है। वहाँ अर्थ है सोच-बूझकर कन्या की सुरक्षा और जीवन की जिम्मेदारी पति पर सौंपना। जैसे सोना, चाँदी, जवाहरात आदि का जब लेन-देन होता है तो वह माल एक-दो पैसे या कौड़ी की तरह फेंका नहीं जाता। बड़ी गम्भीरता से, सुरक्षा से वह बहुमूल्य वस्तु ताले में रखी जाती है और जिससे ली होती है उसे पावती दी जाती है। कन्यादान में उस नववधू के भविष्य से सुख और सुरक्षा की पावती पिता पति से लेता है। उस समय से उस कन्या का रक्षक पिता के बदले पति होता है। उस जिम्मेदारी के हस्तान्तरण को कन्यादान यानी विधिवत् कन्या देना कहा जाता है। अतः आधुनिक युग में दहेज के लोभ से जिन घरों में नव-वधुओं की हत्याएँ होती हैं वह महत्पाप है। किसी दूसरे की कन्या विवाह के बहाने अपने घर में ले आना और फिर धनप्राप्ति के लालच में उसे गिरवी समझकर उसके पिता से धन माँगते रहना और न पाने पर उस बेचारी, असहाय, कोमल तरुणी को एकान्त में घेरकर उसका छल करना, वध करना या आत्महत्या करने को उसे बाध्य करना कितना निकृष्ट कर्म है?

गर्भवती स्त्रियाँ हरी चूड़ियाँ, हरे वस्त्र पहनती हैं जो सृजन का द्योतक है। उस पहनावे से समाज को सूचित किया जाता था कि उस स्त्री के आहार, आराम आदि का सारे समाज में विशेष ध्यान रखा जाए। इस प्रकार बगैर किसी से कुछ प्रश्न पूछे या कुछ उत्तर दिए ऐसे चिह्नों से प्रत्येक व्यक्ति की विशिष्ट अवस्था जानने-पहचानने की व्यवस्था बड़ी दूरदर्शिता से वैदिक समाज में की गई है। वैदिक समाज एक आदर्श व्यवस्था बनाई

गई थी जिसमें बगैर किसी कोलाहल के सारे व्यवहार, शान्ति, सद्भाव, सौहार्द और ध्येयपूर्ति की दृष्टि से एक अच्छे यन्त्र की तरह चुपचाप चलने की व्यवस्था थी।

विवाहित स्त्रियों में मंगलसूत्र, सिर में सिंदूर आदि सौभाग्य चिह्न धारण करने का उद्देश्य यह था कि कोई उससे विवाह करने की बात न सोचे और सारा समाज उसे उसके पतीत्व का उचित सम्मान दे।

विधवा स्त्री के ललाट का कुमकुम पोंछ डालने का उद्देश्य यह था कि समाज को उसकी अवस्था का अपने-आप पता लगे कि उस स्त्री का विवाह हो चुका था किन्तु अब पति जीवित नहीं है। समाज को इस सूचना से उस महिला के लिए दूसरा पति ढूंढने की या उस स्त्री की सुरक्षा और देखभाल की दूसरी कोई उचित व्यवस्था करने का स्मरण कराया जाता था।

विधवा का मुंह भी नहीं देखना चाहिए ऐसी एक धारणा समाज में कभी-कभी सुनाई देती है। किन्तु उसका अर्थ यह था कि उसे तुरन्त दूसरा पति ढूंढ देना चाहिए ताकि उसे समाज में अकेलापन, नीरसता, असुरक्षा या असुविधा भुगतनी न पड़े।

वैदिक त्यौहार

वैदिक पद्धति के अनुसार सामाजिक और व्यक्तिगत जीवनक्रम दैनन्दिन पचांग के आधार से निश्चित किया जाता है। यह बड़ा वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। अनन्त अन्तरिक्ष के अगणित सूर्यमण्डलों में हमारा एक सूक्ष्म-सा सूर्यमण्डल है। उसमें पृथ्वी एक छोटा-सा ग्रह है। उसमें मानव कीटक-जैसा एक यःकश्चित् प्राणी है। अन्तरिक्ष में चन्द्रमा, नक्षत्र, सूर्य और अन्य ग्रह, इनका जो भ्रमण, सर्पण आदि हो रहा है उसके अनुसार ही मानवी जीवन घटता रहता है। अतः प्रतिदिन अन्तरिक्ष के ज्योतिर्गणों के परिप्रेक्ष्य में मानवी जीवन को ढालने के गणितीय दृष्टिकोण से ही एकादशी, महाशिवरात्रि, प्रदोष, अमावस्या, चातुर्मास आदि ऋतुमान, दिनमान के अनुसार जीवन को योग्य मोड़ देते रहने की वैदिक जीवन-प्रणाली है।

इससे एक बड़ा लाभ यह होता है कि प्रत्येक नए दिन को एक नया

पर्व, एक नया महत्त्व दिए जाने के कारण व्यक्ति, कुटुम्ब और समाज उस दिन के विशिष्ट आचार-व्यवहार, पूजा-पाठ, व्रत आदि में मग्न हो जाता है। इससे जीवन में प्रतिदिन एक नया रंग, नया उत्साह, नया उद्देश्य, एक नया महत्त्व उत्पन्न होकर व्यक्ति को जीवन सूना, नीरस या रूखा नहीं लगता। नित्य नई उमंगों में व्यक्ति के जीवन में भाग-दौड़, खेल-कूद इत्यादि मनोरंजन नया रंग लाते हैं।

सादा प्राकृतिक जीवन

वैदिक जीवन सादा और सस्ता होते हुए अधिकतम आरोग्य और सुख दिलाने वाला होता था।

बाँस और मिट्टी के घर कम खर्चीले होकर शीत या ऊष्म ऋतु में सुखदायी होते हैं। गोबर से लीपे घर स्वच्छ और रोगजन्तु-प्रतिकारक होते हैं।

वर्तमान पाश्चात्य प्रणाली में रासायनिक खाद, जन्तुनाशक रासायनिक मिश्रणों का छिड़काव, बर्तन माँजने के लिए रसायन, रासायनिक दन्तमञ्जन आदि से जनजीवन बड़ा रोगी होता जा रहा है। वैदिक जीवन-प्रणाली में कड़वा नीम, भिलावा आदि वनस्पतियों से जन्तु-नाशक द्रव्य बनाए जाने के कारण जनस्वास्थ्य को हानि नहीं पहुँचती थी। ऐसे रसायन जहाँ-तहाँ लोग स्वयं बनाया करते थे।

आंगन, खेत या मैदानों में शौचकूप बनाने से पानी की बचत होकर वह गन्दा पानी नदियों में बहा देने की वर्तमान भीषण समस्या वैदिक समाज में निर्माण नहीं होती थी। गौ-सेवा, गोबर और गोमूत्र।

प्रत्येक गांव स्वावलम्बी होता था। लुहार, कुम्हार, सुनार आदि विविध कारीगर गाँव की सारी आवश्यकताएँ पूरी किया करते थे। इससे कम खर्च में वस्तुएँ मिल जाती थीं। बड़े-बड़े कारखानों में कच्चा माल दूर-दूर से पहुँचाना या तैयार वस्तुएँ बिक्री के लिए दूर भेजना, कारखानों के धुएँ से वातावरण दूषित होना, हजारों मजदूरों द्वारा गन्दी झोपड़-पट्टियों में जीवन बिताना आदि आधुनिक कठिनाइयाँ वैदिक जीवन-प्रणाली में पनप नहीं पातीं।

वैद्य लोग भी स्थानीय वनस्पतियों को स्वयं इकट्ठा कर, उनसे स्वयं औषधि बनाना और उससे रोगियों की निःशुल्क या अत्यल्प द्रव्य में चिकित्सा करना जानते थे। गम्भीर से गम्भीर रोगों का उपाय रुग्णशय्या पर घर के घर में होता था। हस्पताल में आप्तेष्टों से दूर और अनेक रोगियों की भीड़भाड़ में खर्चीला उपाय कराने की आवश्यकता वैदिक रोगोपचार-पद्धति में नहीं पड़ती थी।

दारू या भांग, गांजा, चरस आदि मादक पदार्थों का सेवन वैदिक-प्रणाली में निषिद्ध था। स्त्रियों को व्यभिचार का साधन नहीं माना जाता था। कन्या, भगिनी, माता आदि सारे ही रूपों में वैदिक प्रणाली में स्त्री वन्दनीय और आदरणीय होती थी। प्रजोत्पादन की ईश्वरप्रणीत यन्त्रणा को पवित्र कर्त्तव्य समझकर वैदिक कौटुम्बिक जीवन और विवाह-बन्धन का गठन हुआ है। पुरुष के भोग का साधन यह स्त्री जीवन की भूमिका वैदिक प्रणाली को पूर्णतया अमान्य है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ

वैदिक प्रणाली में ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है। सामान्य जन ब्रह्मचारी उस पुरुष को कहते हैं जो अविवाहित हो। किन्तु ब्रह्मचारी का अर्थ ब्रह्म की सृष्टि के नियम निजी वर्णाश्रम-अवस्था में पालने वाला—ऐसा भी होता है। अतः निजी कर्त्तव्य और अवस्था को ध्यान में रखते हुए उत्तमोत्तम नियमों का पालन कर शुद्ध, संयमी जीवन बितानेवाला व्यक्ति ब्रह्मचारी कहलाता है।

आत्मा की उत्क्रान्ति

अच्छा आचरण करने वाले माता-पिता की सन्तान जैसे अच्छी होती है वैसे ही जन्म-जन्मान्तर में अच्छे कर्म करने वाले व्यक्ति की आत्मा भी उत्तरोत्तर उन्नत होती रहती है। सामान्य मानव को यह रहस्य समझ में नहीं आता तथापि ईश्वर की माया से प्रत्येक आत्मा पूर्वजन्म के शेष संस्कार लेकर ही नये जीवन के अखाड़े में उतरती है। इसी दृष्टि से वैदिक जीवन-प्रणाली में शुद्ध, सात्त्विक जीवन का आदर्श रखा गया है।

वैदिक छुआछूत

वैदिक कौटुम्बिक जीवन में स्त्रियों का मासिक धर्म, घर में स्त्री की प्रसूति या किसी की मृत्यु पर चार दिन से तेरह दिन तक अछूत की प्रथा है। यह प्रथा बड़े वैज्ञानिक वैद्यक तत्त्वों पर आधारित है। स्त्रियों को घर-गृहस्थी में पूरा जीवन कोई राहत नहीं मिलती। अतः प्रत्येक स्त्री को बारी-बारी उसके मासिक धर्म के समय चार दिन का आराम मिले और रजस्वला स्त्री के जन्तुओं का संक्रमण भी रोका जाए इस दृष्टि से रजस्वला स्त्री को चार दिन का पूरा आराम आवश्यक माना गया। प्रसूति या मृत्यु के कारण उत्पन्न होने वाले जन्तु अधिक से अधिक १३ दिन तक ही जीवित रहते हैं अतः वैदिक प्रणाली में कौटुम्बिक अछूत-अवस्था अधिक से अधिक १३ दिन की होती है। उदाहरणार्थ यदि किसी को धनुर्वात (Tetanus) हो जाए तो १२ दिन में कभी भी उसकी मृत्यु हो सकती है। यदि १२वीं रात्रि वह पार कर जाए तो तेरहवें दिन से उस रोगी की अवस्था सुधरने लगती है।

प्राचीन कर्मठ प्रणाली के अनुसार भोजन पकाने वाले व्यक्ति को भी स्नान आदि से शुद्ध होकर, पीताम्बर पहनकर रसोईघर में भोजन पकाते समय और भोजन परोसते समय किसी अन्य व्यक्ति को छूना निषिद्ध था। उद्देश्य यह था कि जिस भोजन से सारे कुटुम्ब का भरण-पोषण होता है वह अन्न किसी प्रकार से अशुद्ध न हो। वर्तमान पाश्चात्य प्रणाली में भी जब कोई डॉक्टर किसी रोगी पर शल्यक्रिया करने के लिए आत्मशुद्धि कर लेता है तो शल्यक्रिया समाप्त होने तक वह किसी ऐरे-गैरे व्यक्ति को या वस्तु को छूता तक नहीं है। अतः वैदिक प्रणाली की कौटुम्बिक जीवन की छुआछूत प्रथा वैद्यक शास्त्र के वैज्ञानिक तत्त्वों पर आधारित है।

देवस्वरूप मानव

ईसाई धर्मग्रन्थ बाइबिल में कहा गया है कि ईश्वर ने मानव की मूर्ति देवों-जैसी ही बनाई है। वैदिक प्रथा भी मानती है कि ईश्वर ने मानव को सर्वश्रेष्ठ प्राणी बनाकर उसे दैवी सूझबूझ प्रदान की है। मानव ने भी जो

देवमूर्तियाँ बनाईं उनमें ईश्वर का चेहरा भी मानव-जैसा ही नाक, कान, चक्षु, मुख आदि वाला है। अतः, 'नर करणी करे तो नर का नारायण बन सकता है' ऐसी कहावत है। जीवन समाप्ति पर मृतव्यक्ति अपने साथ कोई पार्थिव जड़ वस्तु साथ नहीं ले जा सकता। इतना ही नहीं उसे निजी जड़ शरीर भी पृथ्वी पर छोड़ जाना पड़ता है। परलोक में उसकी अदृश्य आत्मा के साथ दो अदृश्य साथी भी होते हैं—उसके इहलोक के पाप और पुण्य। उन्हीं के अनुसार उसके अगले जीवन का नया दौर शुरू होता है। यही है वैदिक प्रणाली का सार। अतः वैदिक जीवन-प्रणाली में सदाचरण को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।

२७

वैदिक संस्कृति और क्षात्र बल

एक शक्तिशाली, न्यायी और शान्तिमय समाज जीवन बनाए रखने के लिए एक सुप्रशिक्षित और समर्पित सेना का गठन अनिवार्य होता है। इस तथ्य का महत्त्व समझकर ही वैदिक समाज में क्षत्रियों का एक विशिष्ट वर्ग बनाया गया था। कड़ा नियमबद्ध शासन, सादा, बिन खर्चीला व्यवहार और आन्तरिक विद्रोह तथा बाहरी शत्रुओं से प्रजा का और देश का संरक्षण करना यह क्षत्रियों का कार्यक्षेत्र था।

राक्षस का विरोध करते समय क्षत्रियों को प्रतिराक्षस बनना पड़ता है। पुराणान्तर्गत कथाएँ, रामायण, महाभारत, मनुस्मृति आदि सारे वैदिक ग्रन्थों का सार यही है। हिरण्यकश्यपु का नरसिंह द्वारा वध, विश्व में अराजकता मचानेवाले क्षत्रियों का परशुराम द्वारा २१ बार वध, राम के द्वारा बाली और रावण आदि का वध, महाभारत में विविध कौरव नेताओं का अन्त—इन घटनाओं से यह शिक्षा मिलती है कि समाज-कंटकों का बन्दोबस्त करना क्षत्रियों का परम कर्तव्य होता है। इसी को ध्यान में रखकर मनुस्मृति का भी यही आदेश है कि—

"आततायिनम् आयान्तं हन्यादेव अविचारयन्।"

आततायी बनकर कोई आए तो (वह चाहे बाल हो, वृद्ध हो, स्त्री हो) उसे मारना ही चाहिए।

हिन्दू सैकड़ों वर्षों से अहिंसा और वैराग्य का, बौद्धों और जैनों द्वारा जो प्रचार हुआ, उसके फलस्वरूप भारत के हिन्दू निजी वैदिक शिक्षा और क्षात्रबल के महत्त्व को भूल गए हैं। इस्लामी आक्रामक जितने तेजी से बन्दी बनाए हुए हिन्दुओं को डरा-धमकाकर मुसलमान बना रहे थे उतनी ही शीघ्रता से उन्हें फिर हिन्दू बना लेना आवश्यक था। वह करने के बजाय जो लोग, जो इमारतें और जो प्रदेश मुसलमान के हाथ चला गया सो गया,

बचे-खुचे में ही समाधान मान लो—इस तरह की शरणागति की प्रवृत्ति हिन्दुओं में इतनी बढ़ गई कि २०वीं शताब्दी के गांधी-नेहरू जैसे उनके नेता भी वही पाठ जनता को पढ़ाते रहे।

सन् १९०५-६ में भारत के ब्रिटिश शासन ने जब बंगाल प्रान्त का पूर्ववर्ती मुस्लिम बहुसंख्यक प्रदेश एक विभक्त प्रान्त करना चाहा तो उस पर बड़ा उग्र सार्वजनिक आन्दोलन होने के कारण अंग्रेजों को फूट डालने-वाली अपनी वह चाल रद्द करनी पड़ी। किन्तु अंग्रेजों ने उस षड्यन्त्र को छोड़ा नहीं। उन्होंने १९४७ में भारत छोड़ने के समय बहुसंख्यक मुसलमानों को एक के बजाय दो (पंजाब और बंगाल) प्रान्त बनाकर स्वतन्त्र भारत के मानो बाहु ही काट दिए।

जो षड्यन्त्री ब्रिटिश विभाजन प्रस्ताव सारी जनता ने १९०५-६ में ठुकरा दिया था उससे दुगने विभाजन को भारतीयों ने १९४७ में चुपचाप स्वीकार कैसे कर लिया? अन्तर यह था कि १९४७ में भारतीय जनता का नेतृत्व गांधी-नेहरू जैसे अहिंसावादी नेताओं के हाथ में आ गया। उन्होंने जो कहा जनता ने चुपचाप मान लिया। सन् १९०५-६ का भारतीय नेतृत्व इतना दुर्बल नहीं था।

गांधी-नेहरू जोड़ी ने इस्लामप्रणीत भारत का विभाजन मान लेने की एक गलती की और तत्पश्चात् कन्याकुमारी तक के प्रत्येक मुसलमान को पंजाब या बंगाल में निकाल भेजने का अट्टाहास नहीं किया यह दूसरी गलती की।

उस दूसरी गलती का कारण क्या था? कारण वैयक्तिक स्वार्थ था। मौलाना आजाद, रफीअहमद किदवई, आसफअली, अबुल गफ्फार खान, हुमायूं कबीर जैसे कुछ चन्द मुसलमान व्यक्ति गांधी-नेहरू जोड़ी के घनिष्ठ मित्र थे। प्रत्येक मुसलमान को पाकिस्तान भेजने के निर्णय से उन दो हिन्दू नेताओं को उनके परमप्रिय मुसलमान नेताओं से बिछड़ना पड़ता और उन्हें भारत से निकल जाने का आदेश देना पड़ता। अतः चन्द मुसलमानों से व्यक्तिगत मित्रता के कारण शरमाकर गांधी-नेहरू जोड़ी ने करोड़ों मुसलमानों को भारत में रहकर उन्हें अपना इस्लामी प्रचार चालू रखने की सहूलियत ही नहीं अपितु प्रोत्साहन दिया। इस प्रकार का कार्य एक देशद्रोही

भी नहीं कर सकता। इतना बड़ा नुकसान गांधी-नेहरू के नेतृत्व से भारत को
हुआ। क्योंकि अब भारत को पाकिस्तान और बांगला देश के मुसलमान,
इनके अतिरिक्त कश्मीर के भारत विरोधी मुसलमान और भारत में रहकर
भारत विरोधी करतूतें करनेवाले मुसलमान, इन सबसे एकसाथ धोखा है।

पाकिस्तान दे देने पर करोड़ों मुसलमानों को भारत में रख लेने का
एक और गम्भीर परिणाम यह हुआ कि अब अन्य अल्पसंख्यक वर्ग भी अपना
अलग प्रादेशिक टुकड़ा बड़े मजे से माँगते रहेंगे। क्योंकि वे अब आश्वस्त हैं
कि भारत से एक अलग प्रादेशिक राज्य माँग लेने पर भी वे अपने करोड़ों
बांधवों को भारत में छोड़ सकते हैं ताकि वे बांधव अपनी वही माँग बार-
बार रखकर हिन्दुओं को सताते रहें।

इस भीषण संकट का प्रत्यक्ष उदाहरण सन् १९८४-८५ में उभर
आया। कुछ खालिस्थानवादी सिखों ने खालिस्थान की माँग इसलिए की
कि वे जानते थे कि पाकिस्तान की तरह खालिस्थान प्राप्ति के पश्चात् भी
भारत के कोने-कोने में चाहे जितने सिख अपना जीवन सुखैनैव बसर कर
सकेंगे। अत: गांधी-नेहरू के नेतृत्व का मूल्यांकन वर्तमान खुशामदी वाता-
वरण में भले ही बढ़ा-चढ़ाकर अतिश्रेष्ठ नेताओं के रूप में किया गया हो
कुछ कालान्तर के पश्चात् उनका अवमूल्यन होना अनिवार्य और स्वाभाविक
है।

वैदिक संस्कृति का भला चाहने वालों को ऐसे अहिंसावादी नेताओं के
हाथों में देश की बागडोर कदापि नहीं सौंपनी चाहिए। क्षात्रबलसंवर्धन
वैदिक संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य है। अहिंसा को मानने वालों को
हिमालय के एकान्त में भेजते रहना चाहिए। उन्हें सांसारिक जीवन में
दखल देने का अधिकार देना अयोग्य है। नागरी जीवन की मुठभेड़, धूम-
धड़ाका और धक्का-मुक्की में सशक्त सेना, कार्यक्षम पुलिस आदि का होना
अत्यन्त आवश्यक है। गांधी-नेहरू के अहिंसावादी नेतृत्व में पुलिस और
सेना को कहाँ बरखास्त किया था। कांग्रेसी शासन में तो प्रजा पर अंग्रेजी
शासन से भी अधिक बार गोली चलानी पड़ी। अत: मुख से तो अहिंसा-
अहिंसा का जाप करना और प्रत्यक्ष में सेना और पुलिसदल बढ़ाते रहना
ऐसे दोगले और दुर्बल प्रवृत्ति के गांधी-नेहरू छप्पे के नेतृत्व से भारत की

बड़ी हानि हुई है।

वह दोगली विचारधारा जिस मूल कल्पना पर आधारित है वह कल्पना
ही सरासर गलत है। गांधी-नेहरू छप्पे के लोगों का कहना है कि भारत
एक खिचड़ी देश है और यहाँ किसी भी व्यक्ति को रहने का अधिकार है
चाहे वह देशद्रोही हो, गुण्डा प्रवृत्ति का हो या और कोई हो। उस मूल
कल्पना को उखाड़ फेंकना आवश्यक है। भारत वैदिक संस्कृति का देश है।
वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत, पुराण, योग, प्राणायाम, आयुर्वेद,
वैदिक संगीत, भगवा ध्वज, संस्कृत भाषा, यह इस देश की विरासत हैं।
इसकी रक्षा करना और इस संस्कृति का संवर्धन करना और संगोपन इस
देश की जनता का और नेताओं का लक्ष्य होना चाहिए। यह जो करेगा वह
इस देश का सच्चा नागरिक होगा। चाहे वह किसी धर्म का हो। उस
संस्कृति से जो विद्रोह करेगा या उस संस्कृति को दुर्बल करने की जो चेष्टा
करेगा वह इस देश का शत्रु माना जाना चाहिए चाहे वह धर्म से हिन्दू ही
क्यों न हो। गांधी-नेहरू आदि नेताओं ने जीवन में जो-जो मुख्य-मुख्य
बातें की या निर्णय किए, उनका मूल्यांकन ऊपर कही कसौटी से होना
चाहिए।

महाभारतीय युद्ध के पश्चात् वैदिक संस्कृति का प्रदेश और बल दिन-
प्रतिदिन सुकुड़ता ही चला गया। करते-करते गांधी-नेहरू युग में भारत की
सीमा अमृतसर के वायव्य में केवल ३० मील ही रह गई है। गांधी-नेहरू
के नेतृत्व में हिन्दुओं ने एक आत्मघातकी ध्येय अपना लिया। हिन्दुओं को
उन नेताओं से यह सीख मिली है कि अल्पसंख्यक गुटों की सेवा करना और
उनकी बढ़ती माँगें स्वीकार करते रहना यही बहुसंख्यक हिन्दुओं के जीवन
का सार्थक कार्य है।

इस बढ़ती हुई दुर्बल प्रवृत्ति पर रोक लगाना आवश्यक है। इस विषय
पर लिखे लेख में दिल्ली निवासी श्री पी० एन० शर्मा ने एक सूची तैयार
कर यह बतलाया है कि शत्रुओं से भी उदारता और नरमी से बर्ताव करने
की हिन्दुओं की प्रवृत्ति प्राचीन विश्व में इतनी कुख्यात हो गई थी कि प्रत्येक
नया आक्रामक भारत पर ही धावा बोलकर यहाँ से धन, दौलत, स्त्रियाँ
आदि जो चाहे लूट ले जाता रहा।

शर्मा जी का वह आंग्ल लेख दिसम्बर २८, १९८२ के इतिहास पत्रिका (ठाणे से प्रकाशित होने वाला त्रैमासिक) में प्रकाशित हुआ था। लेख का शीर्षक था—The One Lesson From History India Never Learnt (इतिहास का वह सबक जो भारत ने कभी नहीं अपनाया)।

शर्मा जी कहते हैं कि किसी को पड़ोस के घर से चार कुर्सियाँ भी चुरानी हों तो वह दस बार विचार करेगा कि उसे किस-किससे, कहाँ-कहाँ विरोध हो सकता है? किन्तु इधर तो भारत पर लगातार आक्रमण हो रहे थे और भारत से करोड़ों की सम्पत्ति लगातार पन्द्रह सौ वर्ष तक ऊँट और हाथियों पर लाद कर विदेशी लुटेरे ले जाते रहे। भारत को हो क्या गया था? भारत की क्षात्रशक्ति हतबल-निर्बल-दुर्बल होकर कैसे रह गई। इसी बढ़ती प्रवृत्ति के फलस्वरूप भारत को गांधी-नेहरू जैसे नेता मिले जो बिना संघर्ष के पाकिस्तान, अक्साइचिन, कश्मीर, चाड, बेरुबारी जैसे प्रदेशों की खैरात ही बाँटते रहे और हिन्दू उन नेताओं की प्रशंसा कर तालियाँ बजाते रहे। पृथ्वीराज जैसे नेताओं ने इस्लामी हमलावरों का प्रतिकार करते-करते रण में अपने प्राणों की तो आहुति दी किन्तु गांधी-नेहरू जोड़ी ने केवल बातों-बातों में शत्रु को भारत की कितनी लम्बी-चौड़ी भूमि मुफ्त में दे डाली। यह किस प्रकार का नेतृत्व है?

भविष्य में भारत के नेताओं को इस घातक प्रवृत्ति को बदलना होगा। भारत के इतिहास में प्रत्येक छात्र को विदेशी आक्रामकों की वह दीर्घ सूची पढ़ाई जानी चाहिए और यह विचार करना चाहिए कि भारत के वीर उन विदेशी आक्रामकों के केन्द्रों पर प्रतिहमला करने में क्यों झिझकें? जिन प्रदेशों से भारत पर बार-बार आक्रमण हो रहा था क्या उन प्रदेशों पर संगठित हमला बोलने के लिए भारत के विभिन्न नरेशों ने कभी क्षात्र-संसद बुलाकर विचार-विनिमय किया? भारत के विद्यालयों में इतिहास का पठन-पाठन ऐसी नई दृष्टि से होना चाहिए। इतिहास पढ़ाने का जो वर्तमान ढाँचा है वह बड़ा देशद्रोही और देश विघातक है। उदाहरणार्थ पानीपत की तीन लड़ाइयाँ किस-किस के बीच हुई और उसमें कौन हारा, कौन जीता? ऐसे अयस्य की भूमिका के प्रश्न पूछे जाते हैं। छात्रों को उसमें आत्मीयता से यह विचार करना सिखाया जाना चाहिए कि

पानीपत में किसकी हार से वैदिक संस्कृति को किस प्रकार का लाभ और हानि हुई। इतिहास-शिक्षा की आधारशिला यही होनी चाहिए। प्रत्येक ऐतिहासिक घटना का तोल कसौटी से किया जाना चाहिए कि उससे वैदिक संस्कृति को बल मिला है या नहीं? उस दृष्टि से शर्मा जी द्वारा तैयार की गई भारत पर निम्न आक्रमण-सूची पर गम्भीर रूप से विचार किया जाना चाहिए।

आक्रमण क्रम	आक्रामक का नाम	आक्रमण वर्ष
१	डेरियस् (ईरान का राजा)	ईसापूर्व सन् ५१६– १८
२	अलेकझेंडर (मॅसेडोनिया)	„ ३२५
३	शक (मध्य एशिया)	„ १८०
४	कुशाण	„ १२०
५	हूण (मध्य एशिया)	ईसवी सन् १२०
६	मुहम्मद बिन कासिम (सीरिया)	„ ७१२
७	सुबुक्तगिन (अफगानिस्थान)	„ ९२७
८ से २४	महमूद गजनवी (सत्रह बार)	„ १००० से १०३० तक
२५ से ३२	मुहम्मद गोरी (आठ बार)	„ ११७५ से १२०६ तक
३३	तैमूरलंग (मध्य एशिया)	„ १३९८
३४	बाबर (मध्य एशिया)	„ १५२६
३५	हुमायूँ (मध्य एशिया)	„ १५५५
३६	नादिरशाह (ईरान)	„ १७३९
३७	अहमदशाह अब्दाली (ईरान)	„ १७५६ से १७६१
३८	अंग्रेज (प्लासी की लड़ाई)	„ १७५७
३९	पाकिस्तान द्वारा कश्मीर के एक भाग पर कब्जा	„ १९४७
४०	चीन का भारत पर आक्रमण	„ १९६२
४१	पाकिस्तान का भारत पर आक्रमण	„ १९६५
४२	पाकिस्तान का भारत पर आक्रमण	„ १९७१

ऊपर कहे २५०० वर्षों में भारत पर इतने अधिक आक्रमण होने के कारण इस प्रकार हैं–(१)भारत द्वारा अपनी विद्या और कारीगरी से सारे विश्व को ज्ञान, तैयार वस्तुएँ तथा नाविक सेवाएँ, घोड़े, मिस्र देश में भव्य पिरॅमिड्स् आदि बनाने के लिए मार्गदर्शन, कारीगर और उपकरण आदि उपलब्ध कराकर अपार सम्पत्ति कमाने के कारण ही भारत को सोने की चिड़िया कहा जाता था। भारत में दुग्ध और मधु की नदियाँ बहा करती थीं ऐसा उस समय के भारत के वैभव का वर्णन पाश्चात्य ग्रन्थों में अंकित है। ऐसी अवस्था में बौद्ध और जैन मतों के अत्यधिक प्रचार के कारण क्षात्रवृत्ति छोड़कर उदासीन भिक्षुवृत्ति अपनाने की प्रवृत्ति बढ़ी और भारत की प्रतिकार शक्ति ढीली पड़ते-पड़ते भारत दुर्बल होता चला गया। भारत के हिन्दू क्षत्रिय राजा एक-दूसरे पर चढ़ाई कर निजी राज्य बढ़ाने में बड़ा पुरुषार्थ समझते थे। किन्तु सभी ने एक होकर ईरान, तुर्कस्थान, अर्बस्थान आदि देशों में पुनः हिन्दू विश्वसाम्राज्य स्थापित करने का कदापि नहीं सोचा। यह कितनी दुर्भाग्य की बात थी। आज भी भारत में वही प्रवृत्ति है। जो उग्रवादी सिख खालिस्थान के नाम से भारत का टुकड़ा माँगते हैं वे रणजीतसिंह की राजधानी लाहौर पुनः जीत लेने की योजना क्यों नहीं बनाते? हिन्दुओं की शिक्षा में ऐसा लड़ाकू, विश्वविजेता ध्येयवाद पुनः प्रविष्ट कराना बड़ा आवश्यक है। यदि सारे विश्व का नेतृत्व कोई कर सकता है तो वह हिन्दू ही कर सकता है। अन्य किसी धर्म, पन्थ या जाति को विश्वसाम्राज्य स्थापित करने की उच्च ध्येयदृष्टि प्राप्त नहीं है। ईसाई या इस्लामी पन्थों के प्रसार से तो आतंक, अत्याचार, छल, कपट, लोगों को गुलाम बनाकर बेचना आदि जनता को त्रस्त करनेवाली कुप्रथाएँ बढ़ेंगी।

इस्लाम के आविर्भाव से विश्व में इतना अन्याय, अंधेर और आतंक प्रारम्भ हुआ कि जलाशयों में विष मिलाना, हरे-भरे खेतों को आग लगा देना, स्त्रियों पर बलात्कार करना, बच्चों को कत्ल करना, पुरुषों को बन्दी बनाकर पंगु करना या दूर-दूर के शहरों में गुलाम बनाकर बेचना, हजारों को छल-कपट से मुसलमान बनाना आदि दैनन्दिन घटनाएँ बन गईं। इन अत्याचारों से धर्मयुद्ध की कल्पना को गले लगाए हुए भारतीय क्षत्रिय एकाएक उदास और हताश बन गए। इस्लामी अत्याचारों का मुँहतोड़

जवाब देने के लिए प्रतिराक्षस बनने के सिवाय और कोई मार्ग नहीं था। मनु, राम और कृष्ण का आदर्श भूलकर भारतीय क्षत्रिय-नेता हताश हो गए। हिन्दू प्रवचनकारों का यह बड़ा दोष था। रामायण और भगवद्गीता जैसे वीरकाव्यों को भी आजकल के प्रवचनकारों ने आध्यात्मिक मनोरंजन और धनप्राप्ति का साधन बना रखा है। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता कहते समय या तुलसीदास जी ने रामचरित मानस लिखते समय यह कभी सोचा ही नहीं होगा कि "मेरे वीरग्रन्थ को धूर्त लोग द्रव्य-प्राप्ति का साधन बना लेंगे"। आजकल के प्रवचनकार रामायण, गीता आदि के विश्लेषण में ब्रह्म, माया, मोह, ज्ञान, मन, बुद्धि आदि विवेचन का मायाजाल फैलाकर लोगों से मुफ्त का आदर और धन बटोरते रहते हैं। हिन्दू जनता को ऐसे ढोंगी प्रवचनों का यह धन्धा बन्द करा देना चाहिए। भगवद्गीता या रामायण के प्रत्येक प्रवचन की अन्तिम कसौटी यह होनी चाहिए कि हजारों श्रोताओं में से कम-से-कम एक श्रोता भी यदि श्रीराम या अर्जुन की तरह वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए प्रोत्साहित हुआ है या नहीं? यदि नहीं हुआ है तो ऐसे प्रवचनों को बन्द करा देना चाहिए क्योंकि वे जनता को फुसलाकर पवित्र वैदिक वीरग्रन्थों से धन और आदर बटोरने का व्यक्तिगत साधन बनाए हुए हैं।

हजार-बारह सौ वर्षों के इस्लाम से किए भीषण संघर्ष के कटु अनुभव के पश्चात् भी हिन्दू अपने धर्म और संस्कृति की बागडोर गांधी-नेहरू जैसे दुर्बल संत प्रवृत्ति के राजनीतिक नेताओं के हाथों में सौंपकर सो रहे हैं, यह भारत का बड़ा दुर्भाग्य है। ऐसे नेता हिमालय के शीत एकांत में भले ही आदरणीय हों राजनीति की सरगर्मी में देहली के सिंहासन से और देश के शासन से ऐसे नेताओं का कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिए। अत्याचारी शत्रु जो माँगता रहे वह उसे देते रहकर किसी तरह शान्ति की याचना करने की और बची-खुची भूमि या सम्पत्ति में समाधान मानने की हिन्दू प्रवृत्ति बदलनी बड़ी आवश्यक है। हिन्दुओं को अपनी छीनी हुए इमारतें और प्रदेश वापस लेने का लक्ष्य बनाकर उसके लिए कड़ा संघर्ष करते रहना चाहिए।

इस्लामी या ईसाई शासन में कभी सुख और शान्ति रह नहीं सकती

क्योंकि वे धर्म तथा सत्य पर आधारित नहीं है। ईसामसीह नाम का कोई व्यक्ति कभी जन्मा ही नहीं। ऐसी अवस्था में एक काल्पनिक व्यक्ति की मनगढ़न्त जीवनगाथा पर आधारित ईसाईधर्म अधिक काल टिक ही नहीं सकेगा। उसी प्रकार इस्लाम भी दूसरों की छीनी इमारतों को झूठ ही अपना कहता आ रहा है और इमारतों से मनगढ़न्त, झूठा इतिहास बनाता रहा है। ऐसे झूठों के हाथ किसी प्रकार का शासन सौंपना सारे विश्व को संकट में डालना होगा। यदि भारत के शत्रु Total war यानी हर एक व्यक्ति पर हर प्रकार का आतंक मचाने वाले हों तो हिन्दुओं ने भी उनसे प्रतिराक्षस बनकर ही प्रतिकार करना आवश्यक है। सांत्वना, सहनशीलता आदि सद्‌गुण अधर्मी शत्रु से बरतने नहीं चाहिएं। इसी तथ्य पर वैदिक संस्कृति का क्षात्रवर्ग आधारित है। लड़ना उनका व्यवसाय ही बना दिया है। अतः नरम हृदय होकर शत्रु को उचित दण्ड न देने वाला क्षत्रिय कर्तव्यच्युति का पाप करता है। अधर्मी शत्रु के साथ अधर्म युद्ध ही करना चाहिए। राम और कृष्ण का आदर्श यही है।

पराए इस्लामी हमलावरों ने भारत में इतने पाप और दुराचार, अत्याचार आदि किए हैं कि उनका ब्यौरा देने वाले कई ग्रन्थ, लिखे जाने चाहिएं। उदाहरण—हिन्दू किले में मुसलमान महिला और बच्चों के लिए आश्रय की याचना करके पर्दे में महिलाओं की बजाय सशस्त्र सैनिक भेज-कर विश्वासघात से किला हस्तगत करना, समझौते के वार्ताविमर्ष के बहाने हिन्दू राजाओं को बुलाकर उनका वध करना—ऐसी घटनाएँ इस्लामी शासन में बार-बार हुई हैं। मुसलमानों का लिहाज करके ऐसी घटनाएँ दबा देने की जो प्रथा भारत में गांधी-नेहरू युग में पड़ी वह बड़ी घातक है। दिखलावे के लिए सत्य की महत्ता गाते रहना और इस्लाम-तुष्टि के हेतु सत्य को छिपाए रखना यह जनता से कितनी बड़ी वंचना है।

अतः हिन्दू वैदिक क्षात्रधर्म का पुनरुद्धार करने का हिन्दुओं को निश्चय कर लेना आवश्यक है। क्षात्रधर्म नहीं रहेगा तो वैदिक धर्म नहीं रहेगा, जैसे पुलिस और सेना बिना नागरी जीवन एक पल भी नहीं चल सकेगा। जैसे समाजकंटकों को दण्ड देने के लिए पुलिस की आवश्यकता होती है वैसे ही विदेशी शत्रुओं को ठिकाने लगाने के लिए सेना की आवश्यकता होती है।

वैसी सेना पीढ़ियों से प्रशिक्षण पाकर शत्रुओं से लड़ने के लिए सदा सन्नद्ध रहे इस हेतु एक विशिष्ट क्षत्रिय वर्ण वैदिक संस्कृति में बना हुआ था। इसीलिए वैदिक संस्कृति में वेदविद्या और क्षात्रबल इनका सदैव जोड़ रहा है। इस सम्बन्ध में संस्कृत श्लोक है—

अग्रतश्चतुरोवेदान् पृष्ठतस्सशरं धनुः।
इदं क्षात्रं इदम् ब्राह्मं शापादपि शरादपि।

क्षमा कब की जाती है ?

दुष्ट और विश्वासघाती शत्रु से पूरी निर्दयता से ही निपटना चाहिए यह वैदिक नीति इस्लामी आक्रमणों के समय ढीली पड़ जाने के कारण भारत की बहुत हानि हुई है।

इस पर कुछ वाचकों के मन में ऐसी शंका प्रकट हो सकती है कि यदि इस्लामी आक्रामकों से भारतीय क्षत्रियों ने भी निर्दयता का वर्तन किया होता तो इस्लामी और वैदिक सभ्यताओं में अन्तर ही नहीं होता।

इस प्रकार का आक्षेप हमारी इतिहास शिक्षा का एक महान् दोष प्रकट करता है। महमूद गजनवी, गोरी आदि आक्रामक हमारा एक व्यक्ति मारते तो भारतीय क्षत्रियों ने उनके दस व्यक्ति मारने चाहिए थे। वे यदि १००० व्यक्तियों को बलात् मुसलमान बनाते तो क्षत्रिय राजाओं को २००० इस्लामी बंदियों को हिन्दू बनना बाध्य करना था। इस प्रकार 'शठं प्रति शाठ्य' की नीति अपनानी चाहिए थी। युद्ध की स्थिति में निर्दय शत्रु पर काबू पाने के लिए उससे दुगुनी या दसगुनी निर्दयता भारतीय क्षत्रियों ने नहीं अपनाई यह उनका बड़ा दोष रहा। इसी को स्वातन्त्र्यवीर वि० दा० सावरकर जी ने सद्‌गुण विकृति कहा है।

भारतीय क्षत्रिय यदि ऐसे कड़े बदले का बर्ताव करते तो इस्लामी बर्ताव और हिन्दू बर्ताव में अन्तर ही क्या रह जाता ? इस प्रश्न का हम अब उत्तर देने वाले हैं। पाठक उसे ध्यान देकर पढ़ें।

इस्लामी विजेता बन्दी बनाई स्त्रियों पर बलात्कार करते, पुरुषों को गुलाम बनाकर बाजारों में बेचते, हजारों व्यक्तियों को छल हेतु बोटी-बोटी काटकर हलाल करते और कुरान पर हाथ रखकर अभय की शपथ

देकर निमन्त्रित हिन्दू शासक को सुलह की चर्चा का बहाना बनाकर विश्वासघात से मार देते। ऐसे कुकर्म हिन्दू कभी नहीं करता यही वैदिक धर्म की इस्लाम की तुलना में श्रेष्ठता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इस्लामी शत्रु को कड़ी सजा न दी जाए।

इसी प्रश्न का दूसरा अंग शरण आए शत्रु को क्षमा करने की बाबत है। शरण आए शत्रु को जीवित छोड़ देना क्षत्रिय का धर्म है यह वैदिक धर्म की सीख अवश्य है किन्तु 'शरणागत' का सही अर्थ समझना आवश्यक है। मुहम्मद गोरी को पृथ्वीराज चौहान ने कई बार बन्दी बनाकर छोड़ दिया। उसका लाभ उठाकर गोरी बार-बार सेना जमा कर पृथ्वीराज पर हमला करता रहा और अन्त में गोरी ने ही पृथ्वीराज को छल करके मार डाला।

अतः शरणागति का वास्तविक स्वरूप समझना आवश्यक है। यदि मुहम्मद गोरी स्वयं हिन्दू बनकर और निजी सेना को हिन्दू बनाकर पृथ्वीराज से आ मिलता तब ही उसे सही रूप में शरणागत कहा जा सकता है। बन्दी बनाने पर जीवनदान की याचना तो एक साधारण डाकू भी करेगा। ऐसी स्वार्थी याचना को शरणागति समझना बड़ी भूल है।

इस सम्बन्ध में रामायण की तत्सम घटना दर्शनीय है। विभीषण जब अपने सैनिक लेकर राम के सहाय हेतु रावण के विरुद्ध लंका के हमले में सम्मिलित होने को राजी हो गया तभी उसे शरणागत समझकर जीवनदान दिया गया। अन्य जो मारीच, सुबाहू, खर, दूषण, कबंध, शूर्पणखा आदि रावण के सेनानी आए उन किसी को भगवान् राम ने जीवनदान नहीं दिया, प्रत्येक का वध ही किया। किन्तु राम के सैनिकों ने स्त्रियों और बच्चों पर बलात्कार नहीं किया और किसी राक्षस का छलकर शरीर का एक-एक भाग तोड़कर 'हलाल' नहीं किया। राक्षसों का बर्ताव और प्रभु राम का आचरण, इसमें अन्तर था। वही अन्तर हिन्दू और मुसलमानों के आचरणों में इतिहास में दिखाई देता है। राक्षस भी वैदिक धर्मी होने के कारण उनका आचरण इस्लामी आक्रामकों से कई गुना अच्छा और सभ्य था। जैसे हनुमान का राजदूत होने के नाते उसे बन्दी बनाकर रखना अयोग्य है, इस आक्षेप को रावण ने भी मानकर हनुमान को छोड़ दिया।

इन सब बातों पर विचार करते हुए वैदिक क्षत्रियों की शिक्षा में एक बड़े परिवर्तन की आवश्यकता है। उन्हें यह समझ लेना चाहिए कि राक्षसों के विरुद्ध प्रतिराक्षस जैसी सख्ती बरतना ही सच्चा क्षात्रधर्म है। और शरणागत उसे समझना चाहिए जो वैदिक धर्म की सेवा करने को राजी हो, अन्य किसी को कभी क्षमा नहीं करना चाहिए।

और अब समय की आवश्यकता यह है कि प्रत्येक वैदिकधर्मी पुरुष को क्षत्रिय बनना चाहिए।

२८

वैदिक सेना-संगठन

समग्र विश्व में सृष्टि-उत्पत्ति समय से वैदिक शासन (और संस्कृत भाषा प्रचलित) होने के जो सर्वांगीण प्रमाण मिलते हैं उनमें सेना-संगठन का एक पुष्ट प्रमाण भी विद्यमान है। वर्तमान भारतीय सेना-व्यवस्था आंग्ल-शासकों ने जैसी रूढ़ की, वैसी ही स्वतन्त्र भारत में चालू रखी गई है। किन्तु इसमें आश्चर्य की बात यह है की स्वयं आंग्ल भूमि में जो सेना-संगठन का ढाँचा है और जो आंग्ल शासकों ने भारत में भी रूढ़ किया वह ठेठ उसी प्राचीन वैदिक सेना-व्यवस्था पर आधारित है जो भारत के प्राचीन वैदिक सम्राटों ने विश्व में रूढ़ की थी। इसका जो विवरण भारतीय वायुसेना के एक सेवानिवृत्त अधिकारी स्क्वाड्रन लीडर हंसराज सिंह जी ने तीन-चार वर्ष पूर्व बुलंदशहर (उत्तर प्रदेश) के हिन्दू-महासभा अधिवेशन में दिया, वह इस अध्याय में प्रस्तुत किया जा रहा है।

भू-सेना के अतिरिक्त सागरसेना और वायुसेना की परिभाषा भी संस्कृत प्रणाली की ही है।

नावि

आंग्ल लोग अपनी भाषा में सागर सेना को 'नेव्ही'(navy)कहते हैं जो वास्तव में संस्कृत 'नावि' शब्द है। संस्कृत में नौ, नौका, आदि शब्द हैं। उन्हीं से भारतीय भाषाओं में नाव और नाविक शब्द बने हैं। अतः 'नावी' उर्फ नेव्ही शब्द संस्कृतमूलक ही है। उसी से 'नेव्हल' (naval) और 'नॉटिकल' (nautical) यानी 'नौ सेना सम्बन्धित'—ऐसे शब्द आंग्ल भाषा में नित्य प्रयुक्त किए जाते हैं। वह परिभाषा विश्व में आज भी इसी कारण रूढ़ है कि उसके पीछे लाखों वर्षों की वैदिक-संस्कृत सागर पर्यटन की परम्परा विद्यमान है। प्राचीन लुप्त-गुप्त-इतिहास के परिशीलन और

अध्ययन में ऐसे विपुल प्रमाण आज तक दुर्लक्षित रहे हैं। इतिहास-संशोधकों को अपने चारों ओर फैले हुए ऐसे विविध प्रकार के प्रमाणों का विवरण लेकर उनको दखल लेने का अभ्यास बढ़ाना चाहिए।

कमोडोर (Commodore)

यह मूल 'समोदोर' शब्द संस्कृत 'समुद्र' शब्द का अपभ्रष्ट रूप है। आंग्ल भाषा में 'C' अक्षर के 'स'—'श'—'ष' या 'क' ऐसे कई उच्चारण होते हैं। प्राचीन वैदिक प्रथा में समुद्राधिकारी (यानी नौसेना-अधिकारी) कहते थे। आगे चलकर उस शब्द का पूर्वपद 'समुद्र' ही प्रचलित रह गया। उसे यूरोपीय लिपि में 'समोदोर' (Commodore) लिखा जाने लगा। कुछ समय पश्चात् 'समोदोर' शब्द का 'कमोडोर' उच्चार रूढ़ हो गया। प्रचलित उच्चारण वही है। किन्तु अब तो वायुसेना अधिकारी को भी 'कमोडोर' ही कहने की प्रथा पड़ी है। इससे यह प्रमाणित होता है कि ईसा पूर्व समय में नौसेना और सागर पर्यटन की सारी परिभाषा संस्कृत थी। उसका मूल कारण यह है कि अनादिकाल से सारे विश्व में वैदिक शासन और संस्कृत भाषा ही प्रचलित थी।

किंग (King)

आंग्ल भाषा में राजा को 'किंग' (king) कहते हैं। उस शब्द की व्युत्पत्ति भी संस्कृत भाषा और वैदिक प्रणाली की है। वैदिक परम्परा में क्षत्रिय शासकों के नाम उदयसिंह, मानसिंह, जगतसिंह ऐसे होते थे। उस सिंह शब्द का अपभ्रंश कहीं 'सिंग' तो कहीं 'सिन्हा' (Sinha) ऐसा होता रहा है। देश जब परतन्त्र होता है तो पराए शासकों के विकृत उच्चारों से हमारे अपने देश में अपने ही भारतीय शब्दों के उच्चारण कैसे बिगड़ जाते हैं इसके यह दो उदाहरण हैं। इस प्रकार सिंह का सिंग उच्चारण रूढ़ हुआ। प्राचीन आंग्ल भाषा (Old English) में वह शब्द cing लिखा जाने लगा। आगे चलकर 'c' का उच्चार 'क' करने की प्रथा से 'सिंग' के बदले 'किंग' उच्चार रूढ़ हो गया। तथापि उस शब्द से यह विदित होता है कि आंग्ल द्वीपों में वैदिक क्षत्रिय राजाओं का ही अधिकार होता

था। इसी कारण उनके राजा को 'सिंग' के बजाय 'किंग' कहते हैं।

नाइट (Knight)

राजा वैदिक सेनाओं का नेता होता था। उसके दरबारी सेना के 'नायक' कहलाते थे। दुर्योधन भी अपनी सेना के प्रमुख नेताओं को "नायकाः मम सैन्यस्य" कहता था। उसका उल्लेख भगवद्गीता में है। ठेठ वही शब्द आंग्ल द्वीपों में भी प्रचलित है। अन्तर इतना ही है कि नायकः शब्द का भारतीय भाषाओं में 'नाइक' ऐसा अपभ्रंश होता है, उसी प्रकार आंग्ल भाषा में उसका उच्चार 'नाइट' ऐसा होता है। वस्तुतः आंग्ल लेखनप्रथा में 'knight' ऐसा लिखा जाता है। उसमें आरम्भ में (क) 'K' अक्षर होते हुए भी उसका उच्चारण किया नहीं जाता। और अन्त में एक फालतू T (टी) अक्षर जोड़ दिया गया है। वह फालतू 'T' निकालकर यदि उसके स्थान पर K अक्षर लगाकर वह शब्द nighk ऐसा लिखा जाए तो वह संस्कृत नायक उर्फ नाइक शब्द ही है—यह प्रतीत होगा।

अब दूसरा एक आंग्ल शब्द देखें। आंग्लद्वीपों में Canterury नाम का एक प्राचीन गाँव है। उसका प्रचलित उच्चार कॅंटरबरी किया जाता है। किन्तु 'C' अक्षर का मूल उच्चार 'श' होता है यह ध्यान में रखकर उस शब्द का उच्चारण 'शंतरबुरी' होता है। अब यह ध्यान में रखें कि नायक शब्द में 'क' अक्षर के बजाय 'ट' अक्षर पड़ा है। यानी अंग्रेजी भाषा में संस्कृत 'क' के स्थान पर 'ट' पड़ गया है। उसे ध्यान में रखकर हम देख सकते हैं कि शंतरबुरी का मूल नाम शंकरबुरी उर्फ शंकरपुरी होना चाहिए। इस प्रकार जब आंग्ल द्वीपों में 'शंकरपुरी' नाम का नगर था, दरबारियों को नाइक (उर्फ नाइट) कहते थे, राजा को 'सिंग' (उर्फ 'किंग') कहते थे तो क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि वहाँ संस्कृत भाषा और वैदिक संस्कृति का प्रसार था?

कॅंटरबुरी उर्फ शंकरपुरी के प्राचीन धर्मगुरु को archbishop यानी (आंग्लद्वीप का) महापुरोहित कहते हैं। वह महापुरोहित शंकरपुरी में शंकर की पूजा करने वाला वैदिक धर्मगुरु होता था। यह कितना महत्व-

पूर्ण प्रमाण है कि छठी शताब्दी में ईसाई बनाए जाने के पूर्व आंग्लद्वीपों में पूर्णतया वैदिक संस्कृति विद्यमान थी।

सेना विभाग

अब हम देखेंगे कि सेना के विभिन्न विभाग जो हमें वर्तमान सेनाओं में दीखते हैं वे अनादिकाल से वैसे ही चले आ रहे हैं जैसे वैदिक परम्परा ने निश्चित किए थे।

आधुनिक सेना में अल्पतम विभाग 'सेक्शन' (Section) कहलाता है। उसमें दस सैनिक होते हैं। प्राचीन वैदिक प्रथा में भी सेना के अल्पतम विभाग में दस व्यक्ति होते थे जिनमें एक हाथी, एक रथ, तीन घुड़सवार और पाँच पदाति (यानी पैदल चलने वाले सैनिक) कुल दस घटक के होते थे। तत्पश्चात् प्राचीन और अर्वाचीन सेना-संगठनों में वही १०—१० के विभाग अधिकाधिक मात्रा में सम्मिलित होते थे।

वैदिक पद्धति में तीन पंक्तियों का एक सेनामुख होता था तो आधुनिक सेनाओं में तीन सेक्शन्स मिलाकर एक प्लाटून होता है।

वैदिक पद्धति की सेना-संघटना का अर्थ है वैदिक संस्कृति में पले सम्राटों की सेना में जो विभाग होते थे। वे वैदिक सेना का कोई ऐसा अर्थ न लगालें कि वेदों में ही उन सेना विभागों की संख्या निश्चित की गई हो।

वैदिक पद्धति का इस ग्रन्थ में यह अर्थ है कि वेद, उपनिषद, रामायण, महाभारत और पुराणों में जिस संस्कृति का हमें परिचय होता है, वह।

कम्पनी

आधुनिक सेनाओं में तीन प्लाटून्स की एक कम्पनी (Company) होती है। वैदिक सेनाओं में तीन सेनामुख मिलाकर एक गुल्म होता है।

तीन कम्पनियाँ मिलाकर आधुनिक सेना में एक रेजिमेंट होता है वैसे ही प्राचीन वैदिक सेनाओं में तीन गुल्मों का एक गण होता था।

इस समानता से कोई यह न समझ बैठे कि ग्रीक या अन्य यूरोपीय देशों की संघटना के नमूने पर वैदिक सेना-संघटन बना था। जब भी ऐसी शंका प्रकट हो तब देखना यह चाहिए की उनमें से कौन-सी परम्परा प्राचीन

है। हम प्रारम्भ में ही बता चुके हैं कि संस्कृत भाषा, वेद और वैदिक सम्राटों का शासन विश्व में अनादि काल से बना हुआ है। अतः जब भी वैदिक प्रथा में और अन्य प्रथाओं में समानता दिखे तो यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वह वैदिक प्रथा की ही नकल है।

आधुनिक सेनाओं में तीन रेजिमेंटों की एक ब्रिगेड कही जाती है, उसी प्रकार वैदिक सेनाओं में तीन गणों की एक वाहिनी होती है।

तीन ब्रिगेड्स की एक डिवीजन आजकल की सेनाओं में होती है। उसी प्रकार प्राचीन सेनाओं में तीन वाहिनियों की एक प्रुतना होती थी।

तीन डिवीजन्स की एक कोअर आधुनिक सेनाओं में कही जाती है। उसी प्रकार प्राचीनकाल में तीन प्रुतनाओं की एक चमू कही जाती थी।

तीन आधुनिक कोअर मिलाकर एक कमांड कही जाती है। प्राचीन वैदिक सेनाओं में उसी प्रकार तीन चमू मिलाकर एक अनिकीनि बनती थी।

इस प्रकार आधुनिक सेनाओं में कमांड ही बड़ा-से-बड़ा सेना विभाग है। किन्तु वैदिक सम्राटों की सेनाओं में तो इससे भी बड़कर एक सेना विभाग था। दस अनिकीनि मिलाकर एक अक्षौहिणी बनती है। कौरव पाण्डवों की सम्मिलित सेना महाभारतीय युद्ध में १८ अक्षौहिणी थी।

इससे एक बात की पुष्टि होती है कि वैदिक सम्राटों का विश्व साम्राज्य होने के कारण ही तो उनकी सेना इतनी विशाल होती थी। इतिहास के अध्येयता वर्तमान राष्ट्रों की कुल सेनाओं की संख्या की महाभारतकालीन १८ अक्षौहिणी सेना से तुलना करें।

इतनी विशाल सेना हो तो उस समय की जनसंख्या भी तो उसी प्रमाण में अत्यधिक होनी चाहिए। एक सौ नागरिकों के पीछे एक सैनिक ऐसे प्रमाण की कल्पना करके १८ अक्षौहिणी सेना के हिसाब से महाभारतीयकाल के विश्व की जनसंख्या का अनुमान लगाया जा सकता है।

ऊपर कहे सेना विभागों का कोष्ठक पृष्ठ ३६९ पर दिया जा रहा है।

वैदिक सेना-संगठन

१ महावत + ३ धनुर्धारी = ४ मनुष्य + १ हाथी
१ सारथी + ४ धनुर्धारी = ५ मनुष्य + २ अश्व (एक रथ)
३ घुड़सवार = ३ मनुष्य + ३ अश्व
५ पदाति = ५ मनुष्य

कुल — १७ मनुष्य + ६ पशु

वैदिक		
१७ मनुष्य + ६ पशु	=	१ पत्ति
३ पत्ति	=	१ सेनामुख
३ सेनामुख	=	१ गुल्म
३ गुल्म	=	१ गण
३ गण	=	१ वाहिनी
३ वाहिनी	=	१ प्रुतना
३ प्रुतना	=	१ चमू
३ चमू	=	१ अनिकीनि
१० अनिकीनि	=	१ अक्षौहिणी

१ अक्षौहिणी = ३,७१,७९० सैनिक, १,०९,३५० अश्व और २१,८७० हाथी

आधुनिक सेना-संगठन

आधुनिक		
१० पदाति	=	१ सेक्शन
३ सेक्शन्स	=	१ प्लाटून
३ प्लाटून्स	=	१ कम्पनी
३ कम्पनीज	=	१ रेजिमेंट
३ रेजिमेंट्स	=	१ ब्रिगेड
३ ब्रिगेड्स	=	१ डिवीजन
३ डिवीजन्स	=	१ कोअर
३ कोअर	=	१ कमांड

प्राचीन साहित्य में हम बार-बार त्रिभुवन की बात सुनते हैं। तो हो सकता है कि उस समय अक्षौहिणी जैसी विशाल सेना इसलिए आवश्यक होती थी कि सैनिकों को युद्ध या सुरक्षा के हेतु अन्य दो ग्रहों पर भी भेजा जाता हो।

यद्यपि वैदिक पत्ति के स्थूल रूप में दस सदस्य जान पड़ते हैं तथापि वे (आधुनिक अल्पतम विभाग जो सेक्शन कहलाता है उससे) कहीं अधिक थे। जैसे हाथी पर एक महावत होता था और अंबारी में चार धनुर्धारी होते थे। यानी हाथी के साथ पाँच मनुष्य होते थे। रथ में एक सारथी और चार धनुर्धारी ऐसे कुल पाँच व्यक्ति होते थे। तीन अश्वों पर तीन सवार होते थे। इनके अतिरिक्त पाँच पदाति सैनिक होते थे। अतः वैदिक सेना के अल्पतम भाग में एक हाथी, रथ को जोड़े हुए दो घोड़े, तीन अन्य अश्व ऐसे कुल छः पशु और कुल १७ मनुष्य होते थे। इस हिसाब से ऊपर दिए कोष्ठक के अनुसार एक अक्षौहिणी सेना में कितने पशु और कितने सैनिक होते थे इसका हिसाब वाचक लगा सकेंगे।

क्षत्रप

वैदिक शासन में विश्व के विशिष्ट विभाग बनाकर हरएक विभाग को क्षेत्र कहा जाता था। जैसे आधुनिक शासन में 'जिला' होता है वैसे ही प्रत्येक क्षेत्र के शासक को 'क्षत्रप' (यानी क्षेत्रशासक) कहा करते थे। यह शब्द युरोपीय भाषाओं में 'सत्रप' (Satrap) उच्चार से शेष है। यह भी एक प्रमाण है कि प्राचीन विश्व में वैदिक शासन था।

उस शासन में महावत, अश्वविद्या के जानकार, सेना-संगठन विशारद, युद्धतन्त्र में प्रवीण लोग आदि भारतीयों की सारे विश्व में बड़ी माँग थी। अतः प्राचीनकाल में शासन, शिक्षा कार्य, निगरानी आदि अनेक निमित से भारतीयों का प्रवास सारे विश्व में होता था।

ईसापूर्व छठी शताब्दी में Xerxes की सेना में विदेशों में भारतीय सैनिक तैनात थे। ग्रीक सेनानी सेल्यूकस की सेना में भी भारतीय सैनिक होते थे। हैनिबाल नाम के विदेशी योद्धा की सेना में ईसापूर्व पहली शताब्दी में भारतीय महावतों के नियन्त्रण में हाथियों की एक टुकड़ी

तैनात थी। रोमन सम्राट् 'सीझर' कहलाते थे। Ceesar में पहला अक्षर 'C' फालतू लगा है। वह निकालकर पढ़ा जाए तो वह संस्कृत 'ईश्वर' शब्द है। प्राचीन सम्राटों को ईश्वर कहा जाना वैदिक प्रणाली का प्रमाण है। इतने दूर-दूर के प्रदेशों में भारतीय सैनिक, महावत, हाथी सम्मिलित होने का कारण यह था कि महाभारतीय युद्ध के पश्चात् विश्व-वैदिकसाम्राज्य जब टूटा तब से भारतीय सैनिक सारे विश्व में बिखरे-बिखरे बसर करते रह गए थे। यह इतिहास का एक पूर्णतया नया दृष्टि-कोण है जो हमारे वैदिक-साम्राज्य सिद्धान्त के अन्तर्गत बड़ा तर्कसंगत सिद्ध होता है। रोमन-सेनानी ज्यूलियस सीजर जब ईसापूर्व सन् ५६ के लगभग आंग्लद्वीपों में सेनासहित उतरा तो उसकी सेना में भारतीय सैनिक थे। Circencester Museum में ई० सन् की प्रथम शताब्दी का एक शिलालेख है। इसमें एक भारतीय अश्वसवार का उल्लेख है। लिखा है Dannicus Eqies Ala Indiana TVR Albani यानी "भारतीय अश्वसवार धनेश, अलबेनस् रेजिमेंट, अला इण्डियाना टुकड़ी का सैनिक"। आंग्ल भूमि में जब उस भारतीय सेनानी का देहान्त हुआ उसकी १६ वर्ष की सैनिक नौकरी पूरी हो चुकी थी।

प्राचीन तमिल उल्लेखों में भारतान्तर्गत पाण्ड्य राजा की सेना में बड़े हट्टे-कट्टे और क्रूर दिखने वाले यवनों का तथा लम्बे अंगरखे पहने गूँगे म्लेच्छों का उल्लेख है। तमिल प्रान्त में रोमन लोगों की बस्ती का भी वर्णन है। उस समय रोम की बरणियाँ (बड़े मृत्तिकापात्र), दीप, शीशा और तार आदि भारत में आयात किए जाने का उल्लेख है। ईसापूर्व सन् ३०१ में इप्सस् रणभूमि पर कॅसेंडर और अन्तगुणस् (Antigonas) का जो युद्ध हुआ था उसमें भारतीय हाथियों की टुकड़ी के पराक्रम के कारण कॅसेंडर को विजय प्राप्त होने का वर्णन है।

रोमन शासन के अन्तर्गत आंग्लभूमि में ज्यूलियस कलासिसिएनस नाम के एक रोमन अधिकारी की पत्नी भारतीय थी। उस महिला के पिता का नाम ज्यूलियस् इण्डस्, ऐसा अंकित है। स्वयं महिला का नाम रोमन भाषा में Julia Pacata Indiana लिखा गया है। ग्रीक, रोमन, अरबी और ईरानी लेखकों ने उनके अशुद्ध उच्चारणों के कारण भारतीयों के नाम

इतने टेढ़े-मेढ़े लिख दिए हैं कि उन नामों का मूल शुद्ध संस्कृत स्वरूप आकलन करना कठिन लगता है। उन विदेशियों के लिखे इतिहास में ऐसे कई दोष होने के कारण उनपर पूर्ण विश्वास कदापि नहीं रखना चाहिए।

अनीक

वैदिक क्षत्रपों के अधिकार में बड़ी सेना-छावनियां होती थीं। सेना को संस्कृत में 'अनीक' कहते हैं। विश्व में उन वैदिक क्षत्रिय सेना-छावनियों की स्मृति कायम रखने वाले नगर सैलोनिका (Salonica), व्हेरोनिका (Veronica), स्थलअनीक(Thessalanica) आदि नामों से अभी पहचाने जा सकते हैं। तथापि आजतक के इतिहास संशोधन में ऐसे पुष्ट प्रमाणों की जरा भी दखल ली नहीं गई। इस प्रकार वर्तमान इतिहास-संशोधन पद्धति बड़ी त्रुटिपूर्ण है। उसमें विविध प्रकार के प्रमाणों के ढेर-के-ढेर दुर्लक्षित हुए पड़े हैं।

महाभारतीय युद्ध के समय जो इतनी विशाल सेना इकट्ठी की गई थी उसमें चीन, बर्बर, तातर आदि विश्व के विभिन्न प्रदेशों की सेनाएँ सम्मिलित होने का उल्लेख है। उनमें भी कौरव-पाण्डव अन्तिम वैदिक विश्व सम्राट् थे—यह बात सिद्ध होती है। तभी विश्व के सारे प्रदेशों की सेनाओं को उस युद्ध में सम्मिलित होना पड़ा। उस सेना की विशालता को ध्यान में लेते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय प्रत्येक युवक को सैनिक शिक्षा अनिवार्य थी। केवल महिलाएँ, पुरोहित, साधु, संन्यासी और वयोवृद्ध लोगों को सैनिक सेवा का बन्धन नहीं रहा होगा।

आंग्लभाषा में युद्ध को 'वार' (war) कहते हैं। वह भी संस्कृत शब्द ही है। हिन्दी, मराठी आदि भाषाओं में भी किसी पर शस्त्र से हमला करने को 'वार' करना ही तो कहते हैं। अतः वह एक शब्द भी इस बात का प्रमाण है कि सारे विश्व में प्राचीनकाल में संस्कृत ही बोली जाती थी।

परेड

महाभारत में विशिष्ट सैन्य-रचना को व्यूह कहते थे। विविध व्यूहों में (यानी कतारों में) सेना की रचना करना तभी शक्य है जब सेना यूरोपीय

पद्धति की परेड (parade)या 'ड्रिल',(ड्रिल यानी कवायत)करती हो। इस से यह अनुमान निकलता है कि सेना कवायत की पद्धति महाभारतीय युद्ध के पश्चात् यूरोप में तो बराबर चलती रही किन्तु भारत में लुप्त-गुप्त-सी हो गई थी। अतः पाश्चात्य लोगों ने भारत में आकर जब कवायती फौज का गठन किया तो उनके सैनिक उनकी शिस्त के कारण अच्छे शिस्त-बद्ध और प्रभावी प्रतीत होते थे।

आंग्लभूमि में व्यूह-रचना

जिन व्यूहों का हम महाभारत में बार-बार उल्लेख पढ़ते हैं उनका अस्तित्व या स्वरूप भारत में किसी को ज्ञात है या नहीं हम नहीं जानते। अधिकतर लोगों को वह सुनी-सुनाई बात ही लगती है। किन्तु आंग्लभूमि में महाभारतकालीन कई स्मृतियाँ अभी शेष हैं। उनमें चक्रव्यूह भी है। डोरोथी(यानी द्वारावती)चैपलीन (Dorothea Chaplin)नाम की आंग्ल महिला ने Myth, Matter and Spirit or Keltic and Hindu Links नाम की पुस्तक लिखी है। (प्रकाशक—Rider & Co., Paternster House, Paternoster Row, London, 1935)। उस पुस्तक के पृष्ठ १३ पर उल्लेख है कि ब्रिटेन में "Malvern' नाम की जो पहाड़ियां हैं उन पर रोमन पूर्व तटबन्दी(यानी संरक्षणात्मक किले जैसी ऊँची, मोटी दीवारें) के खण्डहर हैं। प्राचीन सैनिक अवशेषों के बारे में लिखने वालों का निष्कर्ष है कि प्राचीन ब्रिटेन के निवासी अपनी सेनाओं को चक्रव्यूह में रचाया करते थे। उनके संरक्षण के लिए अनेक चक्राकार कोटों के घेरे एक के बाहर दूसरा, ऐसे बना दिए जाते थे। Hertfordshire Beacon नाम के स्थान पर वैसे चक्रव्यूह के अवशेष अभी हैं"।

ऐसे विविध उल्लेखों से हमारा यह निष्कर्ष है कि महाभारतीय युद्ध उस समय का जागतिक महायुद्ध था। भारतान्तर्गत कुरुक्षेत्र अर्जुन और कृष्ण का भले ही केन्द्र रहा हो लेकिन अर्जुन ने जब उस विशाल सेना का निरीक्षण किया, वह रेंडर जैसे दूरदर्शी यन्त्र द्वारा ही सम्भव था। इससे उसने विश्व में स्थान-स्थान पर बने सैनिकों के मोर्चों का निरीक्षण किया। उस समय आंग्लभूमि भी एक महत्त्वपूर्ण सेनाकेन्द्र था। इसी कारण उसमें

उस चक्रव्यूहाकार किलेबन्दी के अवशेष पाए जाते हैं जो महाभारत में उल्लिखित हैं।

आंग्लभाषा में जो सायकल शब्द 'cycle' ऐसा लिखा जाता है उसमें 'y' अक्षर हटाकर उसे chcle ऐसे h अक्षर के साथ लिखा जाए तो तुरन्त वह उसी अर्थ का चक्ल उर्फ चक्र शब्द है यह ध्यान में आएगा। ऐसे अनेक प्रमाणों से जान पड़ता है कि आंग्लभाषा भी अन्य भाषाओं की तरह टूटी-फूटी संस्कृत ही है।

डोरोथी द्वारा चक्रव्यूह के खण्डहरों का उल्लेख इस प्रकार है—

"On the hills of Malvern are the remains of British camps dating back to a pre-Roman period. Writers on the military antiquities of Britain have stated that it was a principle with the early Britons to arrange their forces in concentric circles i. e., ramparts rising one over the other, and the Hertfordshire Beacon among the Malvern Hills is a remarkable type of this mode of defence." (पृष्ठ १३, डोरोथी चैंपलीन का ग्रन्थ)

इस प्रकार हम जो प्राचीन और अर्वाचीन समानता यहाँ बतला रहे हैं उसे केवल नमूना मानकर पाठकों द्वारा इस प्रकार के और प्रमाण स्वयं संकलित करना अच्छा रहेगा। क्योंकि वेदों से ही सारी सभ्यता आरम्भ हुई और तत्पश्चात् उपनिषद्, रामायण, महाभारत, पुराण, श्रीमद्भागवत, योगवसिष्ठ आदि सारे विश्व का सांस्कृतिक साहित्य रहा है। सारे धर्म, पन्थ, परम्परा आदि उन्हीं से निकलकर बिछड़ते-बिछड़ते एक-दूसरे से बहुत दूर निकल गए।

प्राचीन वैदिक सैनिक परिभाषा में सेना के अगले मध्य भाग की टुकड़ियों को उरस (यानि छाति) और दाएँ-बाएँ भागों को कुक्ष कहते थे। उनके पार जो अन्य संरक्षक सेना-टुकड़ियाँ होती थीं उन्हें पक्ष कहा जाता था। सेना के पिछले भाग को पृष्ठ कहा जाता था।

सेना के आगे निरीक्षणार्थ जो टुकड़ियाँ होती थीं उनका 'कोटी' नाम था। युद्ध छिड़ जाने पर जो टुकड़ियाँ कुछ दूर आवश्यकता पड़ने पर हमला करने के लिए शेष रखी जाती थीं उन्हें 'प्रतिग्रह' कहा जाता था।

युद्ध के लिए सेना की विविध रचनाओं को व्यूह कहा जाता था। इनके विविध नाम प्राप्य हैं जैसे मध्यभेदी (जो शत्रु के मध्यभाग पर टूट पड़े), अन्तर्भेदी, मकर, भोज, मण्डल, सर्वतोभद्र, गोमूत्रक, श्येन, दण्ड, अर्धचन्द्र, असंहत, सूचिमुख, वज्र, अभेद्य, चक्र आदि विविध प्रकार के नाम उपलब्ध हैं। यह तभी सम्भव थे जब सारे सैनिक पाश्चात्य पद्धति की कवायत करते हों।

यदि चक्रव्यूह-पद्धति के खण्डहर आंग्लद्वीपों में पाए गए हैं तो हो सकता है कि विश्व के अन्य भागों में अन्य प्रकार की व्यूहरचना भी उपलब्ध हो जो अज्ञानवश पुरातत्त्वविदों की दृष्टि से ओझल रही हो। इस ग्रन्थ में दी गई जानकारी के फलस्वरूप हो सकता है कि डोरोथी चैंपलीन की तरह अन्य संशोधक अन्य स्थानों पर प्राचीन सैनिक व्यूहों के अवशेष पहचान पाएँ।

२६

यज्ञ की प्राचीन जागतिक प्रथा

वैदिक संस्कृति की एक विशिष्टता यह है कि उसमें हर सांस्कृतिक प्रसंग या समारम्भ में होम यानी यज्ञ प्रज्ज्वलित कर उसमें पवित्र समिधा डाली जाती है। अंग्रेजी शब्द 'होम' (Home) यानी 'घर' उसी का साक्ष्य है क्योंकि प्राचीनकाल में घर-घर में होम होता था।

अतः यदि हमें ऐसे प्रमाण मिले कि सारे विश्व के लोगों में यज्ञ की प्रथा थी तो वह भी वैदिक संस्कृति के प्राचीन विश्व-प्रसार का एक बड़ा आधार सिद्ध होगा। आजतक के संशोधकों ने ऐसे विविध प्रमाणों पर कभी ध्यान दिया ही नहीं। इसी कारण इस नई संशोधन-पद्धति का प्रशिक्षण सारे ऐतिहासिक अध्यापक-प्राध्यापकों को देना बड़ा आवश्यक है।

यज्ञ के अनेक उपयोग हैं। वातावरण को शुद्ध बनाना। कारखानों, वाहन, चूल्हों का धुआँ, मानव और पशुओं का श्वासोच्छवास ऐसे में अवरोधक कारणों से वातावरण दूषित होता रहता है।

अमेरिका में Wall Street Journal नाम का एक समाचार-पत्र है। ३ जनवरी, १९८५ के अंक में उसके संवाददाता एरिक लार्सन (Erik Larson) का लिखा समाचार नीचे पढ़ें—

Filthy Humans Pose A Major Challenge to Computer Firms

At last a person sheds atleast 100,000 particles a minute of flaking flesh, saliva, hair sprays, rouge, dried shaving cream, dandruff, droplets, lint, sodium and dead mouths tissue...with slight movenent, the same person sheds 500,000 particles. Slow walking, five million. Exercising 30 million. Each particle is capable of destroying a semi-conductor circuit, the 'chip' that makes computers think...Semi-conductor companies worry about people, the gum they chew, the colds they get, the makeup they wear the sped with which they move. These things all mean trouble for semi-conductors. Particals mean defects, and defects cutright into company profits."

इसका अर्थ है—

मानवीय गन्दगी गणकयन्त्र कारखानों की बड़ी समस्या

व्यक्ति चुप भी बैठा हो तो प्रति मिनिट उसके शरीर से एक लाख गंदे कण गिरते रहते हैं जिनमें सूखा मांस, थूक, केशनुषार सुर्खी, दाढ़ी बनाते समय लगाए साबुन के कण, (सर की) सीकरी, द्रवबिन्दु, वस्त्रों के कण, क्षार कण व मुँह से गिरने वाले निर्जीव कण। थोड़ा भी मानव हिले तो ऐसे पाँच लाख कण उसके शरीर से गिरते हैं। व्यक्ति यदि धीरे चलने लगे तो पचास लक्ष अशुद्ध कण गिरते हैं। और जब वह व्यायाम आदि करता है तो तीन करोड़ दूषित कण उसके शरीर द्वारा फेंके जाते हैं। गणकयन्त्र के चलचक्र में हिसाब 'सोचने' की क्रिया में उन गंदे कणों से रुकावट आ जाती है। इस कारण सेमिकण्डक्टर (Semi-conductor) बनानेवाले कारखानों में आसपास के व्यक्तियों की क्रियाएँ चिन्ता का विषय होती हैं। यदि कोई मुँह में कुछ चबाते रहें, किसी को यदि शैत्य का विकार हो या कोई चेहरे पर रंग या उबटन आदि लगाए हो। इन सब बातों से गणकयन्त्र के कार्य में बाधा पड़ती है। मानव के शरीर से गिरने वाले कणों से गणकयन्त्र बिगड़ जाते हैं और यन्त्र बिगड़ते रहें तो कारखानों का आर्थिक लाभ घट जाता है।

यह तो हुई केवल मानव शरीर से होने वाले प्रदूषण की बात। इसके कई और भी पहलू हैं। जैसे आजकल के नागरी पखानों का मैल जलद्वारा बहा दिया जाता है। इस प्रथा से विश्व के लाखों नगरों में मैले से भरी नदियों जैसी विशाल धाराओं के गन्दे नाले निर्मित किए गए हैं। इतना ही नहीं अपितु उन गन्दगी के नालों को स्थान-स्थान पर नदियों में और सागरों में छोड़ा जाने के कारण पृथ्वी-स्तर के जलाशय गन्दे, रोगकीटाणुमय हो रहे हैं। वही पानी भूमि के अन्दर जाकर कुएँ आदि भू-गर्भस्थित जलाशयों को भी रोगप्रवर्तक बना देता है।

इसके अतिरिक्त घरों में और खेतों में बुवाई से कटाई तक समय-समय पर कीटनाशक रसायनों का जो छिड़काव किया जाता है, उससे श्वसन, सम्पर्क और अनाज द्वारा घातक कीटाणु मानवी शरीर में इकट्ठे होते रहते हैं।

इस प्रकार आधुनिक पाश्चात्य प्रथा की जीवन-प्रणाली में मानवी जीवन विविध रूपों में संकटमय बनता जा रहा है। रोग बढ़ते जा रहे हैं। अत्याधुनिक पाश्चात्य शास्त्रविदों की इस चिन्ता की व्यवस्था वैदिक संस्कृति की अनादि परम्परा में सार्वत्रिक और भरपूर प्रमाण में आरम्भ से ही अन्तर्भूत है।

वैदिक आगत-स्वागत की पद्धति देखें। आनेवाले का स्वागत इत्र लगा-कर और गुलाबजल छिड़ककर किया जाता है। जहाँ भी जनसमुदाय इकट्ठा होता है (जैसे विवाह प्रसंग, मन्दिर, भोजन-समारोह या सभा में) वहां फूल, हार, कलगी, अगरबत्ती, धूप जलाना, इत्र लगाना, चन्दन लगाना, गुलाबजल छिड़कना, आरती के लिए कपूर और घी से प्रदीप्त किया निरांजन जलाना आदि सुगन्ध की भरमार करने का उद्देश्य सामुदायिक प्रदूषण का प्रतिकार करना ही होता है।

इसी प्रदूषण-प्रतिकार उपायों में यज्ञों का बड़ा महत्त्व होता है। घर-घर में अग्निहोत्र रखना या सूर्योदय और सूर्यास्त के समय यज्ञ करना और समय-समय पर विविध व्यक्तिगत, कौटुम्बिक, सामाजिक या लौकिक प्रसंगों पर शास्त्रोक्त होम-हवन करने से वातावरण की शुद्धि होती रहती है। गोबर, गो-दुग्ध से बनाया घी और विशिष्ट वृक्षों की सूखी डालें इत्यादि हवन सामग्री से जो धुआं उठकर घर, खेत, कार्यालय आदि में फैलता है उसे श्वसन करने से मानवी शरीरस्थ रोगजन्तु नष्ट होकर शक्तिदायी और जीवनदायी तत्त्वों को प्रोत्साहन मिलता है। उस धुएँ से घर में बंधे पशु, बाग में और खेतों में उगने वाले पेड़ भी स्वस्थ एवं वर्धिष्णु बनते हैं। धनधान्य की वृद्धि होती है। दीमक जैसे कीड़ों से उनकी रक्षा होती है। यज्ञ की राख खेतों में फैला देने से खेत की भूमि उपजाऊ और दोषरहित होती है। आजकल के सार्वजनिक अस्पतालों में ऐसा पवित्र और शुद्धिकारी धुआं यदि वातावरण में छोड़ा जाए तो हो सकता

है कि रोगी के ठीक होने में समय कम लगे, औषध भी कम लगे और दीर्घकालीन स्वास्थ्य प्राप्त हो।

मानसिक रोगियों के लिए तो यह धुएँ का उपाय अधिक आवश्यक और फलदायी सिद्ध हो सकता है। क्योंकि यदि गन्दे कणों से गणक यन्त्र के 'सोचने' की क्रिया बन्द या विकृत हो जाती है तो मानव का मस्तिष्क भी शरीर या वातावरण में उड़ते रहने वाले गन्दे कणों से ठीक प्रकार सोच न पाता हो तो उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

वैदिक होम-हवन का यह महत्त्व जानकर ही भारत में और विदेशों में अग्निहोत्र की प्रथा का पुनरुज्जीवन करने का यत्न कुछ व्यक्ति और संस्थाओं द्वारा हो रहा है। इसी उद्देश्य से अमेरिका में अग्निहोत्र विश्व-विद्यालय की स्थापना हुई है।

केवल अग्नि प्रदीप्त कर उसमें कोई भी कूड़ा-करकट जलाने से काम नहीं चलेगा। उसमें गोघृत, गोबर और अन्य शास्त्रोक्त समिधा ही पड़नी चाहिए। बड़ी मात्रा में घर-घर में, नगर-नगर में यदि ऐसे यज्ञ होते रहें तो उससे वर्षा भी पर्याप्त और नियमित होती रहती है।

तथापि कौरवों के विनाश के बाद जब अन्तिम वैदिक विश्वसाम्राज्य नष्ट हुआ और गुरुकुल शिक्षण बन्द हुआ तब धीरे-धीरे यज्ञक्रिया विकृत या बन्द होने लगी। मन्त्रोच्चारण की शिक्षा समाप्त हुई। समिधा की बजाय पशुबलि की प्रथा चल पड़ी। अनेक शताब्दियों के पश्चात् महावीर, बुद्ध आदि व्यक्तियों ने पशुयज्ञ की प्रथा बन्द करवाई।

रोम के सम्राट् के दरबार में यज्ञ की प्रथा थी। जिन्होंने अमेरिका द्वारा निर्माण किया गया क्लिओपैट्रा (Cleopetra) सिनेमा देखा होगा उन्हें स्मरण होगा कि तत्कालीन रोम सम्राट् ज्यूलियस सीजर के दरबार में यज्ञ की धधकती अग्नि और उसमें घृत आदि का हवन बतलाया गया है।

यहूदियों में यज्ञ की प्रथा थी। इसका प्रमाण वे दिन में तीन बार जो प्रार्थना करते हैं उसमें मिलता है। वे कहते हैं, "हमारी प्रार्थना को स्वीकार करो'''घर में पुनः अग्नि में आहुति डालने की प्रथा आरम्भ हो। हमारा येरुशालेयम् (यदुईशालयम्) मन्दिर ध्वस्त हो चुका है, वहाँ की यज्ञ-प्रणाली

बन्द हो गई है। हमारी प्रार्थनाएँ स्वीकार करें। उस मन्दिर में पुरोहितों के मार्गदर्शन में किए यज्ञों में पड़ने वाली आहुति, हे भगवन्! तुम स्वीकार करते थे।"

उसी प्रकार अब जो लोग ईसाई बन गए हैं उनमें भी यज्ञ की प्रथा थी। Sermon on the Mount यानी पहाड़ी पर से दिया सन्देश में ईसा कहता है, "मेरे पूर्व से चले आ रहे ग्रन्थों का आदेश, प्रथाएँ आदि शाश्वत हैं। मैं उन्हें नष्ट करने के लिए नहीं अपितु पुनः चलाने के लिए अवतीर्ण हुआ हूँ।"'प्रथम अपने क्रोध को जलाओ तत्पश्चात् अन्य आहुति अर्पण करना उचित होगा"। बाइबिल के Daniel भाग ८-२६ में लिखा है, "The vision about the evening and morning sacrifices which have been explained to you will come true" यानी सायं और प्रातः की होम-हवन की प्रथा का जो दृश्य विवरण तुम्हें दिया गया है वैसे ही (भविष्य में) होगा।

बाइबिल में baptizing by fire का उल्लेख है। उससे भी होम-हवन की प्रथा अरब और यहूदी प्रदेशों में प्रचलित थी—इसका प्रमाण मिलता है।

अग्निहोत्र पुस्तक (संकलन—जयन्त पोतदार, प्रकाशक—श्रीमती नलिनी माधवजी न्यासी, महानुभाव श्री माधवजी संस्थान (न्यास), माधवाश्रम, सीहोर मार्ग, बैरागढ़, भोपाल, मध्यप्रदेश) के पृष्ठ ४० पर का यह उद्धरण पढ़ें, "अग्नि या तेज के प्रतीक रूप में आज भी काबा में घी से प्रज्वलित अखण्ड दीपक जलता है। इससे निकलनेवाली ज्योति इस्लाम मतावलम्बियों के लिए अत्यन्त पाक मानी जाती है। उसके सम्मुख लाल तथा सफेद रंग के फूल श्रद्धास्वरूप चढ़ाए जाते हैं। इस ज्योति को चिराग कहते हैं। इस शब्द का उद्गम संस्कृत के दो शब्दों से है—चिरतन अग्नि=चिर+अग्नि=चिराग। चिराग का अर्थ है शाश्वत निरन्तर, सतत जलने वाली अग्नि। अन्य मस्जिदों तथा दरगाहों जैसे पवित्र स्थानों पर भी इस चिरंतन अग्नि का प्रतीक चिराग जला करता है। किसी भी पीर के उर्स में एक दिन 'चिराग' का दिन रहता है। कुरान में ईश्वर का उल्लेख करते समय ८५० बार ज्ञान शब्द का उल्लेख हुआ है। कुरान में

बकरी ईद के सम्बन्ध में जो बलि की कथा आई है, वह मूलतः यज्ञ में दिए जाने वाली पशुबलि प्रथा थी। तत्पूर्व वह अग्निहोत्र विधि थी"।

कुरआन, यह 'सुरगान' यानी 'देवों ने गाया हुआ' इस अर्थ वाला शब्द है। इसका प्रमाण 'सुरा' शब्द में मिलता है। कुरान के अध्यायों को 'सुरा' कहते हैं। संस्कृत में देवों को 'सुराः' कहते हैं। एक देव को 'सुरः' कहा जाता है। भगवद्गीता का अर्थ भी तो 'सुरगान' ही है। इससे पता चलता है कि इस्लाम के पूर्व अरबस्थान में भगवद्गीता पढ़ी जाती थी। वहाँ वैदिक देवताओं का पूजन होता था। बौद्धकाल में जब बुद्ध को भी देव-अवतार माना गया तो काबा के मन्दिर में अन्य वैदिक देवों में बुद्ध भी सम्मिलित किए गए। उन्हीं को बुद्ध कहते-कहते 'बुत्' उच्चारण हो गया और वह किसी भी मूर्ति पर लागू किया जाने लगा। बुद्ध की जो प्रशस्ति (यानी गुणगान) होती थी उसीसे बुतपरस्ती, यह इस्लामी शब्द बन गया।

वैदिक १६ संस्कारों में अन्तिम अन्त्येष्टि संस्कार है। उसमें एक प्रायश्चित विधि है। उसमें मृत व्यक्ति के आप्तेष्टों को पूछा जाता है कि मृतक ने जीवनभर अग्निहोत्र किया था या नहीं? यदि न किया हो तो मृतक के सम्बन्धियों को प्रायश्चित करना पड़ता है ताकि वे वैसी आनाकानी न करें।

इस प्रकार प्राचीन विश्व में यज्ञ-प्रथा का प्रसार भी वैदिक संस्कृति के विश्वप्रसार का द्योतक है।

अग्निहोत्र के लिए सूर्योदय और सूर्यास्त के समय कुटुम्ब के सारे सदस्यों की उपस्थिति होने से आपस में भाईचारा और स्नेह तो बढ़ते ही हैं अपितु निशाचरीय दुर्व्यवहारों पर रोक लगती है।

कुछ भारतीय द्रष्टाओं ने अभी-अभी फिर ईसाई बने जर्मनी, पोलैण्ड और अमेरिका में अग्निहोत्र की प्रथा प्रारम्भ कर दी है। जर्मनी और अमेरिका में प्रारम्भ किए गए दो अग्निहोत्र के पते अगले पृष्ठ (३८२) पर दिए जा रहे हैं—

(1) Monica Jehle
C/o Kriya Yoga Schule
Institut Für Angewandte
Bioevergetik Friedhof Strasse 4
7707 Engen/Bittelburunn, Tel. (07733) 7654,
West Germany.

(2) Fran Rosen Sawyer
2320 Crestmon Avenue
Charlottesville, Virginia,
United States of America.

३०

अग्निसाक्ष्य शपथ

वैदिक परम्परा में अग्नि का बड़ा महत्त्व है। अग्नि को गृहपति कहा गया है। घर का स्वामी किसी व्यक्ति को समझने के बजाय अग्नि को ही गृहस्वामी मानना बड़ी उदात्त भावना है।

अग्नि से ही भोजन पकता है। अग्नि से ही प्रकाश और ऊष्णता प्राप्त होती है। आकाश में सूर्य होना जितना आवश्यक है उतना ही घर में अग्नि का होना आवश्यक है।

आकाश में जो दिव्य तारकादि गण हैं उन्हीं का पृथ्वी पर का प्रतिनिधि अग्नि होती है। मानव के सारे यन्त्र आदि चलाने के लिए जो ऊर्जा या ऊष्णता अपेक्षित है वह अग्नि द्वारा मिलती है।

अग्नि, यह संस्कृत शब्द यूरोपीय वाक्प्रचार में भी रूढ़ है। जैसे मोटर का यन्त्र ignition से चलने लगता है। वहाँ 'इग्निशन्' यह 'अग्नि' और 'हुताशन' जैसा ही संस्कृत शब्द है। अग्नि शब्द का अनेक भाषाओं में प्रयोग होना वैदिक संस्कृति के प्राचीन विश्वप्रसार का एक प्रमाण है।

वैदिक संस्कृति में अग्नि की प्रमुखता 'अग्निम् ईडे पुरोहितम्' वचन से स्पष्ट है। इसका अर्थ है कि अग्नि को पुजा में अग्रिम स्थान दिया गया है। वह इसलिए कि पृथ्वी के सारे व्यवहार चलाने के लिए ऊष्णता और ऊर्जा की आवश्यकता होती है। हृदय की धक्धक्, पाचन-क्रिया आदि सब अग्नि द्वारा ही चलती है। मानव शरीरस्थ अग्नि का अस्तित्व शरीर के ९८.२ अंश तापमान के रूप में जाना जा सकता है।

अग्नि की दूसरी एक भूमिका होती है दूषित वस्तु को जलाकर दोषों को भस्मरूप में समाप्त कर देना। सारी अवांछित वस्तुओं को जलाकर उनका अस्तित्व नष्ट कर देना भी अग्नि का एक कार्य है। जिसे जीवन एक भार हो गया हो या लज्जा के कारण जो जीवन समाप्त करना चाहता है

वह कई बार अग्नि द्वारा ही स्वजीवन समाप्त कर पंचत्व में विलीन हो जाता है।

अग्नि के ऐसे गुणों के कारण ही वैदिक संस्कृति में हर पूजा-पाठ, जयन्ती, उत्सव, व्रत, संकल्प, समारम्भ, आध्यात्मिक या धार्मिक विधि आदि पर होम-हवन होता है। किसी को प्रायश्चित देना हो या किसी का मार्गदर्शन कराना हो या किसी से शपथ लिवानी हो तो जन्म से मृत्यु तक के सारे प्रसंगों पर अग्नि को साक्षी रखा जाता है।

वैदिक प्रथा के अनुसार मृत शरीर दुर्गन्ध अवस्था में पृथ्वी में गाड़कर स्थान घेरकर सड़ते रहने की बजाय चिता में जलाकर उसे पंचत्व में विलीन करना ही उचित समझा जाता है।

शपथ की साक्षी 'अग्नि'

वैदिक प्रथा में स्वामीनिष्ठा, ध्येय-निष्ठा, कर्त्तव्यनिष्ठा आदि को बड़ा महत्त्व दिया गया है। ऐसी निष्ठा की शपथ में अग्नि साक्षी होती है। उदाहरणार्थ पति-पत्नी जब धर्म-अर्थ-काम में हम वैवाहिक जीवन की मर्यादाओं का उल्लंघन नहीं करेंगे, ऐसी शपथ लेते हैं, तो वे होम के किनारे-किनारे सप्तपदी करते हैं। उसका गर्भित अर्थ यह होता है कि जिस अग्नि की साक्ष्य में यह शपथ ली गई है उसका यदि भंग हुआ तो दोषी व्यक्ति उसी अग्नि के माध्यम से अपना जीवन समाप्त कर लेगा।

इसी कारण रामायण में सीता जी ने अग्नि प्रवेश करके निजी निर्दोषत्व सिद्ध किया था।

इस्लामी आक्रमणों के इतिहास में हिन्दू स्त्रियाँ इस्लामी बलात्कार से बचने के लिए अपने-आपको अग्नि में झोंक देती थीं।

अग्नि-परीक्षा का नियम पुरुषों पर भी लागू था। वीर, योद्धा जब अपने क्षात्रधर्म के आदर्शों से हट जाते थे तो वे अपने-आप चिता जलाकर उसमें कूद पड़ते थे। दूसरों के द्वारा आरोप लगाकर दोषी ठहराने की वे प्रतीक्षा नहीं करते थे। वैदिक संस्कृति में प्रत्येक व्यक्ति की कर्त्तव्य बुद्धि इतनी प्रखर की जाती थी कि वह अपने-आपको दोषी घोषित कर अग्नि में कूदकर जीवन का अन्त कर लेता था। महाभारतीय युद्ध में जब सूर्यास्त

तक अर्जुन जयद्रथ का वध नहीं कर सका तो चिता सुलगाकर वह उसमें कूदने की तैयारी कर ही रहा था तो भगवान् कृष्ण ने उसे कहा कि 'अभी सूर्यास्त नहीं हुआ है जिससे जयद्रथ का वध करने की अर्जुन की प्रतिज्ञा पूर्ण हुई।

वस्तुतः समाज की व्यवस्था ही ऐसी होती थी कि कोई भी दोषी व्यक्ति समाज में जीवित रहना नहीं चाहता था। वह स्वयं अपने को दण्ड दे डालता था। क्षात्रवीर यदि नेतृत्व, देशभक्ति, युद्ध आदि किसी कसौटी में घटिया सिद्ध होते तो अपने-आप चिता में प्रवेश कर जाते। हिन्दू इतिहास में ऐसे कई उदाहरण हैं। ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में हिन्दू राजा जयपाल से जब मुहम्मद गजनवी ने अफगानिस्थान प्रान्त जीत लिया तब निजी राजमहल के सामने चिता जलाकर जयपाल उसमें कूद गया। वैदिक परम्परा में पला वह राजा देश सुरक्षा के निजी कर्त्तव्य से च्युत हो जाने के कारण उसने अपने आपको देहदण्ड के योग्य समझा। अपने आपको बचाने के लिए जयपाल ने बहाने नहीं ढूँढे। जब जयपाल देशरक्षण की निजी जिम्मेदारी नहीं निभा सका और उसके भयानक परिणाम उसने देखे—सैकड़ों हिन्दू स्त्रियों पर बलात्कार हुआ, हजारों लोगों को छल-बल से मुसलमान बनाया गया, सारा प्रदेश लूटा गया, अत्याचारों का आतंक मचा, हिन्दू मन्दिरों की दरगाहें और मस्जिदे बनाई गईं।

जयपाल स्वयं आरोपी, अभियोक्ता और न्यायाधीश बना

जयपाल के लिए यह एक ऐसा अभियोग था जिसमें कत्ल किए गए लोगों का रक्त और आँसू बहानेवाली स्त्रियों के आक्रोश चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे कि "जयपाल का हिन्दू, वैदिक, आर्य, सनातन, क्षात्र शासन ढीला पड़ जाने के कारण हमारी यह दुर्दशा हो रही है।" भारतमाता भी व्यथित थीं कि उसके शरीर में अफगानिस्थान का प्रान्त-का-प्रान्त खरोंच-कर छीना गया था। स्वाभिमानी जयपाल के लिए ये आरोप क्या कम थे। एक क्षात्र-शासक से अपेक्षित वीरता, दूरदर्शिता, सेनाशक्ति और संघटन तथा चतुराई आदि में वह घटिया साबित हुआ था। जयपाल की नींद उड़ गई। भला वह चैन की नींद कैसे सो सकता था जब उसे उसके मृत,

घायल या बन्दी बनाए गए प्रजाजनों की आहें रातभर चारों ओर से सुनाई दे रही थीं। अतः जयपाल ने अपने-आप पर आरोप लगाया। उसी के मन से आवाज उठी "धिक्कार है ऐसे जीवन का। मैं अब जीवित रहने का या राजा कहलाने का अधिकारी नहीं हूँ। ऐसे व्यक्ति को देह-दण्ड ही दिया जाना चाहिए"। न्यायाधीश की भूमिका से जयपाल ने अपने-आपको अपराधी घोषित किया और अपने आप चिता जलाकर वह उसमें कूद पड़ा। धन्य हो वह परम्परा जिसमें ऐसे वीर और न्यायी व्यक्ति अपने-आपको दोषी ठहराकर देहदण्ड भी ले लेते हैं। समय आने पर जयपाल ने अपने आपको उस अग्नि को समर्पित कर दिया जिसके सम्मुख उसने कई बार प्रतिज्ञा की थी कि उच्चतम क्षात्र परम्परा से वह कभी भी स्खलित नहीं होगा। अतः अपने-आप को देह-दण्ड देने में उसने जरा भी विलम्ब नहीं किया। ऐसी निष्ठा एवं आचार आगामी पीढ़ियों के लिए एक उज्ज्वल आदर्श बन जाते हैं।

परन्तु क्या हम उन आदर्शों का अनुकरण कर रहे हैं? क्या वे आदर्श वर्तमान इतिहास-पुस्तकों में उद्धृत भी हैं? सन् १९४७ में भारत आंग्ल-शासन से स्वतन्त्र होने के पश्चात् पाकिस्तान ने कश्मीर का एक बड़ा भाग छीन लिया। तत्पश्चात् कच्छ का कुछ भाग हड़प कर लिया। उधर चीन ने अक्साईचिन विभाग अपने राज्य में मिला लिया। किन्तु क्या उस समय के भारत के प्रधानमन्त्री, संरक्षण मन्त्री, सेनापति या अन्य किसी अधिकारी ने आग में अपने-आपको समर्पित किया? नहीं! फिर भी वे अपने आपको बड़ा मानते रहे और जनता भी उनको सम्मान देती रही। इतना अन्तर पड़ गया है प्राचीन वैदिक आचार में और वर्तमान आचार में!

ध्वनिक्षेपक यन्त्र के साक्ष्य की वर्तमान शपथ

वर्तमान समय में उच्चाधिकार पद की जो शपथ ली जाती है वह एक औपचारिक नाटक या जनता की आँखों में धूल झोंकने का एक प्रकार बनकर ही रह गया है। राष्ट्रपति मुख्य न्यायाधीश को, मुख्य न्यायाधीश राष्ट्रपति को, राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री तथा अन्य मन्त्रियों को जो शपथ पाठ

कराते हैं वह अर्थशून्य एवं दिखावामात्र होता है। एक तो प्रज्ज्वलित अग्नि के सम्मुख शपथ लेने के बजाय एक ठण्डे ध्वनिक्षेपक यन्त्र (mike) के साक्ष्य में वर्तमान शपथ-विधि होती है। उसमें न तो शपथ दिलाने वाला और न शपथ लेने वाला उस शपथ में किसी प्रकार का कोई गम्भीर अर्थ देखता है। शपथ विरोधी आचरण हुआ तो दण्ड क्या मिलेगा, इसका उच्चारण शपथ में होना आवश्यक है। पदाधिकारी अपने आपको दोषी घोषित कर, अपने-आप पर दण्ड लागू कर उसे भुगतेगा ऐसी वैदिक परम्परा थी। जैसे अर्जुन ने कहा था कि सूर्यास्त तक जयद्रथ को नहीं मारा तो 'मैं' चिता में प्रवेशकर भस्म हो जाऊँगा। सीता जी ने भी कहा था कि "राम के प्रति मेरी निष्ठा विचलित हुई हो तो अग्नि मुझे भस्मसात कर दे।" जयपाल ने तो प्रत्यक्ष अग्नि में आत्मसमर्पण कर दिया। अतः प्रत्येक शपथ में जो देहदण्ड विधान का अन्तर्भाव वैदिक परम्परा में होता था, उसका आजकल की शपथ में पूर्ण अभाव होता है। दण्ड के उल्लेख बिना ली गई शपथ निरर्थक होती है। उसी प्रकार किसी त्रयस्थ व्यक्ति ने आरोप करना, पदाधिकारी द्वारा उसका इन्कार करना, न्यायाधीश ने यह कहकर आरोपी को मुक्त कर देना कि आरोप साबित करने वाला कोई ठोस प्रमाण न होने के कारण आरोपी निर्दोष है—ऐसे निरर्थक दिखलावे के फलस्वरूप सारी जनता के आचरण का स्तर बड़ा घटिया-सा हुआ पड़ा है।

पुरोहित इतिहास का प्रवचन करता था

वैदिक शासन में यह नियम था कि प्रतिदिन राजपुरोहित राजा को उसके पूर्वजों का इतिहास सुनाए। राजा स्वयं पढ़े ऐसा नहीं कहा है। क्योंकि राजा यदि स्वयं पढ़े तो वह ऐतिहासिक घटनाओं का मनमाना अर्थ लगाकर निष्क्रिय, उदासीन और दुर्बल बन बैठेगा। जब एक तीसरा व्यक्ति इतिहास पढ़ेगा तो उसमें सही, निर्बन्ध अर्थ कहने की शक्यता अधिक होती है। जैसे सन् १९४८ में जब पाकिस्तान ने भारत पर हमला करके कश्मीर का एक-तिहाई हिस्सा छीन लिया, उस समय भारत के शासक जवाहरलाल नेहरू आदि के सम्मुख प्रतिदिन यदि राजपुरोहित उन्हें

जयपाल का आदर्श सुनाता कि अफगानिस्थान छीना जाने पर जयपाल ने राजगद्दी पर से ठेठ चिता में छलांग लगा दी तो क्या जवाहरलाल आदि चैन से अपनी शासन-गद्दी पर बैठ सकते थे ? इस प्रकार प्राचीन आदर्शों से सबक लेकर यदि वर्तमान शासन-सुधार के लिए हम कोई कदम न उठाएँ तो इतिहास पढ़ने का और लिखने का लाभ ही क्या ? इतिहास इस तरह से लिखा और पढ़ा जाना चाहिए जिससे प्राचीन गलतियों से बचा जा सके और अतीत के गौरव का अनुकरण किया जा सके ।